P.L

नागरी प्रचारिणी पत्रिका
(मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक) १९८६

S.H.KELLOGG

RAMAYANA

राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर परिवार अनुसूची में
अपने परिवार का विवरण अवश्य दर्ज करायें।



आप अपने यहां आये प्रगणक

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक]

वर्ष ९१] संवत् २०४३ वि० [अंक १-४



वार्षिक १०.००] [इस अंक का १०-००

पत्रिका के उद्देश्य

१–नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२–हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३–भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४–प्राचीन अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१–प्रति वर्ष सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२–पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३–पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४–लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५–पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आनी आवश्यक हैं। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है, उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक—श्रीनारायण, नागरी मुद्रण, वाराणसी।

एल० एन० वर्मा
५२, पुरबियाटोला (पुरवा)
इटावा

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक)

उपहार में प्राप्त
नागरीप्रचारिणी सभा से
५.९.८९ को।

वर्ष ९१

संवत् २०४३ वि०

अंक १—४









वार्षिक मूल्य १०.००

इस अंक का १०.००

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक)

वर्ष ९१] [सं० २०४३ वि०] [अंक १–४

अनुक्रम

समकालीन संदर्भ





नागरीप्रचारिणी पत्रिका

* मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक *

वर्ष ९१] संवत् २०४३ वि० [अंक-१-४

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

(आचार्य रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि में)

डा० राममूर्ति त्रिपाठी

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव और प्रोत्साहन से हिंदी-काव्य सर्जन में प्रवृत्त होनेवाले प्रमुख रूप से तीन थे—बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय तथा पं० लोचनप्रसाद पांडेय। वैसे गुप्त जी में कवित्व के पैतृक संस्कार थे। पिता ने पुत्र का रुख देखकर अपनी तरह सखी-भाव में उन्हें दीक्षित कराने की जगह रामधारा के सख्यभाव में दीक्षित कराया। पैसे का प्रलोभन देकर कुछ पद्य भी कंठस्थ कराए पर दबाव में वह सब कहाँ होता है जो स्वभाव से संभव है। उनके स्वभाव में जो था—वह मुंशी अजमेरी की मैत्री वृत्ति से व्यक्त हुआ। मुंशी अजमेरी बिगड़ते हुए मैथिलीशरण के प्रति चिंतित बड़े भाई रामकिशोर जी के प्रभाववश गुप्तजी से संपृक्त हुए—और इस संपर्क का सुफल यह हुआ कि उनका साहित्यिक स्वभाव जग गया। मुंशी अजमेरी कल्याणमित्र सिद्ध हुए। गुप्तजी ब्रजभाषा में अच्छी रचनाएँ करने लगे। संस्कृत छंदों में अन्योक्तियाँ लिखीं और वे अन्योक्तियाँ कलकत्ते से 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित भी होती रहीं। १८९८ से १९०३ तक यह क्रम निरंतर चलता रहा। इस प्रवाह की तह में समस्यापूर्ति वाली मध्यकालीन वृत्ति सक्रिय थी—जिसके लिये 'रसिकेश' नाम उपयुक्त था। यही १९०३-४ का समय था—जब माता पिता की छाया उठ गई—आर्थिक संकट गहरा उठा। परिस्थितियों ने उन्हें गंभीर बना दिया—नैतिक संस्कार उभर उठे—साहित्य की साधना मंद नहीं बनने पाई। यही समय था जब 'सरस्वती' पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में आई। 'सरस्वती' उस समय का आश्रम थी—जिसके माध्यम से बोलचाल की राष्ट्रभाषा को गद्य और पद्य उभयत्र प्रतिष्ठित करने का अदम्य संकल्प और अटूट आस्था थी। गद्य के साथ पद्य में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा भारतेंदु युग में ही हो गई थी—पर उसमें व्याकरणिक व्यवस्था और सफाई नहीं थी। कहीं नियमों का उलंघन था तो कहीं अवधी और ब्रजी के क्रमगत

शब्दों का मिश्रण। द्विवेदी जी ने सबसे पहला काम 'सरस्वती' के माध्यम से यह किया। 'सरस्वती' की प्रतिष्ठा बढ़ गई। गुप्त जी के मन में 'सरस्वती' से जुड़ने की अदम्य आकांक्षा जगी और 'महावीर' की शरण गए, जहाँ उन्हें प्रोत्साहन मिला और मार्ग निर्देश भी।

शुक्ल जी के अनुसार द्विवेदी जी का जोर इस बात पर बराबर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए। बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिंदुस्तानी का नहीं रहता था—गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा गद्यवत् (Prosaic) हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—'गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' भाषा से विचार अलग रह नहीं सकता। इसीलिये उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) हुईं। एक बात और द्विवेदी जी पर मराठी का प्रभाव बहुत था—जिसमें कविता संस्कृत वृत्तों में होती है। पद विन्यास भी गद्य का सा ही रहता है। शुक्ल जी की धारणा यह भी है कि मराठी का प्रभाव तो था ही—पीछे जान पड़ता है कि उनके मन में वर्ड्स-वर्थ का वह पुराना सिद्धांत भी जम गया था कि गद्य और पद्य का पद विन्यास एक ही तरह का होना चाहिए—यद्यपि द्विवेदी जी ने उक्त सिद्धांत के अनुकूल सर्वत्र रचना नहीं की है। पर उनकी उल्लेख वृत्ति इतिवृत्तात्मक पद्धति की ही रही। उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। यह वह समय था जब प्रत्येक निष्ठावान् व्यक्ति राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत था और अपनी समग्र चेतना को राष्ट्रहित से कैसे जोड़ा जाय—यह रास्ता बनाता था। द्विवेदी की 'सरस्वती' इसी माने में आश्रम थी 'साबरमती' की तरह। द्विवेदी जी उसके माध्यम से राष्ट्र के न केवल ज्ञानात्मक क्षितिज का विस्तार करना चाहते थे प्रत्युत परिष्कार भी चाहते थे। उनका यही पक्ष 'प्रभाव' बनकर गुप्त जी में उभरा। गुप्त जी की रचनाएँ द्विवेदी जी से व्यवस्थित और परिष्कृत होकर 'सरस्वती' में छपने लगीं। 'सरस्वती' के मुख पृष्ठ पर जो चित्र छपते थे—गुप्त जी की पंक्तियाँ उस आशय से आपूरित होकर वहीं दी जाती थीं। यह क्या कम प्रोत्साहन था। शुक्ल जी के दोनों शब्द 'प्रभाव' और 'प्रोत्साहन' कितने सटीक हैं ?

दूसरा बिंदु है—गुप्त जी का काव्य विकास। यद्यपि अन्य समीक्षकों ने अन्य आधारों पर गुप्त जी के काव्य विकास के सोपानों की चर्चा की है—मसलन डा० कमलाकांत पाठक ने—

(क) प्रथम विकास स्थिति १९०१ से १९१० अभ्यासकाल—स्फुटपद रचना
(ख) द्वितीय ,, ,, १९१० से १९२५ निर्माणकाल—वर्णनात्मक

तथा अनेक रूपात्मक काव्य।

(ग) तृतीय विकास स्थिति १९२५ से १९३७ उत्कर्षकाल–महाकाव्य, चरित प्रधान वस्तु व्यंजकशिल्प

(घ) चतुर्थ „ „ १९३७ से १९४७ परिपक्वकाल–जीवनदर्शन की प्रौढ़ स्वच्छंद प्रबंधकला

(ङ) पंचम „ „ १९४७ से १९५७ प्रौढ़ोत्तर काल–रचनाकार्य में लाघव–स्वातंत्र्योत्तर विषय और प्रवृत्तियाँ, दार्शनिक तटस्थता।

इन सोपानों पर कवि की युगचेतना, सांस्कृतिक भावना, जीवनदर्शन तथा काव्य कला—सभी क्रमशः उत्कर्षोन्मुख रहे। आचार्य शुक्ल तक इनका समग्र विकास नहीं हुआ था, फलतः उन्होंने केवल भाषा की दृष्टि से विकास की तीन अवस्थाओं या रूपों पर ही विचार किया है। प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है जिसमें खड़ी बोली के पद्यों की मसृण बंध रचना हमारे सामने आती है। 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ तथा 'भारतभारती' इस अवस्था की रचना के उदाहरण हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादक न रहने पर गुप्त जी का भी इससे संबंध विच्छेद हो गया। इसका कारण परवर्ती संपादक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की काव्य संबंधी अवधारणा भी थी। उन्होंने द्विवेदी जी द्वारा व्यवस्थित शासन पद्धति की मूल आस्था में सबसे पहले परिवर्तन करना आवश्यक समझा और दूसरे यह कि अब नए लेखकों को समादृत करने का संकल्प भी लिया। तीसरे, 'सरस्वती' संपादन को हाथ में लेते ही प्रतिमाह संपादकीय में 'कविता' के संबंध में वह कुछ ऐसा लिखते थे जो नए युग की ध्वनि थी। कुछ वाक्यांश इस प्रकार हैं—"यदि कविता स्वभाविक आनंद का बहिष्कार करेगी तो वह आनंदप्रद भी न रहेगी।" × × 'साहित्य की इस अवनति का एक प्रधान कारण यह है कि मनुष्यों की आशा और आकांक्षा इहलोक में ही सीमाबद्ध हो गई। जब तक मनुष्य भविष्य की अज्ञेय यवनिका का भेद करने की चेष्टा नहीं करेगा–तब तक काव्य और साहित्य का द्वार अवरुद्ध हो जाता है······इस भावना से साहित्य की उन्नति नहीं, अवनति होगी।' नौ वर्ष पूर्व १९७२ में इसी पत्रिका का संपादकीय लिखते हुए पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किसी आर्थर डैवीयर का हवाला देते हुए लिखा है कि कवि को देश और काल की अवस्था का पूरा ज्ञान होना चाहिए। वह मनोविज्ञान का वेत्ता हो और मनुष्य के चरित्र का उसने अच्छी तरह अध्ययन किया हो। सबसे अच्छी कविता वह है जिसमें जीवन की सार्थकता के उपाय और उसके उद्देश्य मनोहारिणी भाषा में बतलाए जाते हैं—मनुष्य को अच्छी शिक्षा दी जाती है, उसे उन्नति का भाव दिखाया जाता है और उसके हृदय को उदार और सहानुभूति पूर्ण बनाने का प्रयत्न

किया जाता है। अच्छी कविता में उन्हीं विषयों का वर्णन होता है जो मनुष्य के जीवन से घनिष्ठ संबंध रखते हैं और जो उसकी आत्मा और आध्यात्मिकता पर गहरा असर डाल सकते हैं। × × बुद्धिमान लोग उसी कविता की कदर करते हैं जो उच्चकोटि को प्रकट करती है, हृदय और बुद्धि के ऊपर अच्छा प्रभाव डालती हो और समयोपयोगी आवश्यक उपदेशों को ऐसे ढंग से देती हो—जिससे मनुष्य जल्द उन्हें ग्रहण कर सके। सन् १९२१ की संधि रेखा पर हिंदी की 'सरस्वती' का रंग बदल रहा था। बख्शी जी ने कुछ ऐसी बातें कहीं जिससे द्विवेदी जी और उनके अंतेवासी गुप्तजी दोनों की अवज्ञा थी। फलतः गुप्त जी का संबंध 'सरस्वती' से विच्छिन्न हो गया। अब वह 'माधुरी' 'प्रताप' और 'प्रभा' में प्रकाशित होने लगे। इसका एक सुखद परिणाम भी हुआ। अब गुप्त जी 'महाराज ! प्रणाम', 'आप का अनुचर' वाली भूमि से मुक्त हो चुके थे। अब तक गुप्त जी की १६ कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। 'रग में भंग,' 'जयद्रथ वध,' 'भारत भारती,' 'पद्य प्रबंध,' 'शकुंतला,' 'तिलोत्तमा' जैसी कृतियाँ १९१५ तक आ चुकी थीं। १९१५ के आस पास गुप्त जी की मानसिकता नई करवट ले रही थी। एक तो प्रथम विश्व युद्ध का वर्ष और दूसरे गांधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश हो चुका था। 'मधुप' नाम से बँगला की 'मेघनाद वध', 'विरहिणी व्रजांगना' आदि कोमलकांत पदावली वाली वंगभाषा के सरस साहित्य के अनुवाद अतुकांत छंदों में करने लग गए थे। २० से पहले 'वैतालिक', 'साकेत', 'शकुंतला','पत्रावली','वनवैभव,' 'वकसंहार,' 'विकट भट' आदि मौलिक कृतियाँ तो थी हीं—'वीरांगना','मेघनाद वध'—जैसी अनूदित कृतियाँ भी आने लगीं। 'मंगलघट' और 'झंकार' तक '२० के लगभग आ चुकी थीं। द्विवेदी युग के इस परिपाक परिच्छेद में गुप्त जी के काव्य का रूप पठनीय और मूल्यवान् हो चला था।

शुक्ल जी ने भाषा की जिन तीन अवस्थाओं की ओर संकेत किया है—उन सबका अंकुरण इस काल में हो चुका था। पैंतीस वर्ष तक आदमी को जो होना होता है वह हो भी जाता है। 'भारत-भारती'(१९१२) से 'वैतालिक'(१९१९) के बीच की काव्य भाषा की अवस्था बंग साहित्य के संपर्क से अपेक्षाकृत सरस और कोमल तो हो उठी, परंतु उसमें भी यत्र तत्र ऊबड़ खाबड़ और अप्रयुक्त संस्कृत के शब्द खटकते हैं। भाषा की तीसरी अवस्था वह है जहाँ गुप्त जी का झुकाव 'छायावाद' कही जाने वाली कविता की ओर होता है फलतः वह प्रगति मूलक और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर उन्मुख होते हैं। इस झुकाव का आभास 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी होता है।

गुप्त जी में सरस्वती से विच्छेद होने के बाद स्वयं के मानस चक्षु सक्रिय थे—अब उन्हें किसी अतिरिक्त वरदहस्त की अपेक्षा नहीं थी। यद्यपि १९२० के बाद

काव्य ने एक नया मोड़ लिया था—फिर भी गुप्त जी अपने काव्य के ही अपराजेय शैल शृंग की ओर बढ़ते रहे। माधुरी, प्रभा और प्रताप के माध्यम से २१ से ३० की इस अवधि में उसी लीक पर खंडकाव्य, जातीयता प्रेरक गीत, कथा प्रसंग के प्रबंध काव्य, भावात्मक गीतकाव्य, ऐतिहासिक कथाकाव्य लिखकर रामायण, भागवत और महाभारत तथा पौराणिक युग की गाथाओं में संभावित सर्जनात्मकता को मूर्त करते रहे। पत्रावली, पंचवटी, अनघ, हिंदू, त्रिपथगा, गुरुकुल, विकटभट, सिद्धराज, यशोधरा, झंकार तथा उमर खय्याम की रुबाइयाँ—आदि अनुवाद भी घटित होते रहे। कुल मिलाकर उनकी यही वृत्ति भिन्न भिन्न रचनाओं में मूर्त होती रहीं।

आचार्य शुक्ल की धारणा है कि गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है—कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्यसरणियों को ग्रहण करते चलने की प्रवृत्ति। सत्याग्रह, अहिंसा, मानवतावाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और संमान—सबकी झलक इनमें मिलती है। उनके हृदय का स्वाभाविक लगाव जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही सौंदर्य और महत्व की ओर था—रहस्यवादी भावनाओं की प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति उनके वस्तुनिष्ठ स्वभाव को सहज परिणति नहीं थी। वैसी रचनाएँ समय का प्रभाव कही जा सकती हैं।

'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर' और 'अनघ'—आदि प्रबंध काव्यों पर साहित्यिक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि इनके माध्यम से गुप्त जी ने राग प्रेरित मानवीय उच्चादर्शों, समयोचित रूढ़िविरोधी विचारों, राजनीतिक अड़ंगेबाजियों के बीच गांधी के हृदय परिवर्तनवादी स्वभावप्रेरित आचरण को महनीय व्यंजना हुई है। गुप्तजी सामंजस्यवादी भारतीय अस्मिता के राष्ट्रकवि हैं। उनमें न कोई अतिवाद है और न ही प्रतिक्रियात्मक उद्‌गार। शुक्ल की दृष्टि में वे उच्च आदर्शों से प्रेरित होकर लिखने वाले सीधे सच्चे रचनाकार हैं।



वाचिक परंपरा के कवि मैथिलीशरण गुप्त

डा० राजमल बोरा

मैथिलीशरण गुप्त का लेखन प्रायः योजनाबद्ध रहा है। फुटकल रूप में भी उनका लेखन चलता रहा है। उनकी बहुत सी कविता, जो फुटकल रूप में कहीं न कहीं छपती रहीं, वे योज नाबद्ध लेखन में स्थान नहीं पा सकीं या पुस्तक रूप में उन्हें आकार नहीं दिया जा सका। ऐसी कविताओं का संकलन उनकी मृत्यु के बाद लगभग पंद्रह सोलह वर्ष बाद में छपा है। संकलन का नाम 'स्वस्ति और संकेत' है। इसका प्रकाशन सन् १९७९ ई० में हुआ है। इस संकलन की भूमिका स्वयं अज्ञेय ने लिखी है। इस भूमिका में अज्ञेयने मैथिलीशरण गुप्त को वाचिक परंपरा का अंतिम बड़ा कवि माना है। अज्ञेय लिखते हैं—

'गुप्तजी वाचिक परंपरा के अंतिम बडे कवि थे'—वाचिक परंपरा उन्हीं पर नहीं समाप्त हो गई, आज भी वह जीवित है और इसे हम देशी परंपरा का सौभाग्य भी मान सकते हैं कि उसकी प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष अनुभव हमारे लिये संभव है जब कि 'आधुनिक संसार उन्हें समझने के लिये दूसरी संस्कृतियों की लोक परंपराओं तक जाने को बाध्य है। किंतु देश में वाचिक परंपरा यद्यपि आज भी लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों में विद्यमान है, तथापि शिष्ट साहित्य में उसका स्थान पूरी तरह पठ्य अथवा छपे हुए साहित्य ने ले लिया है। आज के काव्य को गुप्त जी तक के काव्य से जो गुण या विशेषता सबसे अधिक गहरे स्तर पर अप्रतिकार्य रूप से अलग करती है, वह यही है। हम एक सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं, जिसके पार से लौटना नहीं होता[1]।

अज्ञेय ने इस तरह से काव्य के वाचिक से मुद्रित तक के संक्रमण का विवेचन सूत्र रूप में बताया है। इस मूल अंतर को हम समझ जाते हैं तो गुप्त जी के काव्य की ओर देखने की दृष्टि ही बदल जाती है। इस तथ्य की विशेषताओं को उजागर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

—२—

वाचिक परंपरा के अपने गुण हैं। काव्य वाचन में या काव्य को पढ़कर सुनाने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे संप्रेषण में सहायता मिलती है। पढ़कर

---

१. स्वस्ति और संकेत, मैथिलीशरण गुप्त, साकेत प्रकाशन, चिरगाँव, झाँसी, प्रथम संस्करण १९७९ ई०, भूमिका, पृ० 'घ'।

सुनाने के स्थान पर यह कहना ठीक होगा कि कंठ में वसी कविता सुनाना। कविता का वाचन तो वार वार होता है, इतना कि वह कंठ में बस जाती है। कागज सामने रखकर या पुस्तक खोलकर कविता का वाचन करना अभ्यास के लिये भले ही हो किंतु सुनाते समय उसे कंठ से सस्वर पाठ कर सुनाना ही उचित होगा। इस परंपरा में मैथिलीशरण कविता लिखते रहे हैं। उनकी कविता की लोकप्रियता का सबसे वड़ा कारण यह भी रहा है कि उनकी कविताओं को याद किया गया है। और तो और स्वयं अज्ञेय ने गुप्त जी की कविताएँ याद की थीं। अपने संस्मरण में, अज्ञेय ने गुप्त जी के संबंध में लिखा है—

'मैं तो जानता हूँ कि वचपन से ही, जब से हिंदी बोलना और फिर पढ़ना सीखा, उन्हीं की (गुप्त जी की) कविता पर पलकर किशोर हुआ—

'निज मातृभूमि स्वदेश के गोदी भरे हम लाल हैं।'

अथवा—

'तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं।'

अथवा—

'नीलांवर परिधान हरित पट पर सुंदर है।'—आदि से हिंदी काव्य से परिचित हुआ, फिर 'जयद्रथ वध' अथवा 'पंचवटी' के माध्यम से भारतीय वाङ्मय और परंपरा के आकर ग्रंथों से परिचय पाया। इतना सब तो पुस्तकें पढ़ने के अभ्यास से पहले ही हो गया था क्योंकि एक तो मेरी शिक्षा दीक्षा भी पुराने ढंग से आरंभ हुई थी जिसमें पटिया और लेखनी का काम तो होता लेकिन पुस्तकों का विशेष प्रयोजन नहीं होता था—पुस्तक का काम स्मृति ही करती थी[1]।'

यों अज्ञेय ने ही गुप्त जी की कविताएँ याद की हो, ऐसी वात नहीं। बहुतों ने गुप्त जी की कविताएँ याद की हैं। वह वाचिक परंपरा का युग था। विद्या कंठ में होनी चाहिए—ग्रंथ में नहीं। और उसमें कविता हो तो उसे याद करना आवश्यक समझा जाता था।

—३—

हम अज्ञेय की बात छोड़ें और स्वयं मैथिलीशरण पर इस संदर्भ में विचार करें। उनकी शिक्षा दीक्षा के संबंध में सोचें। ज्ञात होगा कि उनकी पूरी शिक्षा दीक्षा चिरगाँव—गाँव की वाचिक परंपरा के अनुसार हुई है। इस संबंध में जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ने बहुत विस्तार से लिखा है। वे लिखते हैं—

'मुंशी अजमेरी ने मैथिलीशरण को पहले कहानियाँ सुनाकर, खासतौर पर शृंगार के पद सुनाकर फिर कवित्व और सवैये सुनाकर, आकृष्ट किया।

१. स्मृति लेखा, अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नई दिल्ली—२ प्रथम संस्करण, १९८२, पृ० २३ तथा २४।

फिर उन्हें संस्कृत के श्लोक कंठस्थ कराए गए और लिखने पढ़ने में रुचि उत्पन्न हो गई। वह रुचि इतनी बढ़ी कि जब मुंशी अजमेरी अपने धंधे के काम से बाहर चले गए और दो महीने बाद लौटे तो उन्होंने देखा कि मैथिलीशरण जी ने रसराज सुंदर आदि अनेक ग्रंथों के श्लोक याद कर लिए हैं। इसके बाद मुंशी अजमेरी ने उनको गाना भी सिखाया, दोनों भाइयों को उन्हीं दिनों उन्होंने श्री वेंकटेश्वर समाचार, हिंदी बंगवासी और भारत मित्र समाचार पत्र मँगवाने शुरू किए। भर्तृहरिशतक, हितोपदेश, कामंदकीय नीति और चाणक्य नीति जैसी पुस्तकें भी उन्होंने मँगाई। उनके परिवार में उन्हीं दिनों चंद्रकांता संतति उपन्यास भी आए जो खूब पढ़े गए। जब मैथिलीशरण जी १४ वर्ष के थे उस समय एक वेदपाठी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण उनके घर आया और उन्होंने मैथिलीशरण जी के पिता जी को वेदमंत्र सुनाए। वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें अपने लड़कों को संस्कृत पढ़ाने के लिये रख लिया। उच्चारण के मामले में वे बड़े आग्रही थे जिस कारण उनके शिष्यों को बार बार श्लोक पढ़ने पड़ते थे जिससे वे कंठस्थ हो जाते थे। उन्होंने अमरकोश सिखाया और उसके बाद अलीगढ़ जिले के पंडित रामस्वरूप मिश्र को, जिनसे मुंशी ब्रजमंडल की यात्रा में मिल चुके थे, मैथिलीशरण जी को संस्कृत पढ़ाने के लिये बुला लिया गया। उस समय मैथिलीशरण जी ने लघु-सिद्धांत कौमुदी पढ़ी। संस्कृत की यह शिक्षा मैथिलीशरण जी की काव्य प्रतिभा का प्रबल आधार बनी[1]।'

वाचिक परंपरा की शिक्षा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि भाषा का लालित्य, भाषा का ओज, भाषा का सौकर्य एवं भाषा के आंतरिक गठन से पूरा पूरा परिचय मिलता है। भाषा पढ़ने से नहीं, सुनने से आती है। उच्चारण की सुरक्षा का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। हिंदी में इस तथ्य की ओर बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। भाषा के उच्चारण या उच्चारण प्रक्रिया पर अब भी उत्तम पुस्तकें हिंदी में ठीक से नहीं मिलतीं। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का ध्यान इस तथ्य की ओर बहुत पहले गया था। इस संबंध में उन्होंने जो कुछ लिखा, वह नागरीप्रचारिणी पत्रिका के केशवप्रसाद मिश्र-स्मृति-अंक (वर्ष ५६, अंक ३-४) संवत् २००८, में छपा है। उक्त लेख अपूर्ण होते हुए भी बड़े काम का है। स्वयं मुंशी अजमेरी वाचिक परंपरा के शिक्षक रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त के कवि रूप में निर्माण का कार्य मुंशी अजमेरी ने किया है। मैथिलीशरण गुप्त के पिता रामचरणजी विद्वानों के प्रेमी थे। उन्होंने कई विद्वानों को प्रश्रय दिया और अपने पुत्र को प्राचीन पद्धति से (वाचिक परंपरा की पद्धति से

---

१. मैथिलीशरण गुप्त की काव्य यात्रा, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, साहित्य संगम, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९८६ ई०, पृ० २२ तथा २३।

से शिक्षा की व्यवस्था की। इन शिक्षकों में मुंशी अजमेरी का स्थान सर्वोपरि है। मुंशी अजमेरी के परिचय के बिना मैथिलीशरण गुप्त का परिचय ही अधूरा मानना चाहिए। मुंशी अजमेरी का परिचय देते हुए जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी जी ने लिखा है—

'उनके (मैथिलीशरण के) पिता ने उन दिनों मुंशी अजमेरी को, जिनके पिता की मृत्यु हो गई थी, अपने यहाँ रहस्य रामायण नामक अपनी पुस्तक की नकल करने और अपने लिखे हुए पद गाने के लिये काम पर लगा दिया। मुंशी अजमेरी के पिता भीका जी के पूर्वज जैसलमेर राज्य से आए थे और ये पालीवाल ब्राह्मणों के भाट थे। कुछ पीढ़ियों पहले उनका वंश मुसलमान हो गया था लेकिन काव्यकला और संगीत की परंपरा उन्होंने कायम रखी थी और वे चिरगाँव में बस गए थे[१]।

मुंशी अजमेरी बचपन से ही मैथिलीशरण जी के साथ रहे। बाद में गुप्त जी तो उनको बहुत चाहने लगे थे। बहुत बार यात्रा में भी अजमेरी जी गुप्त जी के साथ में रहते थे। सन् १९३७ ई० में अजमेरी जी की मृत्यु हुई। गुरु होने के साथ साथ, बाद में वे सखा, हितचिंतक और सब कुछ हो गए थे। मुंशी अजमेरी के कारण गुप्त जी ने काव्यपाठ सीखा और कई काव्यग्रंथ पढ़ डाले। काव्य का आनंद वैसे भी अकेले में क्या लिया जाय? काव्य पाठ के लिये मंडली चाहिए। बैठक होनी चाहिए। दरबार लगा रहना चाहिए। यह सब सुविधा मैथिलीशरण जी को बचपन से प्राप्त थी। आल्हा तो गुप्त तैरते तैरते बचपन में गा लेते थे। आल्हा में गुप्त जी की बड़ी रुचि थी। कोई आल्हा सुनाने वाला मिल जाता, तो उसे छोड़ते नहीं थे। भूला भटका पथिक गाँव में आ जाता और रात भर के लिये आश्रय माँगता तो उससे यही पूछा जाता कि—'क्या आल्हा सुनाओगे?' इस प्रकार के प्रसंग का उल्लेख गुप्त जी ने यशोधरा काव्य के आरंभ में 'शुल्क' शीर्षक के अंतर्गत किया है[२]। काव्य वाचन (काव्य पाठ) के अभ्यास के कारण बाद में उन्हें कविता लिखना सुगम हो गया। गुप्त जी की पारिवारिक पृष्ठभूमि, उनके परिवार का साहित्य प्रेम और उनके घर की मंडली को जाने बिना हम उनके कवि रूप को ठीक ठीक आँक भी कैसे सकते हैं?

---

१. मैथिलीशरण गुप्त की काव्ययात्रा, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, साहित्य संगम, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९८६ ई०, पृ० २२।

२. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, संवत् २०१८ का संस्करण, आरंभ में पृ० ३ से ६ देखिए। शीर्षक 'शुल्क' है।

२

—४—

वाचिक परंपरा की कुछ विशेषताएँ हैं, जिन्हें समझने की आवश्यकता है। इस पद्धति के अनुसार काव्य श्रोताओं के हृदय में सीधा पहुँचता है। किसी समीक्षक को समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। इस पद्धति में कवि और श्रोताओं में सीधा संपर्क रहता है। कविता को प्रेषणीय बनाने के लिये कविता के सस्वर पाठ की आवश्यकता है। आधुनिक शिक्षा पद्धति में सस्वर पाठ को महत्व नहीं दिया जा रहा है। सस्वर पाठ का स्थान समीक्षा लेती जा रही है। कविता को कविता के रूप में ही प्रेषणीय होना चाहिए। हमें समीक्षा नहीं, मूल कविता सुननी है और वह भी सस्वर सुननी है। कविता में नाद है, लय है, संगीत है और भाषा की भंगिमा है, ओज है, चमक और दीप्ति है और भाषा के सौंदर्य, वे सब रूप हैं जिनके कारण कविता, कविता बनती है और उसे अनुभव करने के लिये कविता का सस्वर पाठ आवश्यक है। पढ़ने में हम भाषा तो जान जाएँगे किंतु उसके उच्चारण के बिना भाव का रूप ठीक ठीक मूर्त नहीं हो सकता। मुद्रित कविता (काव्य—संकलनों में) पढ़कर कविता उस रूप में प्रेषणीय नहीं हो सकती, जिस रूप में उसका वाचन करने से हो सकती है। अज्ञेय ने ठीक ही लिखा है—

'कवि और पाठक के बीच छपी हुई पुस्तक मानो एक दीवार के रूप में खड़ी हो जाती है, छपे हुए शब्द अर्थ पर एक (चाहे हल्का ही) परदा डाल देते हैं। काव्य एक जीवंत अनुभूति नहीं रहता जिसका श्रवण के दौरान ही अवतरण होता हो, वह एक संचित वस्तु रह जाता है जो अनपढ़ा भी पुस्तक में रहा चला जाता है[1]।

और फिर गुप्त जी का मूल्यांकन इसी संदर्भ में करते हुए लिखा—

'इस आमूल स्वभाव परिवर्तन की प्रक्रिया का ब्यौरा यहाँ अपेक्षित नहीं है। पर उस परिवर्तन की तथ्यता को ध्यान में रखना आवश्यक है। मैंने कहा कि गुप्त जी की यह विशेषता आज उनके काव्य के आस्वादन में कठिनाई पैदा करती है पर इसी में यह भी निहित है कि जो निष्ठावान् अथवा धैर्यवान् पाठक उससे पार पा लेगा उसके लिये गुप्त जी का काव्य एक अपूर्व निधि साबित होगा। यह कहना कि गुप्तजी वाचिक परंपरा के अंतिम बड़े कवि थे, वास्तव में यही कहना है कि परिवर्तन की एक भारी खाईं के पार हमें ले जानेवाले सेतु भी वही थे। अथवा रूपक बदल कर कहें कि हमें पार खे ले जानेवाले कर्णधार वही थे। उन्हीं को समझकर हम अपनी काव्य परंपरा के साथ जुड़ सकते हैं[2]।'

---

१. स्वस्ति और संकेत, मैथिलीशरण गुप्त, भूमिका, पृ० 'घ'

२. वही—, पृ० 'घ' और 'ङ'।

—५—

गुप्त जी की काव्यसाधना में काव्य वाचन उनकी रचना प्रक्रिया का भाग भी रहा है। ब्रजभाषा की ओर से खड़ी बोली की ओर उन्होंने सफल यात्रा की है। इस यात्रा के पड़ावों पर रुक, रुककर उन्होंने अपने काव्य को ठीक दिशा देने का सतत प्रयास किया है। मुंशी अजमेरी उनकी कविता का सस्वर पाठ करते रहे हैं। गायन कला में वे निपुण थे। मुंशी अजमेरी के मुख से अपनी कविता सुनने के बाद उन्हें आत्मबल मिलता रहा है। हरिगीतिका छंद गुप्त जी का प्रिय छंद था। इसके संबंध में लिखा है—

'जयद्रथ वध' में उन्होंने (गुप्त जी ने) संस्कृत के हरिगीतिका छंद का प्रयोग किया था। ये छंद गाने में आसान पड़ता था और मुंशी अजमेरी जी जैसे बढ़िया गायक के कंठ से इसकी शक्ति प्रकट होती थी। इसलिये मैथिलीशरण जी का यह प्रिय छंद हो गया था[१]।

बाद में इसी छंद में भारत भारती लिखी गई। भारत भारती के लिखने की प्रेरणा महावीरप्रसाद द्विवेदी जी से प्रधान रूप से मिली है। उर्दू के कवि हाली का मुसद्दस महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को बहुत ठीक लगा था और वे चाहते थे कि इसी तरह का काव्य गुप्त जी लिखें। विशेष बात यह है कि द्विवेदी जी ने गुप्त जी को मुसद्दस सुनने के लिये लिखा था—पढ़ने के लिये नहीं। क्योंकि वे जानते थे गुप्त जी को उर्दू नहीं आती, वे पढ़ नहीं पाएँगे और पढ़ भी लिया तो उसको ठीक से समझ नहीं पाएँगे। यदि किसी से सुन लें तो मुसद्दस की पद्धति से परिचित होने में सहायता मिलेगी[२]। मैं यहाँ कहना यह चाहता हूँ कि कविता सुनने से समझ में आती है और जब तक ऐसा न हो कविता भीतर उतरती ही नहीं और न ही उसकी छवि से हमारा ठीक ठीक साक्षात्कार हो सकता है। यों गुप्त जी की सृजन—प्रक्रिया में उनके काव्य वाचन का बड़ा प्रभाव रहा है। अपनी निजी कविताओं को बार बार पढ़कर उनकी लय को (छंद आदि के निर्वाह को) उन्होंने स्वयं ठीक किया है। गुप्तजी ने हिंदी में विविध प्रकार की शैली का निर्माण किया और यह सिद्ध किया कि कविता ब्रजभाषा में ही नहीं, खड़ी बोली में भी संभव है।

—६—

गुप्त जी की कविता सरल है, भाव से युक्त है और सब प्रकार से

१. मैथिलीशरण गुप्त की काव्य यात्रा, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, पृ० ४६।

२. मैथिलीशरण गुप्त की काव्ययात्रा, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, पृ० ५८ से ६० देखिए। 'भारत भारती' रचना के सृजन प्रक्रिया का बोध होगा।

प्रेषणीय है। छंद और तुकों का निर्वाह होने के कारण उनकी कविताओं में प्रवाह है और इन सब गुणों के कारण उनकी कविता उनके अपने काल में ही लोकप्रिय हो गई। उनकी कविता का वाचन जगह जगह हुआ है। और इस वाचन के कारण वह सब के मन में—सुनानेवाले श्रोताओं के मन में बैठती गई है। पाठशाला की छोटी छोटी कक्षाओं में उनकी कविताएँ पढ़ाई जाती रही हैं—और ऐसी कविताएँ छात्रों ने याद की हैं। उनका सस्वर पाठ होता रहा है। उनकी काव्यसाधना स्वदेशी ढंग की, सीधी सरल और भारतीय पद्धति की है। उनकी कविता की सराहना महात्मा गांधी ने की है। महात्मा गांधी हमारे राष्ट्रपिता कहलाए हैं और मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रकवि। हिंदी कविता की यात्रा में गुप्त जी की निजी यात्रा कितनी सबल रही है, इसे हिंदी के आज के कवि ठीक से समझते हैं। 'आधुनिक कविता'—से गुप्त जी की कविता के अलगाव का एक कारण उसका वाचिक परंपरा से जुड़ा रहना है। किंतु क्या उनकी कविता पढ़ी जाय तो पाठकों को प्रभावित नहीं करेगी? ऐसा प्रयास भी गुप्त जी ने किया है। आधुनिक कविता के लक्षण भी उनमें मिलते हैं। एक ओर उनकी कविता में रीतिकालीन झलक मिलती है, वहाँ दूसरी ओर छाया-वादी काव्य की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। साकेत का नवम सर्ग और यशोधरा के गीतों में गुप्त जी काफी आगे बढ़ आए हैं। अभिव्यंजना शैली के विविध रूप उनमें प्रयोगात्मक स्तर पर हैं और उन्होंने पुरानी कविता की धारा को नई कविता की धारा से जोड़ने का काम किया है। कविता के माध्यम से कथा कहना और प्रबंधात्मक लेखन में दृढ़ता से टिके रहना सामान्य बात नहीं है। गुप्त जी की कविता का फलक विशाल है। उनके फलक में रामायण और महाभारत ही नहीं अपितु अन्य पुराण ग्रंथों के कथानक भी हैं और इन सबके साथ साथ सामयिक इतिहास भी है। कविता की विषयवस्तु का क्षेत्र इतना विशाल है कि उसमें आज का कोई कवि नहीं बैठता। भाषा छंद तो उनके अपने हैं किंतु उनकी लोकप्रियता का कारण उनके काव्य के विषय भी हैं। काव्य की विषयवस्तु ने ही उन्हें राष्ट्रकवि कहलाने का गौरव दिया है। 'भारत भारती' में उन्होंने देश की सांस्कृतिक गाथा का गौरवमय रूप अंकित किया ही है किंतु उस गाथा को बाद में उन्होंने अपनी अन्य रचनाओं में विस्तार से पद्यबद्ध रूप में अंकित कर दिया है। प्रबंध काव्य लिखने के लिये विशेष साधना की आवश्यकता होती है। वह साधना उनमें बड़ी दूर तक निरंतर चलती हुई दिखाई देती है। जब वे लिखते हैं—'राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,' तो उसे उन्होंने ठीक ठीक अनुभव किया और उस वृत्त ने उनको सहज ही में कवि बना दिया है। अपने काव्य को उन्होंने बार बार पढ़ा ही

नहीं, वाचन किया है। वाचन करते समय उन्होंने अपनी कविता को पाठक के रूप में परखा है। काव्य वाचन में, काव्य का वाचक स्वयं भी रुचि लेता है और जब स्वयं को ठीक न लगे तो दूसरों को वह ठीक लगेगा, यह कैसे मान ले? इसी रूप में उनकी काव्यसाधना निरंतर चलती रही है। उन्हें ठीक अर्थों में वाचिक परंपरा का अंतिम श्रेष्ठ कवि कहा जा सकता है। लड़खड़ाती खड़ी बोली को विस्तृत क्षेत्र प्रदानकर उसे बलवान बनाने में उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।



मैथिलीशरण गुप्त का काव्य : भारतीयता की खोज यात्रा

डा० जितेंद्रनाथ पाठक

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के जन्म शताव्दी वर्ष में उनपर कुछ लिखना जहाँ उनके काव्य मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य को अधिक तटस्थ बनाता है वहीं उनके प्रति एक ऐतिहासिक मोह को जाग्रत करने की आशंका से युक्त भी हो जाता है। इस निबंध का ज्यादातर उद्देश्य उन मूल्यों का संधान और विश्लेषण है जो गुप्त जी के काव्य के प्रेरक और संप्रेष्य रहे हैं। संक्षेपतः इन मूल्यों की समष्टि 'भारतीयता' शब्द में निहित है, जिसकी अविराम खोज यात्रा ही मैथिलीशरण गुप्त का काव्य है।

गुप्त जी के रचनाकाल के प्रारंभ की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो दिखाई पड़ता है कि भारतीय पुनर्जागरण के अध्यात्मवादी मानवतावादी संदेश उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सभी भाषाओं के रचनाकारों के मानस में हिलकोरें उत्पन्न कर रहा था। धर्म और संप्रदाय का आश्रय लेकर भक्ति आंदोलन में जिस आध्यात्मिक काव्य की सृष्टि उठी वह वार वार अवतारों के ईश्वरत्व का स्मरण दिलाता है अथवा निराकार होकर वह वार वार मानवीय प्रतीकों में मूर्त होकर भक्तों के समीप आना चाहता है। मानवीय संदेश इन धर्माश्रित काव्यों में कम नहीं है किंतु वह एक धर्म विशेष के लिये संवेदनीय होकर रह जाते हैं उनमें व्यापक रूप से धर्म निरपेक्ष होकर मानव मात्र में संक्रमित होने की क्षमता बहुत कम हो जाती है। पुनर्जागरण युग ने उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध और बीसवीं शती के पूर्वार्ध को एक प्रकार से मध्यकालीन रूढ़ि जाल से विमुक्त किया और धर्मकथाओं को मानव कथा तथा स्थूल आध्यात्मिक अनुभूतियों को विश्वजनीन रहस्यानुभूतियों तक पहुँचने में योग दिया। पुनर्जागरण कालीन मूल्यों के ही रचनात्मक निष्कर्ष रवींद्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', पंत, निराला आदि हैं।

उन्नीसवीं शती में राजा राममोहन राय (१७७२ से १८३३) के द्वारा प्रवर्तित ब्रह्म समाज के मूल्य संकेतों के आधार पर पुनर्जागरण के वैचारिक स्वरूप का देश के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न रूपों में प्रतिफलन हुआ। आर्य समाज के समर्थ प्रतिष्ठापक स्वामी दयानंद सरस्वती (१८२४ से १८८३ ई०) ने अपने ढंग पर राजा राममोहन राय के द्वारा स्थापित मूल्य संकेतों को भेरी घोष का रूप दिया। राजा राममोहन राय का सुधारवाद जहाँ सर्वधर्म समन्वय के भीतर से सक्रिय होता था वहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती का सुधारवाद आर्य धर्म की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के भीतर से तेजी से फैला। मैथिलीशरण गुप्त

के उदय के पहले ही बंगाल, आसाम में ब्रह्म समाज, पंजाब, सौराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और विहार में आर्य समाज, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रवर्तित रामकृष्ण मिशन तथा एनी वेसेंट द्वारा संस्थापित थियोसोफिकल सोसायटी आदि के द्वारा सारे भारत में पुनर्जागरण की चेतना लहरें लेने लगी थीं। इधर भारतेंदु ने 'तदीय समाज' की स्थापना से और श्रद्धाराम फुल्लौरी ने अपने प्रचारों से हिंदू जनता में नवचेतना का संचार किया।

इस भारतीय पुनर्जागरण का दार्शनिक आधार और प्रयोजन अपनी प्राचीन ज्ञानराशि के अध्ययन, प्रकाशन और तदनुकूल आचरण के रूप में तो था ही, कालांतर में विकसित हुए अविवेकपूर्ण सामाजिक आचार विचारों का विघटन भी इनका लक्ष्य था। इसलिये उनका जबर्दस्त झुकाव समाज सुधारों पर था। यह समाज सुधार बहुपक्षीय और समाज की नाना संकीर्णताओं को अपना लक्ष्य बनाए हुए था। सामाजिक मान्यताओं के धार्मिक आधार पर आधारित होने के कारण धर्म सुधारों की आवश्यकता भी प्रतीत हुई। धर्माचरण के कितने चिराचरित रूप द्विवेदी युग तक निरर्थक सिद्ध हो चुके थे। पुनर्जागरणवादियों ने अपने अपने ढंग से इन मान मूल्यों को अपने साहित्य में प्रतिफलित किया।

पुनर्जागरण कालीन आंदोलनों का एक सकारात्मक पहलू यह भी था कि शासकों के ईसाई धर्म के फैले जाल और प्रलोभनों के सामने हिंदुओं का एक बड़ा तबका ईसाई बनने की ओर प्रवृत्त था। अस्पृश्य और अंत्यज कहे जाने वाला वर्ग तो उधर जा ही रहा था, सवर्ण भी उस ओर जाने लगे। बंगाल के प्रतिभाशाली कवि और नाटककार माइकेल मधुसूदनदत्त जैसे व्यक्ति भी ईसाई मत में दीक्षित हो रहे थे। इस संकट के परिहार के लिये पुनर्जागरण काल के नेताओं ने अपनी वैदिक औपनिषदिक और अन्य प्राचीन धर्मग्रंथों का पुनर्विश्लेषण किया। जैसा कि इस निबंध के प्रारंभ में ही कहा गया है, उनके सार्वभौमिक जीवनादर्शों और उच्चतर दार्शनिक मूल्यों का पुनर्कथन किया। आधुनिक वैज्ञानिक तर्कवाद के आधार पर अपनी कथा अनुश्रुतियों का पुनर्गठन किया। उसका सुपरिणाम यह हुआ कि भारतीय आचार विचारों के नाम पर प्रचलित बहुत सारी बातों की सैद्धांतिक आधार पर निरर्थकता प्रमाणित हुई और भारतीयता की सही व्याख्या संभव हो सकी।

जिस युग में मैथिलीशरण गुप्त का अवतरण हुआ वह युग भाषा, छंद, काव्यरूप और अभिव्यंजना के अन्यान्य उपकरणों के लिये भी जूझ रहा था। उस समय तक काव्यभाषा और गद्यभाषा के नाम पर दो भाषाएँ चल रही थीं। काव्य भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित थी ब्रजभाषा और गद्यभाषा के आसन पर खड़ी बोली। भारतेंदु युग में ब्रजभाषा का मोह काव्यभाषा के रूप में

पूर्णतः बना रहा। भारतेंदु जी ने खड़ी वोली में कुछ कविताएँ लावनी खयाल आदि लोकप्रिय छंदों में लिखी थीं लेकिन उनका उपयोग एक तो व्यंग्य विनोद के अवसरों के लिये उन्होंने किए, दूसरे कोई निष्ठा भी उनके इस निर्माण के पीछे नहीं थी। सन् १८८१ ई० में 'भारतमित्र' में खड़ी वोली के तीन छंद, प्रकाशनार्थ भेजते हुए भारतेंदुजी ने लिखा 'प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है, देखिएगा कि इसमें क्या असर है? और किस उपाय का अवलंबन करने से इस भाषा में काव्य सुंदर बन सकता है? तीन भिन्न छंदों में यह अनुभव करने के लिये ही किस छंद में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे संतुष्ट न हुआ, और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की दीर्घ क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण विशेष असुविधा होती है।' (भारतमित्र, १ सित० १८८१ ई०)। इसके बाद उन्नीसवीं शती के नवें दशक में कालाकाँकर से प्रकाशित 'हिंदोस्तान' में ब्रजभाषा बनाम खड़ी वोली का विवाद लंबा चला। काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा के समर्थकों में भारतेंदु मंडल के प्रायः सभी लेखक थे। पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० प्रतापनारायण मिश्र जैसे लोग ब्रजभाषा के उत्साही समर्थक और खड़ी बोली के काव्यभाषा के रूप में कट्टर विरोधी थे। पं० श्रीधर पाठक ने इन सबका मुकावला बड़ी शक्ति और सतर्कता से किया। खड़ी वोली पर अनेक आरोप थे--कर्कशता और अकाव्योपयुक्तता, छंदों का अभाव, उर्दू का प्रभावाधिक्य, कवियों की निरंकुशता की असंभावना इत्यादि। पं० श्रीधर पाठक ने इनका उत्तर न केवल सैद्धांतिक आधार पर दिया वल्कि उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर कवित्त, सवैया तथा उन सभी छंदों में खड़ी वोली में काव्य रचना करके प्रकाशित कराई जिनमें खड़ी वोली की अकृतकार्यता बताई जाती थी। 'एकांतवासी योगी' (१८८६ ई०) लिखकर तो उन्होंने खड़ी बोली कविता को एक मजबूत भित्ति प्रदान कर दी। यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि भारतेंदु युग और द्विवेदी युग के संधि अथवा संक्रमण काल के महत्वपूर्ण कवि के रूप में श्रीधर पाठक का मूल्यांकन हिंदी की आधुनिक कविता के इतिहासकार के लिये जरूरी होगा। इस विवाद का अंतिम समाधान द्विवेदी युग में द्विवेदी जी के शक्तिशाली प्रयत्नों से हुआ। 'कवि एवं कविता' नामक अपने लेख में द्विवेदी जी ने संस्कृत और मराठी कविता के संस्कारों से प्रेरित होकर कविता के उपयोगितावादी और नवविकासवादी रूप का प्रवर्त्तन किया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न था खड़ी बोली कविता में छंदों की अवतारणा का। उस समय खड़ी वोली के क्षेत्र में तीन तरह के छंद सामने थे—१. श्रीधर पाठक आदि के द्वारा प्रयुक्त हिंदी के लोकप्रचलित

छंद, २. स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी और हरिऔध जी द्वारा प्रयुक्त संस्कृत के वर्णवृत्त, ३. लाला भगवानदीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध आदि के द्वारा प्रयुक्त उर्दू के प्रचलित छंद। द्विवेदी जी ने आरंभ में संस्कृत छंदों का पक्ष लिया लेकिन संस्कृत छंदों की भाषा बहुत संस्कृतनिष्ठ हो जाती थी वह चाहे द्विवेदी जी के इस प्रकार के प्रयोग हों अथवा हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' के छंद। उर्दू के छंदों का आग्रह बहुत दूर तक नहीं चल सका फलतः मासिक छंदों में से ही अनेक का शोधन परिवर्तन इस युग में करना पड़ा। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं हरि गीतिका छंदों में कुमार संभव (१६०४ ई०) की रचना कर उपयुक्त पथ का निर्देश किया। गुप्त जी ने अपनी अनेक प्रारंभिक रचनाएँ इसी छंद में कीं। किंतु गुप्तजी को छंदों के क्षेत्र में जितना भी निर्देश मिला वह पर्याप्त नहीं था उन्हें अपना पथ स्वयं प्रशस्त करना पड़ा।

गुप्तजी जिस काल में काव्य रचना कर रहे थे वह काल स्वतंत्रता संग्राम की प्रखरता का काल था। महात्मागांधी के नेतृत्व में स्वदेशी, अहिंसा और सत्याग्रह के रास्ते पूरा देश अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध खड़ा हो गया था। महात्मा गांधी और उनके स्वतंत्रता संग्राम का पूरा पूरा प्रभाव गुप्त जी के काव्य सृजन पर नाना रूपों में पड़ा। यह प्रभाव 'अजित' पर ही नहीं, 'भारत भारती', साकेत', वैतालिक', 'गुरुकुल', 'झंकार' आदि में भी मिलता है। स्वतंत्रता संग्राम में जूझने वालों ने 'भारत भारती' की पंक्तियों को अपना प्रेरणागान बनाया और कितने सरकारी अत्याचारियों को 'भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती' के सिंहनाद से दहलाया। गांधी और बिनोबा इन दोनों ने मैथिलीशरण गुप्त की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना का निर्माण किया, यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। यह भी विशेष रूप से लक्षित करने की बात है कि गांधी बिनोबा की वैष्णवता गुप्त जी की वैष्णवता से पूरी तरह मेल खाती थी।

गुप्त जी रामभक्त थे। इस प्रकार वे वैष्णव थे। यदि ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि उनकी रामभक्ति काव्य ग्रंथों के मंगलाचरणों में ही नहीं दिखाई पड़ती बल्कि वैष्णव भक्ति के मूल स्वर-लोकपीड़ा से विचलित होने का संदेश—उनके विचार दर्शन का मूल स्रोत है। एक और बात लक्षित करने की यह है कि राम कवि के दाता माता तो हैं ही आधुनिक विचारों के साक्षी भी हैं। 'साकेत' में जब कवि उन्हें ही अपना काव्य विषय बनाता है तो अकुंठ भाव से पूछ उठता है 'राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?' और राम को उनकी सर्वदातृत्व शक्ति से थोड़ी देर के लिये ही संबद्ध करके फिर उनकी प्रतिष्ठा एक महामानव के रूप में कर देता है। यह प्रवृत्ति उस युग की पृष्ठभूमि के जानकार

के लिये बहुत आश्चर्यजनक नहीं होनी चाहिए। यह आकस्मिक नहीं है कि 'साकेत', 'पंचवटी' के राम, लक्ष्मण, सीता, उर्मिला भरत ही नहीं बदले हैं, हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' के राधा कृष्ण और 'वैदेही वनवास' के सीता राम भी बदल गए हैं।

मैथिलीशरण गुप्त के बारे में बार बार कहा जाता है कि वे हिंदू राष्ट्रीयता के उन्नायक कवि हैं। 'भारत भारती' और हिंदू को इसके समर्थन में विशेष रूप से उपस्थित किया जाता है। इन दोनों कृतियों को जहाँ तक मैं समझ सका हूँ और पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्यचेतना से मिलाकर जहाँ तक मैं देख सका हूँ यह बहुत स्पष्ट होकर दिखलाई पड़ता है कि मैथिलीशरण गुप्त हिंदू जन की चेतना के पुनर्निर्माण या संस्कार से संबंधित अवश्य हैं लेकिन न तो उनके हिंदूजन की वास्तविक चेतना का विश्व चेतना से विरोध है न ही उनके हिंदू धर्म का तात्विक दृष्टि से विश्व धर्म या मानव धर्म से विरोध है। आखिर वे कहते भी यही हैं :

हिंदू धर्म कि मानव धर्म
है अभिन्न दोनों का मर्म

और यह कोरी आकाशी उड़ान नहीं है। 'आकाशी उड़ान' के कवि न तो गुप्त जी थे नहीं अपनी पूरी काव्य यात्रा में कभी हो ही सके। ठोस यथार्थ पर आश्रित ठोस 'शिवम्' के ही कवि वे सदा रहे। अपने धर्म की श्रेष्ठता का पूरा पूरा अभिमान रखने का सबको स्वातंत्र्य देते हुए वे 'अर्जन और विसर्जन' में सीरियन ईसाई कन्या इउडोसिया से मुसलिम मत में मतांतरित जोमस से उत्तर दिलाते हैं—

'मेरे घर क्या नहीं है बाहर से मैं क्या लूँ।'

गुप्त जी हर धर्म को गौरव देते हैं और उसके भीतर से मानववादी तत्वों को उभारने का प्रयत्न करते हैं। एक हिंदू होने के नाते वे हिंदू मत के उस दार्शनिक गौरव के प्रति अधिक सचेत हैं जिससे उपकृत होकर विवादास्पद जाति-धर्म वाले कबीर सबके मान्य हो गए, चार्ल्स विलियम डी० रेस्ट 'हुए हमारे मान्य महंत', अमेरिकन लेडी विवेकानंद की शिष्या सिस्टर निवेदिता हो गई, फ्रेंच कुमारी मिस 'स्लेड' महात्मा गाँधी की शिष्या मीरा बेन हो गई और रसखान जैसे कृष्णभक्त मुसलमान कवि पर 'कोटिन हिंदू वारिये' की स्थिति आ गई। वे हिंदू नहीं हिंदूपन की चर्चा करके भारतीयता का स्पष्ट संकेत करते हैं जो जड़ीभूत रूढ़ियों का नाम नहीं है बल्कि गतिशील जीवनादर्शों से संपुंजित हुई महान् संस्कृति का नाम है। वे कहते हैं—

एक नियम है केवल एक
रखो तुम कुछ क्यों न विवेक
रुचे तुम्हें वह संस्कृति मात्र

जो तुम हिंदूपन के पात्र
आदर्शों से हो अनुराग
और तुम्हें रुचता हो त्याग
जो हिंदू चरित्र निष्पाप
द्रवीभूत कर देंगे आप

जब गुप्त जी को हम हिंदू राष्ट्रीयता का कवि कह देते हैं तब हम गुप्त जी की उस मनोभूमि की अनदेखी करते हैं जो हिंदू होते हुए भी सर्व धर्म समन्वय के प्रति सहज सचेष्ट है। गुप्त जी जिस लेखनी से पंचवटी और साकेत की रचना करते हैं, उसी लेखनी से बौद्धों के करुणा धर्म का उद्घोष करने वाली कृतियाँ, 'अनघ' 'यशोधरा' और 'कुणालगीत' की रचना करते हैं, उसी से सिखों की शक्ति और महिमा का परिचय देने के लिये 'गुरुकुल' का निर्माण करते हैं, उसी से मुसलमान धर्म की महानता और सहिष्णुता को चित्रित करने वाली हृदय द्रावक कृति 'कर्बला' की रचना करते हैं। वस्तुतः वे हिंदू मुसलमान, बौद्ध ईसाई, जैन सिख, आस्तिक, नास्तिक सभी के कवि हैं। आस्तिकता और नास्तिकता दोनों को गुप्त जी इसलिये अपना काव्य विषय बना सके हैं क्योंकि वे मानवता के पृथक् विश्वासी हैं और मानवता का पक्ष नास्तिकता में भी है। इतिहास के विद्यार्थी को यह जानना चाहिए कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का प्रारंभिक स्रोत हिंदू धर्म की यही पुनरुत्थानवादी वैष्णव धारणा है। सांप्रदायिकता के गुप्त जी एक दम खिलाफ हैं और एक सामासिक संस्कृति के सदैव पक्षधर—

जाति धर्म वा संप्रदाय का
नहीं भेद व्यवधान यहाँ।
सबका स्वागत, सबका आदर
सबका सम—संमान यहाँ।

तुकबंदी के सारे खतरे उठाकर भी 'हिंदू' की भूमिका में गुप्त जी ने अपने उन आलोचकों की मीठी चुटकी ली है जो उन्हें तुक्कड़ या केवल 'शिवम्' का कवि कहते हैं। गुप्त जी 'हिंदू' में हिंदू की सनातन रूढ़ि मुक्त कल्पना का आस्थापूर्वक कथन तो करते ही हैं साथ ही अछूतोद्धार का भी समर्थन करते हैं। विधवा विवाह को भी आवश्यक मानते हैं—

तुम बूढ़े भी विषयासक्त बनी रहें वे किंतु विरक्त
वे जो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित है जिनका गात्र
आप बनों विषयों के दास वे अभागिनी बने उदास

'भारत भारती' में उनका लक्ष्य है आत्मालोचन और आत्म गौरव का उदात्त कथन। 'भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती' कहकर जब कवि अपने आत्म गौरव के पुनः स्थापन की प्रबल कामना प्रकट करता है तो कहीं पर 'हम

कौन थे, क्या हो गए, और क्या होंगे अभी' के द्वारा अपने वर्तमान की हीनावस्था का स्पष्ट संकेत करता है और भविष्य निर्माण के लिये चेतावनी का मंत्र घोष करता है।

भारतीयता के इस मंत्र घोष को हम सिर्फ मंत्रघोष कह सकते थे लेकिन कवि ने अपनी प्रबंधात्मक कृतियों में भारतीयता का जो रूढ़िमुक्त, गतिशील एवं आदर्शोन्मुख चित्रण कथा और चरित्रों के माध्यम से किया है उसको हम भला कैसे झुठला सकते हैं। इस तरह की अभिव्यक्ति हमारी गतिशील भारतीयता को अनुभव और चिंतन के गहरे स्तरों पर उपलब्ध किए बिना हो ही नहीं सकती थी। 'झंकार' में जो लोग रहस्यवाद का प्रभाव खोजते हैं उन्हें उसी संग्रह के 'सत्याग्रही' के मरणोत्सव का वाणी झंकार सुनना चाहिए—

मैं निहत्था जा रहा हूं, इस अँधेरी रात में।
हिंस्त्र जीव लगे हुए हैं प्राणियों की घात में।
चाहते हैं सरल कंटक दान थोड़ा।
क्यों न दूँ इनको पदों में स्थान थोड़ा।।

यह पंक्तियाँ आत्मानुभाव से ही पैदा हुई हैं। जेल की प्रत्यक्ष यातना के भुक्त भोगी गुप्त जी ने 'अजित' में सत्याग्रह और अहिंसा मार्ग में आतंक मार्ग की तुलना में निष्कपट निष्ठा दिखाई है। आतंक मार्ग का विरोध न तो उनका शौक है न ही अहिंसा मार्ग का समर्थन पिछड़ापन—

सबने किया प्रयास
सदा तन के रोगों पर।
क्यों अब नए प्रयोग न हों
मन के भोगों पर।
गांधी जी का यही यंत्र
प्रभु करे सुफल हो।
क्या बाहर के विघ्न
हमारे भीतर बल हो।

मैथिलीशरण गुप्त पुनर्जागरण के कथा कवि हैं? और शायद द्विवेदी युग के सबसे बड़े कथा कवि। यह ठीक कहा गया है कि गुप्त जी की प्रतिभा प्रबंधों में ही चमकती है। जिन कृतियों की समीक्षा या चर्चा मैं अब तक करता रहा उनका गुप्तजी की काव्य चेतना के विकास के संदर्भ में बड़ा मूल्य है किंतु काव्य दृष्टि से उनका मूल्य उतना नहीं है। फिर भी गुप्त जी अपनी सभी कृतियों में आधुनिकता के बड़े ही समर्थ द्रष्टा हैं। आधी शताब्दी के काव्य सृजन की यात्रा में उनमें एक तरह की वैचारिक एकतानता के दर्शन होते हैं। वे अद्भुत रूप से बहुत बाद छायावादोत्तर कवि की कृतियों के भाव बोध के

नजदीक दिखाई पड़ते है। 'दिनकर' जी के कुरुक्षेत्र का जो कथ्य है वही गुप्त जी के 'जयभारत' का। अपनी अमिताक्षर छंद वाली तीव्र पद योजना वाले काव्य में मरणोन्मुख दुर्योधन से गुप्तजी युधिष्ठिर की वाणी में कहते हैं।

युद्ध परिसीमा है
परत्व के विकास की।
तू ही नहीं हाय आज
मैं हूँ लुटा-कुटा॥

और कृष्ण कहते हैं—

युद्ध की अशोभनता
जन यदि जान लें।
तो न होगा व्यर्थ
यह इतना अनर्थ भी।

इसके अतिरिक्त 'युद्ध' नामक अपनी काव्य कृति में गुप्त जी धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' की भूमिका सी प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं। बलराम श्रीकृष्ण से महाभारत युद्धोपरांत कहते हैं—

हाय चक्री ! क्या हुई
तुम्हारी वह मुरली।
क्या हुआ तुम्हारा व्रज
कालिन्दी कहाँ रही।
कैसे दिन थे वे कनू
कैसा यह काल है।
गाएँ ही भली न थीं
क्या स्यंदन के घोड़ों से।
घर न तुम्हारा रस
गोरस से जो भरा।
द्वारिका का सिंधु भी
उसे क्या भर पाएगा।

कुरुओं की ऐसी गति
वृष्णियों की भी न हो।

डूब गया कृष्ण
महाभारत रुधिर में।

विश्व वेदना में गुप्त जी का युद्ध की विभीषिका से संबंधित मुक्त चिंतन प्रकट हुआ है। गुप्तजी आश्चर्यजनक रूप से पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, विज्ञान

आदि का बहुत सही कार्य-कारण-संमत मीमांसा करते हैं। इन्हें आधुनिक वैषम्य की कितनी सही पहचान है।

लोग भगते से आते हैं
चौंकते से बतियाते हैं।
ठगे, ठगते से आते हैं
देख सुन क्या कुछ पाते हैं।

× × ×

कस न सौ और एक आसक्त
हुए हम शतधा स्वयं विभक्त।
भला था रहता लोक अशक्त
बहा पाता न परस्पर रक्त।

और तब कवि आज की विभीषिकाओं को लक्ष्य करके कहता है कि 'विविध विस्फोटक वस्तु विकास। विषैले वाष्प, विषम यमपाश। जग ज्वाला है कि प्रकाश। हो रहा है निर्माण कि नाश।'

अब तक की सारी चर्चा मैथिलीशरण गुप्त के वैचारिक पक्ष और उसको प्रभावित करने वाली परिस्थितियों की हुई। इसमें उनके मुक्तक और कथा काव्यों से संबंधित अंशों को लिया गया। इसमें कथा प्रबंधों के सांगोपांग विवेचन का न तो अवसर था नहीं वैसा प्रयत्न किया गया। यह एक पृथक् प्रबंध का कार्य है। 'पंचवटी' और 'साकेत' की रामकथा, 'जय भारत' में संकलित उनके महाभारत संबंधी आख्यान प्रबंध, 'अनघ', 'यशोधरा' तथा कुणाल गती की बौद्ध या बौद्ध प्रभावित कथा, सिक्खों से संबंधित गुरुतेग बहादुर या गुरुकुल की कथा, 'सिद्धराज', रंग में भंग' 'विकट भट' आदि ऐतिहासिक कथा, 'किसान', 'अजित' आदि की आधुनिक काल्पनिक कथा; विष्णुप्रिया, 'द्वापर' की वैष्णव कथा, अर्जन और विसर्जन, कावा और कर्बला 'पृथिवीपुत्र' की अधिकांश भारतेतर मानव कथा कवि की प्रबंध कल्पना के लंबे विस्तार की सूचना देते हैं।

पचास वर्षों से कुछ अधिक काव्य यात्रा में भारत भारती का कवि वैतालिक से 'विश्व वेदना' का गायक बन जाता है और वह मानव कल्याण का वैतालिक बनकर गा उठता है।

कृपा कर करुणा पारावार।
हो रहा है नीरस संसार।
बहा देना रस की वह धार।
कि धो दे जो वैषम्य विकार।

साथ ही गुप्त जी का समस्त काव्य चिंतन पुनरुत्थान की उस चेतना की संगति में है जो विभिन्न धर्मों और जीवनादर्शों में भारतीयता की खोज करती थी और यह भारतीयता मानवतावाद की अविरोधिनी थी।

राष्ट्रकवि गुप्तजी : शोध के कुछ विचारणीय संदर्भ

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त पर शोधकार्य संप्रति प्रारंभिक स्थिति में ही है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने शोध के बारे में कहा है कि शोध इसके सिवा कुछ नहीं कि जिसे सभी देखते हैं, उसे हम भी देखें; पर सोचें वह, जो किसी ने सोचा न हो। हिंदी को अब भाषा और साहित्य की विकसित मनीषा प्राप्त हैं, इसलिये इसमें निश्चय ही शोध की यह आदर्श स्थिति पाई जाती है।

राष्ट्रकवि गुप्त जी ने हिंदी में इतना काफी और इतना बढ़िया लिखा है कि उनके साहित्य के असमाप्य पक्ष हैं और इनमें भी एक एक के इतने पहलू हैं कि उनसे संबद्ध शोधोपयोगी विषयों की इयत्ता नहीं। इसीलिये हिंदी काव्य के इतिहास लेखक को गुप्त जी के लिये पर्याप्त स्थान सुरक्षित रखना पड़ेगा। साथ ही, गुप्त जी उन कवियों में हैं, जिनके संबंध में आलोचक और इतिहासकार स्वतंत्र रूप से लिखने का अवकाश पा सकते हैं। ऐसा नहीं कि इतिहास लिखने वाले आलोचना लिखने लगें और आलोचक इतिहास लेखक हो जायँ। क्योंकि गुप्त जी ने दोनों के लिये प्रचुर आयाम अपने विधा वैभिन्यमूलक रचना संसार में निहित कर दिए हैं।

आचार्य नलिन जी ने हिंदी की एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा है कि हिंदी में प्रेमचंद या निराला की कृतियों के तिथिक्रम तथा इन कृतियों के प्रथम तथा अंतिम हस्तलिखित प्रारूप भी सुलभ नहीं हैं। इनके तिथिक्रम विवादास्पद सिद्ध हो रहे हैं और इनके मुद्रित रूप चीथड़ों में ढके पाए जाने लगे हैं। इसलिये, हम अभी से सावधान नहीं हुए, तो भावी पीढ़ी के लिये अनावश्यक समस्याएँ उपस्थित होंगी। राष्ट्रकवि गुप्त जी के संबंध में भी यही स्थिति हो चली है। उनकी कविताओं में पाठभ्रांति और काव्य पुस्तकों के प्रकाशन बर्ष में कालभ्रांति उभर कर सामने आ रही है।

कतिपय लेखक गुप्त जी की कालजयी काव्यकृति 'भारत भारती' का प्रकाशन वर्ष सन् १९१२ ई० मानते हैं और कतिपय लेखक सन् १९१४ ई०; और इस संदर्भ में दोनों पक्षों के लेखक अपने अपने तर्क और प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। किंतु प्रबल बहुमत सन् १९१२ ई० का है। इसी प्रकार, कुछ लेखक राष्ट्रकवि गुप्त जी के प्रसिद्ध काव्य 'साकेत' की एक बहुविदित पंक्ति को इस रूप में लिखते हैं—'राम तुम्हारा 'वृत्त' स्वयं ही काव्य है, और कुछ लेखक इस रूप में :

'राम तुम्हारा 'चरित' स्वयं ही काव्य है। एकाध जगह मैंने यह पाठ भी देखा है—'राम तुम्हारा 'वृत्त आप ही' काव्य है। किंतु, प्रबल बहुमत है 'वृत्त' की जगह 'चरित' लिखनेवालों का।

अवश्य ही, इस प्रकार की मतद्वैधता हमारे ऐतिहासिक विवेक के लिये चुनौती है। 'साहित्य का इतिहास दर्शन' के लेखक आचार्य नलिन जी ने 'संस्कृत लिटरेचर' के बहुश्रुत पाश्चात्य लेखक मैकडोनेल के मत को उधृत करते हुए उनकी इस आशंका को संधुक्षित किया है कि भारतीयों ने अपने अतीत का इतिहास प्रस्तुत नहीं किया। यह तो अतीत की बात है, किंतु हम आज भी इस स्थिति में हैं कि निकट अतीत के इतिहास को भी असंदिग्ध नहीं बना पा रहे हैं। अपने राष्ट्रकवि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के संबंध में, जिनकी मृत्यु के अभी तीन दशक भी पूरे नहीं हुए हैं, हमारा शोध प्रयत्न अव्यवस्थित, अपूर्ण और सदोष है। मेरी धारणा है कि भारतीय संस्कृति 'गतं न शोचामि कृतं न मन्ये' सिद्धांत का समर्थन करती है, इसलिये अतीत के प्रति निःस्पृहता के कारण ही प्रायः प्रत्येक भारतीय लेखक से संवद्ध काल निर्धारण और कृतित्व परिचय निर्भ्रांत और पूर्ण नहीं हैं। राष्ट्रकवि के संबंध में शोधकर्ताओं तथा साहित्येतिहास लेखकों को सतर्क और साग्रह भाव से स्वयं परीक्षणपूर्वक, निश्चित परंपरा के आलोक में अपना आत्मविश्वस्त निष्कर्ष उपस्थित करना चाहिए, ताकि उनके (राष्ट्रकवि के) साहित्येतिहास का तिथि कम या कालानुक्रम अनिश्चित और संदिग्ध होने की स्थिति में न पड़े। ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा, एतद्विषयक अनिश्चितता गहराती जायगी।

लब्ध प्रतिष्ठ हिंदी संस्थान 'हिंदी विद्यापीठ,' देवघर की शोध त्रैमासिकी 'हिंदी विद्यापीठ पत्रिका' के 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जन्म शताब्दी अंक' में राष्ट्रकवि की मौलिक एवं अनूदित काव्यकृतियों की सूची, उनके प्रामाणिक प्रकाशन वर्ष के साथ प्रकाशित है। प्रामाणिक इस अर्थ में कि 'हिंदी विद्यापीठ पत्रिका' को वह सूची राष्ट्रकवि के विश्वस्त पारिवारिक स्रोत से उपलब्ध हुई है। आशा है, इससे शोध पाठकों को राष्ट्रकवि की कृतियों के काल निर्धारण की निश्चयता में समुचित और असंदिग्ध दिशा निर्देश प्राप्त होगा।

उदयपुर की 'राजस्थान साहित्य अकादमी' से सन् १९८७ ई० में प्रकाशित राष्ट्रकवि से संवद्ध संकलन कृति 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त : पुनर्मूल्यांकन' में तो कतिपय संभ्रांत लेखकों ने, जिनमें डा० प्रभाकर माचवे का नाम उल्लेख्य है, 'भारत भारती' का प्रकाशन वर्ष सन् १९११ ई० लिखा है? उनके अतिरिक्त कुछ लेखकों ने और स्वयं ही इस कृति के संपादक डा० प्रकाश आतुर ने सन् १९१२ ई० का समर्थन किया है। राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री हरिदेव जोशी ने तो भारत भारती का प्रकाशनवर्ष सन् १९१२-१३

ई० लिखा है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की शोध त्रैमासिकी 'परिषद् पत्रिका' के 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जन्मशती विशेषांक में प्रसिद्ध समालोचक डा० शिवनाथ ने 'भारतभारती' का प्रकाशन काल सन् १९१४ ई० लिखा है और इस संबंध में अपना सबल तर्क दिया है। उनका मत है कि 'भारत भारती' गुप्त जी की चौथी पुस्तक है, जिसका प्रथम संस्करण श्रावण शुक्ल १२, सं० १९७१ वि०, सन् १९१३ ई० में निकला था। डा० शिवनाथ ने अपने व्यक्तिगत पत्र में मुझे यह भी सूचित किया है कि उनके पास स्वयं गुप्त जी के हाथों लिखित उनकी (गुप्त जी की) कृतियों की प्रामाणिक सूची सुरक्षित है।

'भारत भारती' की प्रस्तावना' (पृ० २) से ज्ञात होता है कि श्रीराम-भक्त राष्ट्रकवि ने इसकी रचना आरंभ की थी श्रीरामनवमी, सं० १९६८ वि० से और इसे पूरा किया सं० १९६९ वि० की श्रीकृष्णजन्माष्टमी को। इस अंतःसाक्ष्य पर मेरी अपनी धारणा बनती है कि सन् १९१२ ई० 'भारत भारती' का रचनाकाल है और सन् १९१४ ई० उसका प्रकाशन काल है; क्योंकि सं० १९६९ वि० में लिखित इस रचना का, दो वर्षों बाद, सं० १९७१ वि०, अर्थात् सन् १९१४ ई० में प्रकाशित होने की बात असहज और अप्रामाणिक नहीं है। इस प्रकार, डा० शिवनाथ का प्रमाणपुष्ट प्रकाशन कालनिर्धारण सत्यता के अधिक निकट है। जो हो, किंतु यह आवश्यक है कि हिंदी जगत् में राष्ट्र-कवि की सर्वख्यात कृति 'भारत भारती' के प्रकाशन वर्ष को अनेक मोड़ देकर उसे अनिश्चित और संदिग्ध कर देने का प्रमाद किया गया है।

ध्यातव्य है कि गौण या मुख्य साहित्यकारों की कृतियों का सही तिथि-क्रम इतिहास का प्रमुख पक्ष है। सही तिथिक्रम या कालानुक्रम के अभाव में, तात्विक या शास्त्रीय साक्ष्य की प्रचुरता के बावजूद, सही साहित्यिक इतिहास का पुनर्निर्माण असंभव ही है। सही तिथिक्रम से कृति विशेष की रचना के समय की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि विभिन्न पृष्ठभूमियों और कृतिकार के मन, मस्तिष्क पर पड़ें उनके प्रभावों के अध्ययन की सुगमता रहती है।

कहना न होगा कि राष्ट्रकवि गुप्त जी की 'भारत भारती' से बीसवीं शती के प्रारंभिक दशक की स्थिति को समझने की बड़ी सशक्त पृष्ठभूमि उपलब्ध होती है। यों, यदि हम समष्टिगत रूप से 'भारत भारती' का रचनाकाल ईसा की बीसवीं शती का द्वितीय दशक मानें, तो तत्कालीन समाज और व्यवस्था का समेकित अध्ययन संभव है, किंतु व्यष्टिगत रूप से सन् १९१२ या १९१४ ई० में घटित किसी विशिष्ट घटना की तिथि को यदि हम सन् १९११ या १९१३ ई० में मानेंगे, तो इतिहास, सही तिथि की दृष्टि से, प्रामाणिक नहीं

४

रह पाएगा। इसलिये किसी कृति के तिथिक्रम की अनिश्चयता की स्थिति न आने पर ऐसा प्रयास प्रत्येक साहित्य चिंतक, विशेषत: साहित्येतिहास लेखक के लिये तो अनिवार्य है।

राष्ट्रकवि गुप्त जी की असाधारण काव्य रचनाओं में साधारणीकरण के ऐसे अनेक प्रसंग परिगुंफित हैं, जो सहृदय पाठकों के मनोभावों को सहज ही उद्वेलित और आवर्जित करते हैं। नि:संदेह, वास्तविकता, स्वाभाविकता और आदर्श का प्रकृत प्रदर्शन गुप्त जी के काव्यों का सहज सृष्टि वैशिष्ट्य है। गुप्त जी के काव्यों में चित्रित पात्रों की मनोभूमि के साथ पाठकों की मनोभूमि की सहज तदात्मकता हो जाती है। राष्ट्रकवि ने अपनी आकर्षक व वचोभंगियों में वागर्थ की तरह संपृक्त भाषाशास्त्र और काव्यशास्त्र के समेकित प्रयोग वैचक्षण्य द्वारा विलक्षण साधारणीकरण शक्ति का विनियोग किया है। उनके भाषिक प्रयोगों की विपुलता और विविधता देखकर 'राष्ट्रकवि भाषाकोश' की सहज ही अपेक्षा अनुभूत होती है। कोई भी शोधकर्ता तात्विक शोध '(फंडामेंटल रिसर्च)' के तहत 'राष्ट्रकवि भाषाकोश' तैयार कर शोधोपाधि का अधिकारी हो सकता है।

——

खड़ी बोली को पूर्ण काव्योचित रूप देनेवाले : श्री मैथिलीशरण गुप्त

डा० सुधाकर सिंह

किसी भी साहित्यकार को परखने और उसके रचनासंसार का वैविध्य और वैशिष्टय आँकने के लिये जहाँ तमाम काव्य शास्त्रीय पक्षों का अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है, वहीं उसकी रचनाधर्मिता और सृष्टिकौशल की आधारिक परिचयात्मक उद्भावना के आकलन हेतु भाषा के मूल्यांकन का पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं होता है। देखा जाय तो किसी कवि या साहित्यकार की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता हमें इन कारणों से आवश्यक जान पड़ती है -कवि की अभिव्यंजना शक्ति और उस अभिव्यंजना में उसे कितनी सफलता मिल पाई है, यह देखने के लिये, भाषा वैज्ञानिक और व्याकरणिक दृष्टि से रचनाकार की सफलता जाँचने के लिये, कवि जिस युगविशेष या समाज का है उस युग या समाज की भाषा तक समृद्धि को देखने के लिये तथा समकालीन अनेक भाषाओं के पारस्परिक आदान प्रदान और व्यवहार को परखने के लिये भावों और विचारों से अति समृद्ध होते हुए भी यदि रचनाकार में अपने विचारों को पाठकों तक पहुँचाने की क्षमता अर्थात् अभिव्यंजना शक्ति नहीं है तो पाठक उसके विचारों से परिचित हो पाने में समर्थ नहीं हो पाएँगे। ऐसी स्थिति में प्रायः यह देखा जाता है कि भाषा प्रयोग जितना ही समर्थ और सोद्देश्य होगा, पाठक के हृदय पर कवि या रचनाकार के भावों का आधिपत्य उतना ही अधिक और टिकाऊ होगा। भाषाई शब्द भंडार, शब्द चयन और प्रयुक्त शब्दों की प्रासंगिकता, किसी भी भाषा को शक्ति को संवर्द्धित करते हैं। भाषा के दो पक्ष हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। अतः जहाँ कवि की रचनाधर्मिता भावपक्ष के संप्रेषण की ओर उन्मुख हो वहीं यदि उसकी भाषा का कलात्मक सौंदर्य उपेक्षित है तो उसकी भाषा में किसी भी स्तर पर भाषिक सौंदर्य आ ही नहीं सकता है। और वह उपेक्षित भावों की अभिव्यंजना या भाव संप्रेषण में किसी भी रूप से सफल कवि या रचनाकार नहीं कहा जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि किसी कवि की रचना में जहाँ भावजनित रसोद्रेक हो वहीं कलात्मक रोचकता भी अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रहे। भाषा की इस कलात्मक रोचकता के आधार हैं–भाषात्मक बोधगम्यता, संगीतमयता, श्रुतिमाधुर्य, उक्ति वैचित्र्य आदि। भाषा में जितनी अधिक मात्रा में ये गुण होंगे, कृति के घटनाक्रम, भावों के संप्रेषण आदि उतने ही प्रभावशाली होंगे। घटनाक्रमों की सर्वांग प्रस्तुति और उन घटनाओं के माध्यम से कवि जिन भावों की सर्जनाकर पाठक तक संप्रेपित करना चाहता है, उन भावों के प्रक्षेपण की प्रविधि मात्रा के कलात्मक रूप को उद्घाटित करती है। भाषा के इस कलात्मक रूप को प्रत्यक्षित

सजाने और सँवारने में ही कुछ रचनाकार महाकवि केशव की कोटि में आ जाते हैं। अर्थात् वे भाषा की सहजता को नष्ट कर उसे अलंकार बहुला बनाकर सर्वथा क्लिष्ट और कभी कभी तो अनावश्यक और गढ़े हुए शब्द प्रयोगों से काव्यशास्त्रीय कोष बना देते हैं।

मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के लिये प्रमुख और सहजतम साधना के रूप में भाषा मानव को ईश्वर की देन है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की भाषा मानवीय संवेदना के संप्रेषण में सहज समर्थ है। इनकी काव्य रचना का प्रारंभ १५ वर्ष की अवस्था में हुआ। यह युग ब्रजभाषा का युग था। उस युग के काव्य रसिकों का मन कविता की भाषा के रूप में ब्रजभाषा के माधुर्य का कायल था। भारतेंदु जी भी गद्य के हेतु खड़ी बोली को उपयुक्त मानते थे परंतु रचना के लिये उन्होंने भी ब्रजभाषा को ही माध्यम बनाया है। यद्यपि भारतेंदु जी ने जो गजलें लिखी हैं अधिकतर वे शुद्ध हिंदी (खड़ी बोली) में ही हैं जिन्हें आलोचक खड़ी बोली की पद्य रचना में स्थान देने में हिचकते हैं। इसके मूल में भारतेंदु जी का स्व कथन ही लगता है। पं० प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट भी कुल मिलाकर भारतेंदु के विचारों के ही समर्थक थे। हाँ, हरिऔध जी ने अवश्य ही अपनी रचनाओं पर ब्रजभाषा के जादू का असर नहीं होने दिया। भारतेंदु युग में कुछ रचनाएँ खड़ी बोली में अवश्य लिखी गईं परंतु कोई भी कवि उभर कर इस तरह नहीं आया कि उसे खड़ी बोली का कवि कहा जाता। सन् १९०३ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गद्य और पद्य की भाषा में एकरूपता का प्रयत्न आरंभ किया और उन्हीं की प्रेरणा और प्रोत्साहन से खड़ी बोली में प्रचुरता से काव्य रचना होने लगी। धीरे धीरे खड़ी बोली में लिखी रचनाएँ समाज में अपेक्षित रूप से समादृत भी होने लगीं। गुप्त जी के पूर्व खड़ी बोली का स्थिर और परिष्कृत रूप सामने नहीं था। व्याकरण और वाक्य विन्यास की अनेक त्रुटियाँ उसमें विद्यमान थीं। भारतेंदु और श्रीधर पाठक की रचनाएँ इस रूप में देखी जा सकती हैं। जिस समय गुप्त जी का पदार्पण साहित्य जगत् में हुआ, उस समय तक खड़ी बोली के स्वरूप में कोई उल्लेखनीय परिवर्धन नहीं हुआ था। उसका शब्द भंडार बहुत ही सीमित था। ऐसी स्थिति में प्रयोगार्ह शब्द संस्कृत भाषा से उधार लिए जाते थे। अरबी फारसी के शब्दों के प्रयोग में भी कृपणता या संकोच की प्रवृत्ति नहीं थी। स्वयं आचार्य द्विवेदी की भाषा में भी संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य मिलता है। यह दोष नहीं वरन् युग विशेष की संदर्भगत आवश्यकता की विवशता थी। धीरे धीरे द्विवेदी जी भाषा के इस प्रयोग की ओर सचेष्ट हुए और उनका ध्यान खड़ी बोली के शुद्ध रूप के प्रयोग की ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आनेवाली रचनाओं में भाषा और व्याकरण की अनेक त्रुटियों में सुधार प्रारंभ किया और कभी कभी तो सुधार के इस क्रम में पूरी की पूरी कविता

का रूप ही बदल जाता था। गुप्त जी ने १९०५ ई० में 'हेमंत' शीर्षक एक कविता लिखी और 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। आचार्य द्विवेदी ने भाषिक स्तर पर उसे सुधारा। दोनों रूप द्रष्टव्य हैं—

मूलरूप—

'ओढ़ें दुशाले अति उष्ण अंग,
धारे गरू वस्त्र हिये उमंग।
ते भी करे हैं सब लोग सी, सी,
हेमंत में हाय कंपे बतीसी।'

सुधार के बाद—

'अच्छे दुशाले, सित पीत काले,
हैं ओढ़ते जो बहुवित्त वाले,
तो भी नहीं बंद अमंद सी, सी,
हेमंत में हाय कँपती बतीसी।'

आचार्य द्विवेदी द्वारा किए गए इस सुधार का गुप्त जी पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनकी पहली पुस्तक 'रंग में भंग' जो पहले ब्रजभाषा में लिखी गई थी, अनूदित होकर खड़ी बोली में आई। उस समय उसकी भाषा पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसी रचना के साथ वे संस्कृत गर्भित भाषा के प्रयोग से बचकर शुद्ध खड़ी बोली के रूप की ओर बढ़ने लगे थे। इसके बाद की रचना 'जयद्रथवध' में शुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग बड़ी ही कुशलता के साथ किया गया है। 'भारत भारती' में भी बड़ी ही शुद्ध और परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया गया है। गुप्त जी की संपूर्ण रचनाओं का भाषाई दृष्टि से अध्ययन और विश्लेषण करने के बाद उनकी भाषा के तीन सोपान हमारे सामने आते हैं—

१. प्रथम सोपान—'रंग में भंग' से 'पंचवटी' तक।
२. द्वितीय सोपान—'पंचवटी' से 'साकेत' और 'यशोधरा' तक।
३. तृतीय सोपान—'साकेत' और 'यशोधरा' के बाद की रचनाओं में।

'रंग में भंग' से गुप्त जी का साहित्य संसार प्रारंभ होता है, जो भाषा तक विकास की दृष्टि से 'पंचवटी' तक धीरे धीरे चलता है। यह उनकी भाषा का आरंभिक काल कहा जा सकता है। 'पंचवटी' से चलकर 'साकेत' और 'यशोधरा' की रचना तक उनकी भाषा का पूर्ण परिमार्जन हो चुका था। साकेत के बाद की रचनाओं में भाषा का प्रौढ़तम रूप प्रयुक्त हुआ है। गुप्त जी की भाषा के विकास के ये सोपान उनकी वर्षों की साहित्य साधना के परिणाम हैं।

गुप्त जी और उनके समकालीन या पूर्ववर्ती सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में संस्कृत के शब्द भांडार का खुलकर प्रयोग किया है। परंतु गुप्त जी इन सबसे भिन्न इस बात में हैं कि उनकी भाषा में संस्कृत भाषा के लंबे समास और संधि-

युक्त शब्दों का प्रयोग होते हुए भी न के बराबर हैं। भाषा का मूल स्रोत संस्कृत होते हुए भी ये उस पर आधारित नहीं रहे। कहीं कहीं, तुकों का भली प्रकार निर्वाह हो जाय, इस बात को ध्यान में रखते हुए अरंतुद, त्वेष, कल्य, आंज्य, विष्णु और जिष्णु जैसे सर्वथा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बड़ी ही निपुणता के साथ किया है। 'द्वेष' के स्थान पर 'त्वेष', 'विष्णु' के स्थान पर 'जिष्णु', 'हास्य' के स्थान पर 'अस्य' का प्रयोग भी मिलता है। 'साकेत' में प्रयुक्त 'लाक्ष्मण्य' और 'सपरागांबुजता' शब्द पंक्ति में माला के फूल की भाँति लगते हैं। प्रसंगानुकूल कहीं कहीं गुप्त जी ने आंचलिक शब्दों का प्रयोग भी किया है। 'साकेत' में ऐसे स्थल सरलता से देखे जा सकते हैं। धाड़ मारना, धड़ाम से गिरना, डिडकारना, ताला, तथा कीजो, दीजो, मानियो, जानियो आदि क्रियारूप शुद्ध रूप से आंचलिक हैं। कवि द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्द भाव सौंदर्य को बढ़ाने में मदद करते हैं। ब्रज भाषा के शब्द तो बहुतायत से देखे जा सकते हैं। मुखबिर, मोमिन, कबूलत, सा इलाह इल्लिल्लाह, महबूब और नवासा जैसे उर्दू, कछोटा, ढोर, डाँगर, टिकुली जैसे देशज और बालडान्स, बैरक, बार्डर और आर्डर आदि अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भाषाई प्रवाह में रोड़े का काम नहीं करते हैं। अर्थ की दृष्टि से सही किंतु प्रयोग की दृष्टि से सर्वथा अप्रचलित शब्दों मृदु (अमरूद), कलख (कबूतर), स्पर्धा (साहस) का प्रयोग गुप्त जी की विशेषता है।

इस प्रसंग में गुप्त जी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनेक प्रकार की विचित्रताओं तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग और कहीं कहीं तो सर्वथा नए गढ़े हुए शब्द प्रयोगों के बाद भी उनकी भाषा में किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं आने पाया है। उन पर द्विवेदी जी का पूरा प्रभाव था फिर भाषा में व्याकरणिक दोष कैसे आने पाते। भाव संप्रेषण के साथ साथ संपूर्ण वाक्य विन्यास एक क्रम में है। यथा—

'निशि की अँधेरी अवनि के, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य में तेरे, न जाने, कौन सज्जा हो रही।
मेरी नियति नक्षत्रमय ये बीज अब भी बो रही,
मैं भार फल की भावना का व्यर्थ ही क्यों ढो रही ?

कहीं कहीं गुप्त जी पर अंगरेजी वाक्य विन्यास का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। डा० नगेंद्र के विचार से यह प्रयोग संवादों में नाटकीयता की अभिव्यक्ति हेतु किया गया है। जैसे—

'औषधि का रत्न-पात्र देने चली दीदी को,
किंतु 'नहीं' सुन, हँस बोली-बड़ी मीठी है।'

भाषा के स्वरूप को संवर्द्धित करने में जितना महत्व शब्द, वाक्य रचना और व्याकरण का है, उतना ही महत्व भाषा के रूपसौष्ठव का है। भाषा के

आवश्यक तत्व के रूप में अलंकारों का महत्व अप्रतिमेय है। यद्यपि गुप्त जी की भाषा का अध्ययन करने से ऐसा कहीं भी नहीं लगता है कि गुप्त जी का अलंकारों के प्रति विशेष आग्रह और विशेष आकर्षण था या अलंकारों के प्रयोग के प्रति उनका विशिष्ट मोह रहा हो फिर भी यत्र तत्र अलंकारों के प्रयोग भाषा के सौंदर्य को निखारते हैं। 'झाँक न झंझा के झोंकों में, झुककर खुले झरोखे से' पंक्ति में अनुप्रास की सुंदर छटा दर्शनीय है। वीप्सा पुनरुक्ति प्रकाश, यमक, श्लेष और मानवीयकरण आदि अलंकारों के प्रयोग से गुप्त जी की भाषा का सौंदर्य संवर्द्धित हुआ है और उसके स्वरूप में निखार आया है। यमक और श्लेष अलंकार का एक साथ जैसा प्रयोग गुप्त जी ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है—

'बोला वह-जो हो तुम गुरुजन अंततः
मारूँ क्या तुम्हें मैं, उपहार में हार लो।'

गुप्त जी की एक बड़ी प्रिय आदत रही है, वह यह कि पहले वे किसी देशज शब्द का प्रयोग करते हैं और फिर उसको प्रयोग द्वारा स्पष्ट भी करते हैं। अर्थात् जिस भाव को वे प्रस्तुत करना चाहते हैं उसे पूरी तरह स्पष्ट रूप से पाठक के संमुख रख देते हैं। यथा—

सुनो क्या देखो यह खटराग,
अनोखा खटपट अटपट राग।
विकट नट खट, नर्तित नट राग,
लाख घट और एक रट राग।'

यहाँ यद्यपि शब्दों के प्रयोग चौंकाने वाले हैं परंतु 'खटराग' के भाव को पूरी तरह ध्वनित करने के लिये जिस प्रक्रिया को उन्होंने अपनाया है, निश्चित ही वह श्लाघ्य है।

गुप्त जी के काव्य में बिहारी की भाँति गूढ़ प्रसंगों का संकेत मिलता है। अपनी बात कहने के साथ पुट के रूप में ऐसे शब्द का प्रयोग कर देना जो अन्यत्र कहीं से संबंधित हों, गुप्त जी की अपनी विशेषता है। यह विशेषता उनकी भाषा की प्रौढ़ता और शक्ति तथा सामर्थ्य की द्योतक है। यशोधरा की निम्न पंक्तियों में यह प्रसंग विधान द्रष्टव्य है—

'बाँधे थे सौ शस्त्र लुटेरे,
और निहत्थे थे हम लोग,
तू 'नैनं छिन्दन्ति' मंत्र सा,
जगा, भगा, सारा भय रोग।'

तीसरे सोपान की रचनाओं तक आते आते भाषा पर कवि का पूरा अधिकार हो गया है। कवि की तुक योजना भाषा पर उसके अधिकार को प्रमाणित करती है। विचित्र तुकों को भी कवि सुगमता से मिला लेता है। यथा—

'रश्मि रश्मि को ग्रहण, स्वर्ण की रेखा को ज्यों शाण,
धरने चला दैत्य दुर्ग को ताने विकट विषाण।' तथा

तथा

'फिर याद पड़े टटके टटके,
ब्रज-गोप-वधू दधि के मटके,
उनका कहना हटके ! हटके !
उलझी सुलझी लटकें लटकें,
नटनागर आज कहाँ अटके ?'

किंतु कहीं कहीं यह तुक प्रियता बहुत प्रभावशाली नहीं बन पाई है। साकेत में विरहिणी उर्मिला का 'आओ', 'जाओ' इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। साकेत में प्रयुक्त संवाद या यशोधरा के संवाद कवि के भाषागत चमत्कार और अधिकार के प्रमाण हैं। संवादों की ऐसी मौलिक उद्भावना अन्यत्र दुर्लभ है। पढ़ते समय पाठक को ऐसा लगता है, जैसे सचमुच वह उस संवाद का प्रत्यक्ष श्रोता है। उत्तर प्रत्युत्तर की समाँ बँध जाती है। साकेत का एक स्थल देखिए—

'रावण—पंचानन के गुहाद्वार पर रक्षा किसकी ?
मैं तो हू विख्यात दशानन, सुधकर इसकी।
राम—हँस बोले प्रभु 'तभी द्विगुण पशुता है तुझमें,
तूने ही आखेट रंग उपजाया मुझमें।'

गुप्त जी में शब्दों द्वारा स्वरूप के चित्रांकन की विचित्र क्षमता है। वे जब किसी का वर्णन करने लगते हैं तो खुलकर वर्णन करते हैं और उस वर्णन में चित्रमयता आ जाती है। बनवासिनी सीता का जो विंब साकेत में उन्होंने अपनी कलम तूलिका से प्रस्तुत किया है वह स्पृहणीय है। सीता का यह विंब स्वयं में कितना भव्य और पावन है। रूप चित्रण के इस क्रम में कवि ने गोस्वामी तुलसी-दास की मर्यादा का निर्वाह करते हुए सीता के सौंदर्य का निरूपण पूरी कुशलता और सफलता के साथ किया है।

गुप्तजी की भाषा में गतिशीलता देखते ही बनती है एक जो बिंब बनता है और वह फिल्म के पर्दे पर आने वाले दृश्यों की भाँति तुरंत आगे बढ़ता है। साकेत में उर्मिला का एक ऐसा ही बिंब—'पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।'

न केवल मानवीयचित्र बल्कि वर्षा, रात्रि, उषा, चाँदनी आदि अनेक प्राकृतिक चित्रों को भी कवि ने अपनी कलम तूलिका से बड़ी ही सहजता के साथ चित्रित किया है।

गुप्तजी की रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उन्हें जो भी अभिप्रेत था उसे उन्होंने सीधी और सपाट भाषा में कहा—या यों भी कहा जा सकता

है कि सपाट बयानी गुप्तजी की भाषा का आधारिक और उल्लेखनीय सत्य है। उन्होंने सरल और स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त होने वाले शब्दों के स्थान पर शब्दों को गढ़कर रखने का उपक्रम नहीं किया है। इस प्रक्रिया में समाज में व्यवहृत होने वाले अनेक मुहावरे उनकी रचनाओं में हूबहू प्रयुक्त हुए हैं जो भाषा के सौंदर्य को निखारते हैं। मुहावरों का सफल और बेरोक प्रयोग भाषा पर कवि के अधिकार को प्रमाणित करता है। गूदड़ी में लाल, नाकों चने चबाना, दाँतों तले तिनका दबाना, कच्ची नींद जगना, मुँह में आग लगना, लोहा लेना, छाती फटना जैसे अनेक मुहावरों का सफल प्रयोग गुप्तजी की रचनाओं में देखा जा सकता है।

यह निर्विवाद है कि गुप्तजी की भाषा सरल प्रवाह में प्रवाहित होती हुई 'रंग में भंग' से प्रारंभ होकर 'साकेत' और 'यशोधरा' की भाषा के स्वरूप तक पहुँचती है जहाँ उसे भाषा की उच्च भावभूमि प्राप्त होती है। गुप्तजी अपनी रचनाओं में पुष्ट और प्रांजल भाषा के प्रयोक्ता थे। खड़ी बोली की लाक्षणिक शक्तियों से पूर्णतः संपन्न न होते हुए भी उनकी भाषा शुद्धता, व्यापकता और वर्णन क्षमता के कारण उत्कृष्ट है जिससे भाषा पर उनका अधिकार प्रदर्शित होता है। भाषाई शब्दभंडार, शब्दों का चयन और प्रयुक्त शब्दों की प्रासंगिकता आदि के कारण गुप्तजी की भाषा की शक्तिमत्ता और बढ़ गई है। उनकी भाषा में कलात्मकता, रोचकता, भाषाई बोधगम्यता, संगीतमयता, श्रुतिमाधुर्य उक्ति वैचित्र्य आदि गुण सहज रूप में विद्यमान हैं। घटनाक्रमों की सर्वांग प्रस्तुति और भावों के संप्रेषण में गुप्तजी पूरी तरह सफल हुए हैं। इस प्रक्रिया में उनकी भाषा कहीं भी सहजता नहीं खोने पाई है। डा० नगेंद्र के शब्दों में—'गुप्तजी ने ही द्विवेदीय भाषा को सबसे पूर्ण काव्योचित रूप प्रदान किया। शब्दालंकार स्वतः ही भाषा की वसनसज्जा में रत हैं। अनुप्रास की रुनझुन, श्लेष का चमत्कार और पुनरुक्ति का वैभव उसमें कहीं भी मिल जाएगा। परंतु अलंकृत और सांस्कृतिक होने के कारण उसमें खड़ी बोली का अपनापन नष्ट नहीं होने पाया है।'

'साकेत' में मिथ प्रयोग

डा० जनार्दन उपाध्याय

आदिम काल से काव्य में मिथकीय संरचना की प्रक्रिया चली आ रही है। भारतीय वाङ्मय में वैदिक सूक्तों से लेकर बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद, पंत निराला, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने क्रमशः रामायण, महाभारत, 'कुमार संभव', रामचरित मानस, कामायनी, लोकायतन, राम की शक्ति पूजा, साकेत, में मिथों का समावेश किया है। यूरोपीय भाषा में भी होमर, वर्जिल, दांते, मिल्टन, शेली, टी० एस० इलियट आदि ने क्रमशः इलियड, ईनीड, डिविनिआ, कामेडिया 'पैराडाइज लास्ट, प्रोमीथि अस अनबाउंड, वेस्टलैंड में अपने अपने देशकाल की संवेदनानुसार मिथों का काव्य संरचना में प्रयोग किया है। स्पष्टतः प्रत्येक युग का कवि अपनी अपनी युगीन संवेदनीयता एवं भाषिक साधनों के आधार पर मिथ का प्रयोग काव्य में करता है।

काव्य एवं मिथ का एकात्मभाव

एक युग की मिथ की अवधारणा प्रकृत्या दूसरे युग के मिथ प्रत्यय (मिथिक कान्सेप्ट) से संरचनात्मक प्रविधि प्रक्रिया में मूलवर्ती अभिप्रायगत (वेसिक मिथ मोटिफ़) साम्यता के होते हुए भी किंचित् परिवर्तित रहता है। इस परिवर्तन में देश के रागात्मक संबंधों, सामूहिक संस्कारों, भाषिक साधनों के साथ कवि व्यक्तित्व का अत्यंत ही प्रभावी सहयोग रहता है। आज के काव्य में मिथ का प्रयोग होता है और खूब हो रहा है। यहाँ तक कि यह एक फैशन भी बन गया है। चाहे काव्य मिथकीय संवेदना की गहराई को छू सके या नहीं, पर मिथ कथा का उपयोग हो रहा है। ये मिथ आदिम है। आदिम मिथों का स्वरूप एवं संवेदना स्तर आज से भिन्न है। आदिम मिथ सामूहिक अवचेतना या चेतना की कथात्मक अभिव्यंजना है, जब कि आधुनिक मिथ वैयक्तिक चेतना की सृष्टि हैं। परिणामतः या तो ये फैंटेसी का रूप धारण कर लेते हैं, (जैसे गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'कामायनी एक पुनर्मूल्यांकन' में किया है) या कवि के व्यक्तिगत प्रतीकों के भार से इतना बोझिल हो जाते हैं कि उनमें आदिम मिथ की गहराई और सहजता नहीं आ पाती। वे रूपक या अन्योक्ति मात्र बनकर रह जाते हैं। फिर भी आदिम मिथों से लेकर आधुनिक मिथों तक संरचना की प्रक्रिया में मूलभूत समानता है।

काव्य मिथ की ही भाँति अचेतन प्राक्तन संस्कारों को आलंकारिक भाषा द्वारा अभिव्यक्त करता है। हाँ, इतना अवश्य है जहाँ काव्य वैयक्तिक अचेतन या

चेतन संस्कारों की अभिव्यक्ति है, वही मिथ लोकचित्त की सामूहिक अचेतन संवेदनाओं का आद्य बिंबात्मक (आर्कीटाइपल) रूपायन है। काव्य भाषा मिथ के साथ वहीं तक है जहाँ उसका अभिधेयार्थ प्रमुख न होकर व्यंग्यार्थ प्रधान है। अभिधा से भाव व्यंजना में मिथ सर्जन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी से काव्य भाषा में रसात्मकता होने पर भी मिथकत्व नहीं आ पाता। काव्य में मिथकीय संरचना एक गहराई में बैठने की प्रक्रिया है। गाथात्मकता या वर्णनात्मकता मिथ को प्रशस्त नहीं करती। वह उसके उथलेपन में ही प्रवेश है। प्रस्तुत संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त और निराला का उद्धरण मिथकीय संरचना प्रविधि प्रक्रिया एवं मिथकीय प्रयोग के ऐकांतिक अभाव का व्याख्याता होगा।

(क) सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गए, यही बड़ा आघात।
सखि वे मुझसे कह कर जाते।
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते ?

(यशोधरा)

(ख) दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही—
वह संध्या सुंदरी परी सी, धीरे धीरे धीरे

(परिमल)

जब कि दूसरा उद्धरण मिथकीय भाषा प्रयोग को स्पष्ट करता है। प्रथम रस दृष्टि से पूर्ण होकर भी मिथकीय प्रयोग से सर्वथा शून्य है।

मिथकीय संरचना प्रविधि प्रक्रिया

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य 'साकेत' की मिथकीय संरचना का संधान उनकी काव्य सर्जनात्मिका शक्ति का अन्वेषण है। इन्होंने अपने काव्य में मिथों का प्रयोग युगीन संदर्भ में किया है। परिणामतः मिथों का आदिम रूप और मध्यकालीन चेतना आधुनिक संवेदना के सांस्कृतिक द्वंद्व एवं संस्कारों से संमिश्रित होकर नए उदात्त रूप में व्यक्त है। यद्यपि इनके मिथ प्रयोग की एक सीमा भी है। इन्होंने मिथों का प्रयोग नवीन भावभूमि पर किया है, पर उनकी निजी भक्ति या मध्ययुगीन अध्यात्मिकता के संस्कार तथा द्विवेदी युगीन हिंदी कविता की भाषा एवं वर्णनात्मकता के कारण वे 'साकेत' में अनेक जगहों पर गहराई में जाकर मिथ की अनुभूति एवं उसके संप्रेषण की समस्याओं का साक्षात्कार नहीं कर सके हैं। उस समय द्विवेदी युगीन कविता की भाषा का परिष्कार हो रहा था। इसीलिये इनमें वर्णनात्मकता, गाथात्मकता के कारण किसी भी मिथकीय विशिष्ट प्रसंग का विस्तार तो मिलता है, पर उसमें अपेक्षित घनत्व नहीं आ पाता। गाथात्मकता का उथलापन वर्णनात्मक होता है। मिथ अत्यंत

गहरे में प्रवेश कर चेतना के घनत्व का व्यंजन है। मैथिलीशरण गुप्त अनेक जगहों पर गाथात्मकता के उथलापन में ही संलग्न हो गए हैं। परिणामतः इनकी मिथ संरचना की प्रक्रिया एक सीमा तक वर्णनात्मक है। पर वे जहाँ भी गाथा या आख्यान की गहराई में प्रवेश करते हैं और अपने युग के संदर्भ में उसके सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करते हैं, वहाँ उनकी मिथकीय संवेदना स्पष्ट उभर कर सामने आई है। 'प्रदक्षिणा' में कवि राम के मिथ से लौटकर राम-कथा की घटनाओं की विवरणात्मकता की ओर उन्मुख होता है। यह कविता मिथ न होकर कथा का आभास देती है। राम ही इसके कथा नायक हैं, पर इसमें उनका मिथकीय रूप नहीं उभरा है। राम का मानवत्व ईश्वरत्व की ओर झुकता है, निर्मम होकर भी निज युग की मर्यादा प्रभु ने रखी। पर यही राम 'साकेत' में मिथ की भूमि पर ग्रहीत होकर जातीय प्रज्ञा प्रतीक बन गए हैं। 'युद्ध युद्ध बस मेरा युद्ध' की उद्घोषणा प्राकृतिक स्तर पर सर्जन, विनाश, मृत्यु एवं सृष्टि तथा मानवीय अंतजर्गत् के स्तर पर आसुरी दैवी प्रकृति सात्विक एवं मानसिक प्रवृत्तियों को संघर्ष, युग संदर्भ में अंग्रेजी शासन में बंदिनी सीता की मुक्ति अर्थात् असत् अंग्रेजी शासन में सीता रूपी बंदिनी स्वतंत्रता की मुक्ति के लिये संघर्ष और अंत में सत् की विजय का उद्घोष, मूलतः मिथ की सजर्नात्मक ऊर्जा के व्यंजक हैं। इस संदर्भ में सीताहरण का स्वतंत्रता का प्रतीक बनना, राम बनवास या निर्वासन, आत्म निर्वासन, एवं सर्जनात्मक निर्वासन का रूप लेकर युद्ध की दो स्तरों पर अभिव्यक्ति करता है। राम जीवन के संघर्ष के प्रतीक बन जाते हैं और अंत में विजय करते हैं। निर्वासन आत्म स्तर पर परम शांति का व्यंजक है। दोनों ही स्तर पर व्यक्ति मानस का निर्वासन बोध सर्जनात्मक है। राम कथा के ये ऐसे स्थल हैं जिसे छूकर मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'साकेत' में मिथकत्व प्रदान किया है। समूची कथा मिथकीय गरिमा से युक्त नहीं है और न तो उसमें उसका प्रभावी रूप ही उभरता है। पर जहाँ ऐसी संवेदनीयता आई है, वे स्थल निश्चय ही काव्य में मिथकीय संरचना की दृष्टि से प्रभविष्णु एवं प्रशंसनीय हैं।

मिथ प्रयोग के विविध आयाम

प्रसिद्ध समीक्षक कवि टी० एस० इलियट ने कहा है कि मिथ का काव्य में प्रयोग संक्षिप्तता, प्रभविष्णुता एवं घनत्व लाने की दृष्टि से किया जाता है। परिणामतः आज की कविता में वर्णनात्मकता की जगह मिथकीय प्रविधि (मिथिकल मेथेड) का प्रयोग किया जा रहा है। मिथ वर्णन की अपेक्षा कहीं अधिक गहराई में डूबता है और अनुभव की गहराई में एक संवेदन का साक्षात्कार करता है जिसे कवि अपने युगीन संदर्भ में नई अर्थवत्ता देता है। आज कविता में मिथ प्रयोग की अनेक रूप भंगिमाएँ हैं।

(१) संपूर्ण मिथ का प्रवंध रचना के परिदृश्य में संयोजन 'साकेत' में राम वृत्त के मिथ का ऐसा ही संयोजन है।

(२) किंचित् मिथकीय अभिप्रायों का काव्य रचना में प्रयोग मिथकीय अभिप्राय मृत्यु जन्म, सर्जन संहार का प्रयोग 'साकेत' में रामयुद्ध, राम निर्वासन, आदि प्रसंगों में द्रष्टव्य है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि समग्र काव्य में यही केंद्रीय मिथ अभिप्राय अनेकरूप में व्यक्त होता है। कभी नई सांस्कृतिक चेतना, कभी राष्ट्रीय स्वतंत्रता, तो कभी नारी मुक्ति और नरत्व में ईश्वरत्व के आधान द्वारा व्यंजित है।

(३) मिथ के एक खंड को देशकाल के रागात्मक, एवं सांस्कृतिक द्वंद्व के आलोक में नई अर्थवत्ता देते हुए संयोजन। पंचवटी प्रसंग इस संदर्भ में द्रष्टव्य है।

(४) मिथों को नई चेतना के संदर्भ में रखकर उसकी नूतन अर्थ विवृति। 'द्वापर' का कंस अंग्रेजी राज्य का प्रतीक है तो उग्रसेन के माध्यम से भौतिकता को स्वीकृति मिली है। मनुष्य की चेतना में देव-दानव-प्रवृत्तियाँ देव दैत्यों का यह संघर्ष मानवीय चेतना का संघर्ष है। मनुष्य अपनी मनुष्यता इसी संघर्ष से निकल कर प्राप्त कर सकता है। कंस नए मूल्यों का विरोधी है। द्वापर में कृष्ण ऐसी ही अंधी व्यवस्था को तोड़ने आते हैं—

यह बंधन बाधा अब कब तक
नहीं अधिक अब देरी
भाई कंस चेत जा तू भी
यह काले की फेरी।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में समग्र भिन्न का प्रयोग नई सांस्कृतिक सामाजिक, पुनरुत्थानवादी चेतना के संदर्भ में हुआ है। पर मिथकीय उपाख्यानों का खंडशः संयोजन भी है जो मूल धारा से जुड़ी है तथा तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना का संदर्भ उससे संपृक्त है। रामवृत्त के मिथ का 'पंचवटी' प्रसंग इसी प्रकार की संवेदनीयता को रूपायित करता है। इसमें कवि ने नारी प्रणय, अधिकार समस्या, पुरुष मर्यादा का प्रश्न शूर्पणखा के मिथकीय प्रसंग से उठाया है। मुक्त प्रेम का निवेदन लक्ष्मण के सामने है। लक्ष्मण नैतिकतावश इस अभिप्राय को नहीं समझते। समझाने पर अपने को विवाहित बताते हैं। पंचवटी में पुरुष और नारी की अलग अलग नैतिकता पर प्रश्न चिह्न शूर्पणखा रखती है।

'पर क्या पुरुष नहीं होते हैं
दो दो दाराओं वाले
नरकृत शास्त्रों के सब बंधन

है नारी को ही लेकर
अपने लिये सभी सुविधाएँ,
पहले ही कर बैठे हैं नर ॥

यह प्रेम के समान सामाजिक अधिकार एवं समान नैतिकता का व्यंजक है। वस्तुतः यह नारी के भीतर की अपनी ही मुक्ति की छटपटाहट है।

साकेत का मिथकीय संदर्भ

वैदिक वाङ्मय का केंद्रीय मिथ देवासुर संग्राम है। यह दो धरातल पर व्यक्त है भौतिक प्रकृति में सर्जन विनाश के संघर्ष का व्यंजक और मानव प्रकृति के अंतर्गत विद्यमान सात्विक, तामसिक राग द्वेष की प्रवृत्तियों के संघर्ष का निरूपण। यही मिथकीय अभिप्राय (मिथिक मोटिफ) पूरे भारतीय वाङ्मय में अनेक विध अभिव्यक्त होता रहा है।

'साकेत' में राम रावण युद्ध एक तरफ देवासुर संग्राम के मिथ एवं दूसरी तरफ प्रकृति की उत्पादिकता शक्ति सीता के जन्म की कथा में व्याप्त है। मेकडोनेल राम को इंद्र का प्रतीक और रावण को वृत्र का प्रतिरूप मानता है। वृष्टि देवता इंद्र कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। वृत्र कल्याण में बाधक शक्तियों अंधकार, अनावृष्टि आदि का प्रतीक है। इंद्र के सहायक मरुत् हैं और राम कथा में मरुत पुत्र हनुमान राम के सहायक हैं। वृत्त से गौओं का उद्धार सीता के उद्धार का रूप लेता है। इस प्रकार कालांतर में देवासुर-संग्राम-मिथ परिवर्तित होकर अपने मूल अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए अभिव्यक्त होता है। 'साकेत' में 'युद्ध युद्ध बस मेरा युद्ध' राम वृत्त का केंद्रीय मिथ है। "साकेत" में सीताहरण मिथकीय केंद्र बनता है जहाँ सभी चीजें एकत्र होकर सत् असत् के संघर्ष का रूप ले लेती हैं। यहाँ राम भारतीय जनमानस के प्रज्ञा प्रतीक बनकर उभरे हैं। उनका स्वतंत्रता अथवा मानवीय मुक्ति के लिये असत् पक्ष से युद्ध सर्जनशील युद्ध है। उनके साथी नल नील, बानर, रीछ, वनवासी आदि सांस्कृतिक प्रभाव से दूर हैं। ये सब परंपरागत राजतंत्रात्मक प्रणाली के शिकार हैं, जिन्हें वन्य जीवन जीने के लिये बाध्य होना पड़ा है। राम इन्हें अपनी संस्कृति के साथ जोड़कर शोषित दलित का संघर्ष अपने हाथ लेते हैं। राम का यह युद्ध गुप्तजी के समाज में था। वस्तुतः यह तो हर काल में सबके भीतर और बाहर समाज में चलने वाला युद्ध है। साकेत के काल में विरुद्ध भी राम की यह युद्ध घोषणा विशेष महत्व रखती है। राम रावण युद्ध संस्कृतिहीन लोगों को साथ लेकर एक विशेष दृष्टि से देखा गया है। यह वस्तुतः आज के शोषक, जो दानव, राक्षस सब हैं; का ही युद्ध है। दूसरा तथ्य है भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की पृष्ठभूम में युद्ध की अवधारणा। अंततः असत् पक्ष की हार तथा रावण की पराजय होती है जिससे एक नया सांस्कृतिक स्वप्न साकार होता है।

सीता मुक्ति के लिये बृहत्तर संग्राम की तैयारी में सभी अयोध्यावासी कूदने को तत्पर हैं, पर वसिष्ठ तपोबल से राम रावण युद्ध को दिखाकर राम विजय के लिये आश्वस्त कर देते हैं। राम रावण युद्ध यहां सांस्कृतिक युद्ध है जिसमें लोक-रक्षा एवं लोक स्वतंत्रता की भावना सन्निहित है। साकेत युद्ध में लंका विजय से नूल्यवान आर्यत्व के प्रसार और भारतीय संस्कृतिकरण महत्वपूर्ण हैं। सीतामुक्ति स्वतंत्रता है :

राक्षसियों से घिरी हमारी देवी सीता
बंदी गृह में वाट जोहती खड़ी हुई है,
व्याधिजाल में आज हंसिनी पड़ी हुई है।

युग युग से बंदी होती प्रत्येक काल की स्वतंत्रता मुक्ति के लिये राम का काल के प्रति युद्ध घोषणा अधिक मूल्यवान है ;

आज काल के विरुद्ध है,
युद्ध युद्ध बस मेरा युद्ध।
रोऊँगा पीछे, होऊँगा
उऋण प्रथम रिपु ऋण से।

साकेत का मिथकीय संभार और आधुनिक परिदृश्य

'साकेत' में राम ने युग की प्रेरणा एवं आकांक्षा पृष्ठभूमि में नवीन अर्थ ग्रहण करते हैं। रामचरितमानस से साकेत का कैनवास छोटा है, फिर भी इसमें युग की आस्था का प्रतिबिंबन है। इसके होते हुए भी तुलसी की भावभूमि से इसकी मिथकीय संरचना भिन्न है। मैथिलीशरण गुप्त ने राम के प्रति अपनी स्वयं की भक्ति होते हुए भी, उन्हें मानवीय आधार पर प्रस्तुत किया है। ये राम राजतंत्रात्मक शक्ति की जगह प्रजातंत्रात्मक भावनाओं के साथ प्रतिष्ठित हैं। फिर भी इसमें राम मध्यकालीन संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं। इतना अवश्य है कि वे आधुनिक युग में निकट हैं।

साकेत में राम भारतीय मन में पुनरुत्थानवादी स्वप्न के रूप हैं। आधुनिक संवेदना के परिप्रेक्ष्य में साकेत के राम का मिथ पुरुत्थानवादी चतुष्कोणीय रूप नारी मुक्ति, स्वतंत्रता युद्ध, मानवतावाद, आदर्शीकरण, में रूपायित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'साकेत में आधुनिक चेतना से युक्त राम वृत्त के चार मिथकीय केंद्र विंदु हैं।

(१) नारी (मुक्ति वीमन लिव) "अर्थ नहीं केवल उपभोग्य"
(२) युद्ध का प्रश्न (युद्ध युद्ध बस मेरा युद्ध)।
(३) राम की मानवीय परिकल्पना; नारायण की नरत्व भूमिका ("राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?)।
(४) आदर्शीकरण ("आदर्श ही ईश्वर है हमारा")।

नारी मुक्ति मिथकीय केंद्र विंदु

मैथिलीशरण गुप्त के काल की सांस्कृतिक चेतना और पुनर्जागरण में युग युग से उपेक्षित नारी के प्रति एक नई क्रांतिकारी भावना का उदय हुआ। 'अर्थ नहीं केवल उपभोग्य' की धारणा इस समय टूटती नजर आ रही है। फलतः नारी काम कामिनी नहीं रही। वह स्वतंत्र जीवन जीने के लिये छट पटा रही है। सिमेन द वुआ ने अपनी पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' में आज जिस नारी क्रांति, मुक्ति की आवाज उठाई है, उस मुक्ति की छटपटाहट द्विवेदी युग में हो चुकी थी। अपने समान अधिकारों की आवाज उठाकर वह पुरुष मर्यादा और उसके यौन भोग पर प्रश्न चिह्न लगाती है। प्रसिद्ध विचारक फ्राइडन ने 'द फैमिनिन मिस्टिक' में यह बड़े ही स्पष्ट ढंग से कहा है कि कैसे पुरुष वर्चस्व ने मनोवैज्ञानिक दबाव के कारण नारी को कामपूर्ति का साधन बनने के लिये बाध्य किया है। उसने पत्नी, गृहिणी, माँ, प्रेयसी की स्वानुभूतियों के आधार पर स्त्रियों की दुर्दशा का भयावह चित्र प्रस्तुत किया है। ये सभी तथ्य यह सूचित करते हैं कि नारी अस्मिता की पहिचान की ललक आज की नारी की मुख्य समस्या है। गुप्तजी ने 'पंचवटी' प्रसंग में शूर्पणखा के माध्यम से स्वच्छंद नारी प्रेम, पुरुष मर्यादा, समान प्रणयाधिकार की पहिचान को व्यंजित किया है।

> तो नारियाँ शास्त्र रचनाकर
> क्या बहु पति का करें विधान ? (पंचवटी)
>
> या
>
> मैं अपने ऊपर अपना ही,
> रखती हूँ अधिकार सदा।
> जहाँ चाहती हूँ करती हूँ,
> मैं स्वच्छंद विहार सदा। (पंचवटी)

शूर्पणखा मध्यकालीन नारी रूप से उबरकर अपनी वास्तविक अस्मिता की पहिचान के लिये सामने आई है। यह स्वातंत्र्य चेतना है। उसे मुक्ति चाहिए, केवल मुक्ति। असत् पक्ष मध्य युगीन सामंती व्यवस्था, पुरुष वर्चस्व ने उसे अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु मनोवैज्ञानिक रूप से दबाव डालकर बंदी बनाया है। असत् पर सत् की विजय, देवासुर संग्रम में सुर विजय नारी परतंत्रता से नारी मुक्ति और अस्मिता की पहिचान, ये सब किसी न किसी प्रकार उसी आदि बिंब के रूपायन हैं जिन्हें वैदिककाल में देवासुर संग्राम के सर्जन विनाश, पुनः सर्जन के नारिकीय अभिप्राय द्वारा व्यक्त किया गया है। स्वच्छंद प्रेम की पुकार द्रष्टव्य है—

> छोटे से घर की लघु सीमा में
> बँधे हैं क्षुद्रभाव, यह सच है प्रिये

प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निस्सीम भू पर। (पंचवटी)

'साकेत' उर्मिला, कैकेयी का उदात्तीकरण करता है। यहाँ नारी मध्यकालीन झिझक, हिचक, विवशता से बाहर निकल कर मुक्त पर शालीन भाव से निर्णय लेती है–

'मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी
मैं बाँध न लूँगी तुझे तजो भय भारी' (साकेत)

उर्मिला 'साकेत' में निर्माण और संघर्ष की प्रतीक बनकर आती है। सीता स्वतंत्रता हरण के मिथ रूप में भारतीय मानस में जीवित हैं। उर्मिला की सर्जनात्मक वेदना परतंत्रता से मुक्ति के लिये युद्ध में बदल गया है।

कैकेयी भारतीय समाज की जटिलता को प्रतिध्वनित करती है। वह अनवरत यंत्रणा को स्वयं वरण करती है। उसकी यह उक्ति यंत्रणा की अभिव्यक्ति है :

'युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा
धिक्कार! उसे था महास्वार्थ ने घेरा।' (साकेत)

यह युग युग की नारी यंत्रणा की पुकार है। गुप्तजी ने नारी को इस मध्यकालीन यंत्रणा से उबारा है। यंत्रणा के अनेक रूप वैधव्य, स्वार्थवश आजीवन कलंक वरण, परंपरित वरदान भावना हैं जिसकी पहिचानकर गुप्त जी ने नारी मुक्ति मिथ द्वारा प्रकट किया है।

युद्ध का प्रश्न—(युद्ध युद्ध बस मेरा युद्ध)

'साकेत' में राम रावण युद्ध पौराणिक स्तर पर नहीं देखा गया है, अपितु उसे ऐतिहासिक संकट से गुज़रते भारत की पराधीनता के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। परिणामतः असुर रावण रूपी अंग्रेजों से भारत की वंदिनी स्वतंत्रता को मुक्त करना प्रमुख विचार विंदु है। इसी प्रसंग में राम निर्वासन की कथा भी विचारणीय है। राम वनवास रचनात्मक है। इसमें सांस्कृतिक संकट की पहिचान तथा समाधान खोजने का प्रयास है। गुप्तजी ने इसे दो स्तरों युद्ध स्तर, एवं आत्मपरक स्तर पर ग्रहण किया है। एक कठिन संघर्ष से बढ़ने का संकल्प है, तो दूसरा आत्मनिर्वासन जो गहन संघर्ष के क्षण में घोर शांति की अपेक्षा रखता है। 'साकेत' में भारतीय स्वाधीनता संग्राम में स्वतंत्रता के लिये असत् से लड़ने के अदम्य उत्साह एवं दृढ़ संकल्प में ही राम का मिथकत्व है। इसलिये 'साकेत' के राम को समझना अनवरत संघर्ष करने एवं समस्या से जूझने की आवश्यकता को पहिचानना है। राम एक मिथकीय पात्र मात्र ही

६

नहीं हैं, अपितु मानव जीवन की रचना प्रक्रिया बनकर अपनी पहिचान छोड़ते हैं।

नारायण की नरत्व भूमिका—(राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?)

आधुनिक विचार के अनुसार ईश्वर के प्रति मध्ययुगीन धारणा का परिवर्तन हुआ और मानवतावाद के कारण मानवता की प्रतिष्ठा हुई। विचारों में मानवीय केंद्रीयता के कारण सभी समस्याएँ मनुष्य के चारो तरफ बनी हैं। 'साकेत' के राम मध्ययुगीन ईश्वरवादिता से मुक्त होकर आधुनिक आयामों में ढल गया। नरत्व में ईश्वरत्व की कल्पना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। 'साकेत' में राम का आध्यात्मिकता मंडित रूप भी है—

हो गया निर्गुण सगुण साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है,
पापियों का जान लो अब अंत है,
भूमि पर प्रकटा अनादि अनंत है।

पर अवतारवाद से परे उनका मानवीय रूप 'साकेत' का मुख्य अंश है। 'साकेत' के राम मानव रूप हैं, पर उनमें ईश्वरीय गुणों की प्रतिष्ठा है।

'भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।'

यहाँ इसी पृथ्वी के मानव को ईश्वरत्व देना है। नर ही नारायण बनता है। यही स्वयं अपने भाग्य, नरक, स्वर्ग, कर्मफल का कर्ता और भोक्ता है।

आदर्शीकरण–(आदर्श ही ईश्वर है हमारा)

भारतीय पुनरुत्थानवादी आंदोलन में आदर्शवादी स्वर मुखर रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में गुप्तजी ने जीवनादर्श को ही ईश्वर माना है। जीवन के स्वस्थ मूल्य आदर्श के संस्थापक हैं। उसकी प्रतिष्ठा राम करते हैं असत् पर सत् की विजय से। पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक आदर्शों की समग्र अभिव्यक्ति 'साकेत' में मिथकीय पात्रों द्वारा हुई है। इन्होंने राम के मानवीय व्यक्तित्व में ईश्वरत्व द्वारा इन्हीं आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। वे इसी आदर्श को ईश्वर कहते हैं।

'अलक्ष की बात अलक्ष जाने
समक्ष को ही हम क्यों न माने
रहे वही प्लावित प्रीति धारा
आदर्श ही ईश्वर हो हमारा।'

निष्कर्ष—

(१) मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्य 'साकेत' एवं 'द्वापर' में रामवृत्त एवं कृष्णवृत्त के मिथों का प्रयोग किया है।

(२) ये मिथ आधुनिक संदर्भ में नए सौंदर्यबोध एवं नवीन संवेदनीयता से युक्त हैं।

(३) मध्ययुगीन आध्यात्मिकता एवं सामाजिक आदर्शों की अपेक्षा नव-युगीन मनः सौंदर्यचेतना, सांस्कृतिक द्वंद्व एवं नव मानव की प्रतिष्ठा है।

(४) इनकी मिथ संरचना-प्रविधि-प्रक्रिया के कई आयाम हैं।

(क) समग्र मिथ प्रयोग।

(ख) खंड मिथ प्रयोग।

(ग) युगीन संदर्भ में नई अर्थवत्ता देकर मिथ प्रयोग।

(घ) गाथात्मकता एवं वर्णनात्मकता की अपेक्षा व्यंजनात्मकता एवं प्रतीकत्व का आश्रय।

(च) राष्ट्रीय स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष्य में मिथकीय घटना, पात्रों का प्रयोग और इसके द्वारा समग्र भारतीय साहित्य में व्याप्त एक मिथकीय अभिप्राय-देवासुर संग्राम की व्यंजना।

समग्रतः इनका मिथ प्रयोग अपेक्षित घनत्व को न रखते हुए भी तत्कालीन परिवेश में महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इससे प्रेरणा लेकर रामवृत्त एवं कृष्णवृत्त का मिथ मध्यकालीन चेतना से आगे की कविताओं 'राम की शक्ति पूजा' (निराला) 'संशय की एकरात' (नरेश मेहता), 'अंधा युग' एवं 'कनुप्रिया' (धर्मवीर भारती) में अपेक्षाकृत अधिक मुक्त हुआ है।



वैयक्तिक चेतना के आदि विंदु : गुप्त जी

डा० संजय राय

विजयदेव नारायन साही ने एक स्थान पर कहा है कि 'बदलते देश और काल में मनुष्य को परिभाषित करते चलना साहित्य की जिम्मेदारी है, या एक अर्थ में ऐसा करने के लिये साहित्य अपनी प्रकृति से मजबूर है।'[1] इस कथन के दूसरे खंड में हमारी विवेच्य तथ्य निष्पन्न हो जाता है, कि साहित्य सचमुच ऐसा करने के लिये अपनी प्रकृति से ही मजबूर है। इसे यों कहा जा सकता है कि किसी भी देश काल में मनुष्य की आंतरिकता जितनी करवटें लेती है, साहित्य उससे अप्रभावित नहीं रह पाता। बल्कि ये करवटें ही साहित्य में एक गति आंदोलित करती हैं। और यह आंदोलन एक उदाहरण के रूप में हमें मैथिली-शरण गुप्त की काव्य चेतना में दिखाई पड़ सकता है।

काव्य में राष्ट्रीय चेतना तो उस युग की एक अनिवार्य स्वाभाविकता थी, जो किसी अन्य काव्यप्रवृत्ति की तुलना में अधिक तीव्रता के साथ उस काल खंड में सुनाई पड़ती है। किंतु यह तो उस काल की एक ऐसी सामाजिक प्रवृत्ति थी, जो उद्घोष के रूप में सामने आ चुकी थी। इसके साथ साथ कई अन्य काव्य प्रवृत्तियाँ भी उसी समय से कविता में आकार पाने लगी थीं, जो बाद की कविता के लिये एक केंद्रीय प्रवृत्ति बन गई। कविता में जहाँ वैयक्तिकता सन् ५० के आसपास अपनी चरम चमक पर थी, उसके अँखुवे बीसवीं सदी के पहले दशक के कवि गुप्तजी में ही दिखाई देने लगे थे। यद्यपि यह एक दुष्कर कार्य है कि लहलहाती फसल के अंकुरण काल को भी वैसा ही दिखा दिया जाय, जैसी फसल लहलहा रही है, तथापि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि फसल के लिये उसका बीजारोपण उसके लहलहाने से बहुत पहले कहीं उसी जमीन में हो चुका होगा, जिस पर वह लहलहा रही है। वैयक्तिकता के विकास को यदि विलोम क्रम में देखा जाय, तो इस विकास यात्रा का एक छोर गुप्तजी पर टिका दिखाई देता है, जो अपने सर्वाधिक विकसित रूप में प्रयोगवादी और नई कविता की मुख्य संवेदना बन गया। बार बार राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष करते हुए भी कहीं कहीं वैयक्तिकता के स्वर गुप्तजी की कविता में अनायास सुनाई दे जाते हैं। ऐसा लगता है कि रचनाकार ने संयोजना तो पूरी निष्ठा से राष्ट्रीयता की की है, किंतु वैयक्तिकता उसके स्वाभाविक कवित्व में प्रविष्ट हो गई है, और बिना किसी प्रयास के अभिव्यक्त हो गई है। यहाँ किसी सूक्ति

---

१. लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस—'नई कविता।'

वाक्य की तरह 'साही' का कथन सत्य प्रतीत होता है कि ऐसा करने के लिये साहित्य अपनी प्रकृति से मजबूर है।

इसकी व्याख्या यों की जा सकती है। गुप्तजी का रचनाकाल भारतीय इतिहास का वह काल खंड है, जिसमें पूरे विश्व के पटल पर पसरती औद्योगिक सभ्यता भारतीय वातावरण को भी अपनी चपेट में लेती नजर आती है। पूरे विश्व को औद्योगिक सभ्यता की पहली और प्रमुख देन यही रही है कि उसने मनुष्य को उसकी सामाजिक पहचान के सापेक्ष एक वैयक्तिक पहचान दी है। उसने मनुष्य को उसकी सामान्य सत्ता का बोध कराया है। व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत इयत्ता का बोध किन किन आयामों में विकसित होकर मनुष्य के लिये कितना पोषक या कितना घातक बना है, यह एक विवाद का विषय है। किंतु यह एक निर्भ्रांत तथ्य है कि बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में विकसित होती मनुष्य की वैयक्तिक चेतना ही भारतीय पटल पर उसके स्वातंत्र्य का प्रमुख कारण बन गई है। गुप्तजी एक ऐसे कवि हैं जिनमें वैयक्तिकता का प्रारंभ सरलता से देखा जा सकता है। भारतीय मानस में धीरे धीरे प्रविष्ट होती वैयक्तिक चेतना, अपने काल के सर्वाधिक संवेदनशील कवि गुप्तजी के मानस को भी अछूता नहीं छोड़ पाई है, तथा निरायास अभिव्यक्ति पा गई है। भारतीय जनों में राष्ट्रीय चेतना का जोश भरता कवि अक्सर मनुष्य की सामान्य सत्ता का महत्व प्रतिपादित करने लगता है। अक्सर किसी महत् आप्त कल्पना के सापेक्ष 'नर' की सत्ता को और किसी भी स्वर्ग की तुलना में 'भव' के वैभव को अधिक स्पृहणीय बताने लगता है। साकेत के राम स्वयं किसी आप्त ऐश्वर्य के सापेक्ष मनुष्य के ऐश्वर्य को ही प्रतिपादित करते दिखाई पड़ते हैं।

'भव में नव वैभव भरने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।' (साकेत)

अर्थात् 'भूतल' की सत्ता से ऊपर 'स्वर्ग' की सत्ता, जो गुप्तजी के पूर्व हिंदी साहित्य में एक स्पृहा और कुतूहल का विषय रही है, गुप्तजी की दृष्टि में सामान्य मनुष्य के लिये या तो उपेक्षणीय है, या हाथ के आँवले जैसी है। वे जोर देकर कहते हैं—

'चल नहीं सकेगी परंपरा की सत्ता,
दिखलानी होगी स्वयं स्वकीय महत्ता।' (साम्यवादी)

क्योंकि राष्ट्रीय चेतना से जुड़े कवि के मानस में अपने राष्ट्र की छोटी से छोटी इकाई पर भी अगाध विश्वास है। वह व्यक्ति पर, पुरुष मात्र पर विश्वास करता है। वह उसके संतापों में भी एक नया जीवन देखता है, और 'जय भारत' में 'नहुष' के मुँह से बोल उठता है—

'फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं चढ़के रहूँगा मैं'

इसी क्रम में 'गुप्तजी' का चिंतन समाज की सामान्यतम इकाई से जुड़ता है। और उन्हें 'प्रजा' के रूप में व्यक्ति की सत्ता का बोध होता है। किसी भी 'समष्टि' के कारणरूप 'व्यष्टि' के महत्व को वे पहचानते हैं, और यह दृष्टि 'साकेत' की इन पंक्तियों में प्रजा का महत्व प्रदर्शित कर जाती है—

'भला वे कौन हैं, जो राज्य लेवें
भला वे कौन हैं, जो राज्य देवें
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा।'

गुप्त जी की यह 'प्रजा' किसी मध्यकालीन शासन की वह प्रजा नहीं है, जो किसी व्यक्ति की इच्छा मात्र में अपनी सैकड़ों इकाइयों को अस्तित्वहीन कर देती थी। यह कोई भीड़ नहीं, बल्कि उस चेतन सत्ता की परिकल्पना है, जो शासन की समष्टि में अपने व्यष्टिगत महत्व को पहचानती है। साम्राज्य के निर्माण में प्रजा का महत्व क्या है यह उनके 'द्वापर' की कुछ पंक्तियाँ बिना प्रयत्न ही स्पष्ट कर देंगी—

'बनता नहीं ईंट गारे से यह साम्राज्य विशाल,'
सुनो चुने जाते हैं इसमें रुधिराप्लुत कंकाल,

गुप्त जी यद्यपि एक ऐसे कालखंड के कवि हैं जिसमें सामाजिकता एक आग्रह के रूप में स्वीकार्य है। उनकी कामना है—

'किसी एक सीमा में बंधकर रह सकते हैं प्राण ?
एक देश क्या अखिल विश्व का तात ! चाहता मैं कल्याण।'

× × ×

'सब साथी हो जायँ तुम्हारे तुम सबके साथी हो लो
अरे ! बद्ध क्यों हो अपने में द्वार दया के खोलो।'

किंतु कहीं यह भी अनायास अभिव्यक्त हो जाता है—

'जल निष्फल था, यदि तृषा न हममें होती।'

अर्थात् कवि अपना सारा जोर सामाजिकता पर लगाकर भी वैयक्तिकता

की अभिव्यक्ति को रोक नहीं पाता। क्योंकि वह युग सत्य है, और कवि ऐसा करने के लिये अपने प्रयास से नहीं, वल्कि अपनी प्रकृति से मजबूर है।

इसी व्यक्त चिंता का विकास गुप्त जी की कविता में कई आयामों में हुआ है। साकेत उनके चिंतन का परिपक्व रूप है और 'साकेत' के राम बारबार व्यक्ति की शक्ति, जनशक्ति को सर्वोपरि वताते चलते हैं। वे हाथ उठाकर कहते हैं—

'मैं आर्यों का आदर्श वताने आया,
जन संमुख धन को तुच्छ वताने आया,
मैं यहाँ जोड़ने नहीं बाँटने आया,
जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया।'

इतना ही नहीं समाज की अपेक्षित इकाइयों के प्रति समभाव उनके व्यष्टि चिंतन का घोषणापत्र है —

'वहुजन वन में हैं वने ऋक्ष वानर से,
मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निजकर से।'

व्यक्ति को सत्ता स्थापित करने का क्रम उनके पूरे काव्यसौंदर्य के साथ फिर वहाँ देखने को मिलता है जहाँ तत्कालीन समाज की सर्वाधिक उपेक्षित इकाई 'नारी' के साथ उनकी चेतना संपृक्त होती है। गुप्त जी के पूरे काव्यसाहित्य में 'राष्ट्रीयता' के बाद 'नारी' ही वह मूल्य है जो सर्वाधिक व्याख्या का विषय बना है। जिन जिन कोणों से उन्होंने नारी की पुनः स्थापना की है, वह भारतीय साहित्य ही नहीं, वरन् भारतीय संस्कृति के लिये भी यत्न के साथ संग्रहणीय है। उपेक्षित सामान्य व्यक्ति की चिंता करनेवाले कवि के मानस को तत्कालीन नारी भी बराबर का चिंतनीय विषय लगती है। उपेक्षा, अशिक्षा, अत्याचार और व्यर्थ के त्यागमय आदर्शों से घिरी नारी एक करुणा वेदना के साथ कवि की चेतना में प्रविष्ट हो जाती है और वह इन पंक्तियों के अनुकूल कराह उठता है—

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

व्यक्ति चिंता की प्रवृत्ति तत्कालीन वातावरण के कारण कवि पर ऐसा प्रभाव छोड़ गई है कि धीरे धीरे उसकी 'व्यक्ति चिंता', 'दलित चिंता' का पर्याय बन जाती है और उसकी समकालीन नारी भी एक दलित इकाई के रूप में उसे दिखाई पड़ने लगती है। यहाँ नारी के प्रति 'दलित चिंता' में वह विरोधी तत्व के रूप में 'नर' को देखता है और नारी के पौराणिक चरित्रों में उसकी महनीयता को ढूँढ़ ढूँढ़ कर प्रतिपादित करता है; उसके प्रतिमान तो जहाँ के तहाँ रहने देता है किंतु मूल्यों में कई गुना अधिक वजन भर देता है। ताकि, बारबार नर की सत्ता उसके सामने बौनी दिखाई देने लगे। 'नारी' के बारे में कवि जब भी कोई निर्वचन करता है तो 'नर' के प्रति एक विक्षुब्ध व्यंग्य का भाव लेकर—

'राधा हरि हो गई हाय, यदि हरि राधा हो पाते।'

तत्कालीन वातावरण में नारी को एक अशक्त इकाई समझने की सर्वमान्य प्रथा है और कवि किसी भी इकाई को अशक्त मानने को तैयार ही नहीं। फिर नारी! वह तो उसके लिये प्रेरणाशक्ति है। उसे कैसे अशक्त मान सकता है? फलतः जब 'बुद्ध' और 'यशोधरा' के बारे में सोचता है, तो 'बुद्ध' ही उसे 'यशोधरा' के समक्ष बुद्धू नजर आने लगते हैं। बुद्ध ने यशोधरा को सोते में इसलिये छोड़ा है कि वह उनके विकास में बाधक होगी किंतु 'यशोधरा' का यह धीर विलाप किसी क्रूरतम हृदय की भी परीक्षा कर डालने के लिये काफी है—

'स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में

क्षात्र धर्म के नाते, सखि! वे मुझसे कहकर जाते।'

'सखि! वे मुझसे कहकर जाते' वस इतने थोड़े से शब्द ही बुद्ध को सारी संवेदनशीलता पर प्रश्न चिह्न लगा जाते हैं। गुप्तजी में नारी के प्रति एक व्यथाकुल आकर्षण है जिसके वशीभूत होकर वे नारी के सामने किसी अन्य प्राकृतिक सत्ता को नगण्य समझते हैं। यह भी एक विचित्र संयोग ही है कि तुलसी के बाद पहले इतने बड़े रामगाथाकार होकर भी, वे तुलसी की भाँति 'रामशरण' नहीं हैं, 'मैथिलीशरण' हैं। नारी को उनसे जहाँ तक बन पड़ा है, ऊपर उठाया है, किंतु उसकी सांस्कृतिक महत्ता कहीं तनिक भी क्षीण नहीं होने दी है। गुप्त जी के नारी चरित्र अपने सहचर नर चरित्रों से बहुत ऊँचे उठ कर भी, कहीं अपनी दया, क्षमा, ममता करुणा, से विलग होते नहीं दिखाई पड़ते। उनकी 'शकुंतला, 'यशोधरा, और 'उर्मिला, यद्यपि अपने प्रिय के द्वारा ही एक मरणांतक वियोग में तड़पाई जाती हैं किंतु जब वे अपने प्रियतम को अपने पाँवों में पाती हैं, तब भी कहीं से मदोन्मत्त नहीं होतीं, बल्कि गर्व के उपशमन का प्रयत्न करती दिखाई पड़ती—

'पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर,
शकुंतला ने कहा क्षमा का रूप धर,
उठो नाथ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
मुझ पर ही अज्ञात दैव का कोप था।'

यह 'शकुंतला' है। और ऐसी ही कुछ 'उर्मिला' भी है—

'गिर दौड़ पड़े सौमित्र प्रिया पदतल में,
वह भीग उठी प्रिय चरण धरे दृगजल में,

'तत्रभवान्, बुद्ध भी कुछ इसी प्रकार यशोधरा के सामने घुटने टेकते हैं—

'मानिनि ! मान तजो, लो रही तुम्हारी बान,
दानिनि ! आया स्वयं द्वार पर यह तव तत्र भवान् ।'

ये वे आढील साम्राज्याधिपति दुष्यंत हैं जिनकी भुजाओं की परिधि में सारी पृथ्वी है, ये वे लक्ष्मण हैं जिनके दर्प और क्रोध से पूरी रामकथा आक्रांत है, ये वे बुद्ध हैं जिनके समक्ष सारा संसार छोटा है, नश्वर है। किंतु गुप्तजी की नारी इन सबको इनके पूरे वजन तक नापकर भी अभी भारी है। भक्तिकालीनों ने उसे आराध्या बना डाला है, रीतिकालीनों को उसकी अंगमीमांसा से फुरसत नहीं, किंतु गुप्तजी ने नारी को 'प्रिया' के मर्यादित रूप में रखते हुए भी, उसके गर्वोन्नत प्रियतम को उसके चरणों में गिराकर एक अभूतपूर्व कारुणिक आनंद की सृष्टि कर दी है। नारी की पुनः स्थापना का यह एक अप्रतिम मूल्य है, जो उनकी दलित चिंता का अन्यतम उदाहरण हो सकता है।



पाप से आत्मरक्षा : गुप्त जी की पंचवटी के संदर्भ में

डा० ब्रह्मदत्त शर्मा

मारलो के नाटक 'डाक्टर फास्टस' तथा गेटे के महाकाव्य 'फास्ट' में शैतान फास्टस या फास्ट को वासनातृप्ति का साधन तथा जादू का ज्ञान देकर उसकी आत्मा को खरीद लेता है। शेक्सपीयर के मैकवेथ तथा क्लाडियस राज्य के लिये अपनी आत्मा को शैतान के हवाले कर देते हैं। स्पेंसर की फेयरीक्वीन की पहली पुस्तक में रैडक्रास नाइट असत्य के फंदे में फँसने के कारण और-गौगलियो की कैद में पहुँच जाता है। मिल्टन के पैरेडाइज लास्ट नामक महाकाव्य में आदम शैतान के पंजे में फँसकर स्वर्ग को हाथ से खो बैठता है। अंगरेजी एवं जर्मन भाषा की इन कतिपय महान् कृतियों में यह चित्रित किया गया है कि पाप की लुभावनी फुसलाहट के फेर में पड़कर व्यक्ति विनाश के गर्त में गिरता है किंतु इनमें पाप में फँसे हुए व्यक्तियों को चित्रित किया गया है, यह नहीं वताया गया कि शैतान के जाल में फँसने से अपने आपको कैसे वचाया जा सकता है। पर मानव-जाति के कल्याण के लिये अधिक आवश्यक वात यह है कि पाप कर्म से व्यक्ति किस प्रकार अपने आपको वचाए—इस वात का चित्रण साहित्यिक कृतियों में किया जाय। बुराई के फंदे में तो असंख्य व्यक्ति पड़े हुए हैं ही और उनके कारण जगत् में एक अनाचार फैला हुआ है। सामान्य जीवन में यह बहुधा देखने में आता है कि जब व्यक्ति एक वार बुराई का कोई कार्य कर लेता है तो उसके पतन की कोई सीमा नहीं रहती। इसीलिये तो मिल्टन ने नरक को 'तलीहीन गड्ढा' बताया है। शेक्सपीयर के मैकवेथ में भी इस बात को दिखाया गया है। मैकवेथ यद्यपि बड़ी बहादुरी से लड़ने वाला सेनापति है किंतु एक वार जव वह चुड़ैलों के फंदे में फँस गया तो उसके पतन की सीमा नहीं रहती—पहले डंकन की हत्या, फिर वैंको की हत्या, फिर इतनी हत्याएँ कि देश बूचड़खाना हो गया। उसे मैकडफ् के निर्दोष भोले केंचुए जैसे असहाय पुत्र की हत्या कराने में भी कोई हिचक नहीं होती। हत्या करना उसके लिये इतना आसान कार्य हो जाता है जितना कि किसी को डाँट देना।

मैथिलीशरण जी ने 'पंचवटी' में यह नहीं दिखाया कि पाप के कीचड़ में फँस जाने पर व्यक्ति की क्या दुर्गति होती है, अपितु यह दिखाया है कि पाप कर्म में फँसने से अपने आपको कैसे रोका जाय। वहुधा लोग कहते हुए सुने जाते हैं कि हमने तो अपने आप को पाप से बचाने का प्रत्येक संभव प्रयत्न किया किंतु हमें परिस्थितियाँ ही ऐसी मिलीं जिनमें पाप से आत्म रक्षा हो ही नहीं सकती थी। यह बात सही है कि सामान्य व्यक्ति इसी प्रकार इरादा

एवं इच्छा न होते हुए भी पापी बन जाते हैं और फिर औरों को भी उसमें घसीटते हैं किंतु जो व्यक्ति दृढ़ निश्चय के साथ अपने आप को पाप से दूर रखने के लिये कटिबद्ध हो वह परिस्थिति को एकदम दूसरा मोड़ दे देता है और समय के बहाव को उलट देता है। तुलसी के 'मानस' में राम के राज्याभिषेक के समय कैकेयी जिस प्रकार राजमाता बनने के लोभ का संवरण करने में असमर्थ रहती है वह एक सामान्य व्यक्ति का मार्ग है। यदि वह मध्यम कोटि का व्यक्ति होता तो कह देता कि इन परिस्थितियों में फँसकर उसने राज्य करने का कार्य अपने ऊपर ले लिया और फिर सारी जिम्मेदारी परिस्थितियों की हो जाती। भरत का मार्ग उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों का मार्ग है। उत्तम कोटि का व्यक्ति वह है जो परिस्थितियों को अपनी चेरी बना लेता है और सन्मार्ग से च्युत नहीं होता, चाहे इसके लिये उसे कुछ भी क्यों न करना पड़े। बहुत सी साहित्यिक कृतियों में इस तथ्य का चित्रण किया गया है कि कई बार व्यक्ति को परिस्थितियाँ अपराध करने को मजबूर कर देती हैं। 'विशप्स कैंडिल स्टिक्स' नामक नाटक में नाटककार यह दिखलाता है कि एक व्यक्ति उस स्थिति में चोरी करता है जब कि उसकी पत्नी बीमार है, उसके पास एक भी पैसा नहीं है और वह पत्नी के प्राणों की रक्षा करना चाहता है। नाटककार यह कहना चाहता है कि ऐसा व्यक्ति दया का पात्र है, घृणा का नहीं। चलिए, ऐसे व्यक्ति को दया का पात्र तो माना जा सकता है, पर उसके आचरण को अनुकरणीय कदापि नहीं कहा जा सकता। क्या पैसे से पत्नी के प्राण बचाए जा सकते हैं ? यदि ऐसा होता तो क्या शाहजहाँ को मुमताजमहल का वियोग सहना पड़ता ? वस्तुतः मृत्यु और जन्म तो प्रकृति के सामान्य कार्य हैं। व्यक्ति उत्कृष्ट कोटि का मनुष्य कहलाने का अधिकारी तभी है जब कि वह सन्मार्ग को न छोड़े, चाहे उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। परिणाम की ओर ध्यान देते ही व्यक्ति कर्तव्य को भूल जाता है और अकर्तव्य की राह पर पहुँच जाता है। ईसा मसीह ने चालीस दिन भूखे रहना स्वीकार किया। धन, ऐश्वर्य एवं सुख सुविधाओं को ठोकर मारकर कह दिया कि वे शैतान के मार्ग पर न चलकर सन्मार्ग पर ही सदा चलेंगे। यदि महात्मा गांधी इस बात की चिंता करते कि अंगरेजी साम्राज्य को चुनौती देने का परिणाम मृत्युदंड भी हो सकता है तो भारत को न जाने कब तक और गुलाम रहना पड़ता।

यदि मार्क्स यह सोच लेता कि उसके लेखों और संगठन के कार्यों से उसके जीवनकाल में कोई क्रांति नहीं होगी तो आज दुनिया की लगभग आधी जनसंख्या जो साम्यवाद के मधुर फल चख रही है उससे वंचित रह जाती।

गुप्त जी के लक्ष्मण को पाप ने ऐसे समय आकर लालच दिया जिस

समय व्यक्ति के पतित होने की बहुत बड़ी संभावना है। सर्वप्रथम तो प्रकृति ही कामोद्दीपक रूप धारण कर रखी है—

"चारु चंद्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अंबर तल में।।"

चंद्रमा का प्रकाश कामोद्दीपक होता है, किंतु यहाँ तो उसकी चंचल किरणों ने सारे जल थल को खेल का स्थान बना लिया है। जब स्वयं किरणें चंचल हैं तो यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति का मन भी चंचल हो जाय। और फिर 'विजन देश है, निशा शेष है।' एकात है, रात्रि अभी काफी बाकी है, प्रकृति नटी के भी कार्यकलाप लगातार चल रहे हैं। इतना ही नहीं, लक्ष्मण को उर्मिला की भी याद आ रही है। तब आता है पाप करने का निमंत्रण। दुष्यंत होता तो गंधर्व विवाह कर लेता, जयदेव के कृष्ण भी रास रचाने को प्रस्तुत हो जाते। पर लक्ष्मण तो चंदन का वृक्ष है, साँप भी उससे आकर लिपट जायँ, तब भी उसमें विष नहीं व्याप सकता। वह सही अर्थ में उत्तम प्रकृति का व्यक्ति है। उसे यह बहाना करना नहीं आता—'मैं क्या करता, परिस्थितियों ने ही मुझे पाप में ढकेल दिया।'

फास्टस के लुभाने के लिये मैफिस्टोफ्लीज हेलन का रूप धारण कर लेता था। हैदराबाद के सालार जंग अजायबघर में आपने वह मूर्ति देखी होगी जो एक ओर से बुड्ढा खूसट मैफिस्टोफ्लीज है और दूसरी ओर से हेलेन। इसी प्रकार यहाँ भी पाप के दो रूप हैं। आरंभ में उसका लुभावना रूप चकाचौंध पैदा करने वाला है—

"चकाचौंध सी लगी देखकर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निःसंकोच खड़ी थी सन्मुख
एक हास्य वदनी बाला।"

यह तो हुआ हेलेनी चेहरा। जब यह मैफिस्टोफ्लीजी रूप धारण करता है तब की स्थिति देखिए—

गोल कपोल पलट कर सहसा,
बने भिड़ों के छत्तों से
हिलने लगे उष्ण साँसों से
ओंठ लपालप लत्तों से!
कुंद कली से दाँत हो गए
बढ़ बराह की डाढ़ों से,

विकृत भयानक और रौद्र रस
प्रकटे पूरी बाढ़ों से।''

यही हाल होता है पाप कर्म का। जब व्यक्ति पाप करता है उस समय उसे वह बड़ा सुखद, विजय तुल्य और प्रशंसनीय लगता है किंतु जब उसका फल भोगना पड़ता है तब उसे ज्ञात होता है कि उसका कार्य कितना जघन्य है। 'मैकबेथ' में लेडी मैकबेथ जब अपने पति को डंकन की हत्या करने के लिये प्रेरित करती है तब वह समझती है वह बड़ी बहादुरी का काम कर रही है किंतु जब उसे अपने पाप का फल भोगना पड़ता है तो वह कह उठती है—'अरब देश की सारी सुगंध भी मेरे हाथ की दुर्गंध को दूर नहीं कर पाएंगी। जब रावण सीता को हर कर ले गया था, वह बड़ा खुश था और अपनी इस उपलब्धि पर घमंड से भर गया था, किंतु पाप की सजा क्या मिली? कबीर के शब्दों में—

इक लख पूत सवा लख नाती,
ता रावण घर दिया न बाती।

पर सीता की पूजा करोड़ों स्त्रियाँ आज भी करती हैं एवं राम के नाम की रट लगाने वालों की संख्या अगणित है। आखिर क्यों? क्योंकि राम एकनिष्ठ पति थे और सीता पतिनिष्ठ पत्नी। सुलक्षण लक्ष्मण केवल स्त्रियों को ही एकनिष्ठ नहीं देखना चाहता, पुरुषों को भी एकनिष्ठ ही देखना चाहता है। वह घोषणा कर देता है—

नारी के जिस भव्य भाव का
साभिमान भाषी हूँ मैं,
उसे नरों में भी पाने का
उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं।'

उसने अपने पिता के घर को एकनिष्ठता की कमी के कारण उजड़ते देखा है।

कई बार लोगों को कोई आगाह कर देता है और उसके कारण वे पाप से बच जाते हैं। उदाहरणार्थ, अर्जुन को कायरता के पाप से श्रीकृष्ण जी ने बचा लिया किंतु लक्ष्मण के साथ ऐसी कोई बात नहीं हुई। गुप्त जी ने लक्ष्मण की सुलक्षणता दिखाने के लिये यह भी दिखाया है कि सीता और राम उसे पाप से रोकने का कोई स्पष्ट प्रयत्न नहीं करते। सीता तो लक्ष्मण से शूर्पणखा का प्रस्ताव स्वीकार करने को भी कहती हैं—

देने ही आई है तुमको
निज सर्वस्व बिना संकोच,
देने में कार्पण्य तुम्हें हो
तो लेने में है क्या सोच ?

राम शूर्पणखा से कहते हैं कि वह विवाह का प्रस्ताव लक्ष्मण से ही करे, क्योंकि—

'किंतु विवाहित होकर भी यह
मेरा अनुज अकेला है।'

यह दूसरी बात है कि वे अप्रत्यक्ष रूप से लक्ष्मण को यह याद दिला देते हैं कि वह विवाहित है।

धन के आगे झुक जाना बड़ी आम बात है। फील्डिग के 'टाम जोन्ज्, नामक उपन्यास में टाम जोन्ज् लेडी बेला:टन को अपनी प्रेयसी इसीलिये बना लेता है कि उससे उसे कुछ धन प्राप्त हो जाता है।

लक्ष्मण को तो यह रमणी धन का ही, नहीं शासक बनने तक का लोभ देती है और वह भी सोने के भूभाग का। वह तो लक्ष्मण को कामधेनु और कल्पवृक्ष की तरह वह सब कुछ देने का वचन देती है जिसकी कामना किसी सामान्य व्यक्ति को हो सकती है। पर लक्ष्मण स्वयं को ही पाप से नहीं बचाए रखते, वल्कि इस विलक्षणता से कहते हैं कि वह 'पवनाधीन पताका सी' न फहरे। वे उसे समझाते हैं कि जिसे वह सुधापूर्ण प्रीति समझती है वह 'विष से भरी वासना' है और उसका मार्ग अनरीति एवं अनीति का मार्ग है, रीति एवं नीति का नहीं। फास्ट का लेखक गेटे इस स्थिति को देखता तो वह अपना महाकाव्य फास्ट के ऊपर न लिखकर लक्ष्मण के ऊपर लिखता। फास्ट में तो वह एक पतित व्यक्ति को नायक बनाकर पतन के भयंकर परिणाम दिखाता है, पतन से लोगों को बचाने के लिये ऐसे व्यक्ति का चित्रण आवश्यक है जो पतन के गर्त से अपने आपको सफलतापूर्वक बचा सका हो।

ईसामसीह ने अपने अनुगामियों को उपदेश दिया, 'पाप का प्रतिरोध न करो, क्यों ? शायद इसलिये कि शैतान ईश्वर की अपेक्षा कहीं अधिक सक्रिय है, यदि ईश्वर के पास वज्र न होता तो शैतान उसे निश्चित रूप से युद्ध में हरा देता। भारत के इतिहास से भी यही सिद्ध होता है, जैसा कि रामधारी सिंह 'दिनकर' कुरुक्षेत्र में लिखते हैं 'देवों का दल सदा दानवों से हारता रहा है।' अमरीकी लेखक थौरो और भारतीय विचारक गांधी दोनों ने निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धांत का प्रतिपादन, समर्थन और परीक्षण किया। लक्ष्मण भी कुछ देर तक निष्क्रिय प्रतिरोध करते हैं और साम नीति से काम लेते हैं। किंतु गुप्त जी साम नीति की सफलता में विश्वास करते नहीं लगते। वे निष्क्रिय प्रतिरोध को सफल होता हुआ नहीं दिखाते और दंड नीति का उपयोग

आवश्यक दिखाते हैं। अपने लिये न सही, औरों को पाप के फंदे से बचाने के लिये पाप के रूप को विकृत कर देना वे आवश्यक समझते हैं। स्पेंसर के 'फेयरी क्वीन' नामक महाकाव्य में रैडक्रास नाइट दैत्य की तो हत्या करता है, किंतु प्रिंस आर्थर ड्यूजा को वस्त्रहीन करके ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है जिसमें व्यक्ति उसको देखकर धोखे में न पड़ जाय और उसके वास्तविक विकृत रूप को देख ले। लक्ष्मण भी शूर्पणखा के नाक कान काटकर केवल उसका रूप बिगाड़ते हैं, उसे मृत्यु दंड नहीं देते। मृत्यु दंड का अधिकारी तो सारे पापों का स्रोत रावण है जिसे गुप्त जी ने 'साकेत' में समूल नष्ट करवाया है।

गुप्त जी के लक्ष्मण मिल्टन के आदम तथा क्राइस्ट दोनों से भिन्न हैं। मिल्टन का आदम तो शैतान के फंदे में बड़ी आसानी से फँस जाता है और फिर अपने पतन के लिये अपनी पत्नी को पूरी तरह जिम्मेदार ठहरा देता है। वह यह घोषणा भी कर देता है कि स्त्री जाति प्रकृति की भूल है। 'पैरेडाइज रिगेंड' में काइस्ट को आदम की स्थिति में रखा गया है और वहाँ शैतान क्राइस्ट को पाप पंक में फँसाने का प्रयत्न करता है। शैतान क्राइस्ट को सारी दुनियाँ का साम्राज्य देने का लालच देता है किंतु क्राइस्ट कह देते हैं कि वे केवल ईश्वर की पूजा करेंगे और केवल उसी की आज्ञा का पालन करेंगे, शेष किसी की नहीं। 'पैरेडाइज रिगेंड' का क्राइस्ट आत्मबलिदान तो निश्चित रूप से कर सकता है किंतु यह उसके वश की बात नहीं कि वह शैतान को दंडित कर सके। वह आत्मत्राण तो कर सकता है, किंतु 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' के लिये उसने अवतार ग्रहण नहीं किया। यह संभवतः भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का अंतर है। भारतीय अपने मसीहा से इतना ही नहीं चाहते कि वह पाप कर्म से बचा रहे, अपितु यह भी चाहते हैं कि वह पाप को नष्ट करने के लिये और धर्म को पुनः स्थापित करने के लिये प्रत्येक युग में जन्म ले। इसी कारण गुप्त जी लक्ष्मण से पाप के लोभ का संवरण ही नहीं कराते, लुभाने वाली रमणी को दंड भी दिलवाते हैं। शेक्सपीयर के 'हेनरी चतुर्थ' भाग १ तथा २ तथा 'हेनरी पंचम' इन तीन नाटकों में पाप के लोभ के संवरण की कहानी है। पहले दोनों नाटकों में फाल्सटाफ विभिन्न प्रकार से पाप को आकर्षक दिखलाने का प्रयत्न करता है और उसके समर्थन में धर्मग्रंथों के वाक्यों को उद्धृत करता है किंतु राजकुमार हेनरी अपने आप को पाप के पंक में गिरने से बचाए रखता है। 'हेनरी पंचम' में तो वह फाल्सटाफ को पहचानने से भी मना कर देता है। इस प्रकार पाप के लालच से हमेशा के लिये मुक्ति पा लेता है किंतु वह कोई ऐसा कदम नहीं उठा पाता जैसा लक्ष्मण उठाते हैं। शेक्सपीयर राजकुमार हेनरी को श्रेष्ठ किस्म का राजा दिखाना चाहता है। वह राजकुमार के मुख

से यह कहलवाता है कि वह आरंभ में अपने आप को दोषी दिखलाने का प्रयत्न इसलिये कर रहा है कि जब वह शुभ कर्मों में लगे तो उसके परिवर्तित रूप को देखकर लोग चकित हों और उसके पुराने दोषपूर्ण जीवन की पृष्ठ-भूमि उसके गुणों को और चमका दे। इसलिये 'पंचवटी' संसार के अनेक श्रेष्ठ काव्य ग्रंथों से श्रेष्ठतर सिद्ध होती है।



सार्वभौमिक अभिव्यक्तिवादी कवि—गुप्त जी

आचार्य सूर्यदत्त शास्त्री

अभिवंदनीय राष्ट्रकवि को अब तक न मालूम कितने चिंतक मनीषी विद्वान् एवं साहित्यकारों ने अपनी एवं व्यापक तीखी निगाहों से देखा और परखा है। जिसकी दूरबीन में उनकी जैसी झांकियां दिखीं उसने उन्हें वैसा ही आंका और कहा। इस बीसवीं शताब्दी की कवि मनीषा की विशालता व्यापकता तथा सम-सामयिकी संवेदनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, विरले कलाकारों में पाई जाती है। सांस्कृतिक संस्कारों से संस्कारित आधारभूमि में अंकुरित आश्रय तत्वों का अवलंबन लेकर, सार्वभौम मानवीय प्रवृत्तियों को परिष्कृत, परिमार्जित, सर्वजन और सर्व-लोक-हितैषिता की ओर ले जाकर पल्लवित एवं पुष्पित करने का नैसर्गिक श्रेय गुप्त जी के कवि की अमित साधना को है। गुप्त जी का कवि सार्वभौमिक अभिव्यक्तिवादी कवि का प्रतीक है। कवि परमात्म तत्व का प्रतिनिधि प्रतीक माना जाता है। 'कविरेव प्रजापति' कवि ही प्रजापति है—यह पद्म पुराण की उक्ति है। कलयति इति कविः।

श्रुति भी कवि की परिभाषा का उद्घोष करती हुई बताती है 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू,' इस उक्ति में मनीषी, परिभू एवं स्वयंभू शब्द कवि शब्द के ही पर्याय वाचक शब्द हैं और उक्त चारों शब्दों से व्यंजित अर्थ परमतत्व वाचक ही होता है। अर्थात् उक्त सूक्तियाँ परमात्म तत्व बोधक ही लक्षित होती हैं। अलग अलग भी आप विश्लेषण करेंगे तो आप यथार्थ तत्व का ही बोध कर पाएँगे। कवयतीति कविः अथवा कौति उपदिशति आत्मतत्वं मुमुक्षेभ्यरीति कविः,—यहाँ आत्मतत्व से व्यापकत्व ग्रहण किया गया है। तीसरा कं सुखं ब्रह्मानंदात्मकं ज्ञानं वा कं खं ब्रह्म वा वाति इति कविः। चौथे में आचार्य शंकर कहते हैं—क्रांत द्रष्टा सर्वदृक्। कवि वह है जो क्रांत द्रष्टा है। क्रांत का अर्थ अतीत मानते हैं। अतीत को तीनों कालों का उपलक्षण मानकर सर्वद्रष्टा सर्वदृक् माना गया है। 'कविः क्रांतद्रष्टा सर्वदृक्' यह कवि शब्द का मार्मिक अर्थ हुआ। इसमें भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों एवं स्थितियों का समन्वय हो जाता है। आत्मतत्व के निरूपण में परमतत्व बोधक उक्त परिभाषा में कवि मनीषी, परिभू, स्वयंभू विशेषणों से परिभाषित किया गया है। अब आप पूछ सकते हैं कि वह कवि कैसा है! उसी को और स्पष्ट करते हुए मनीषी, शब्द से उसे भासित करते हैं 'मनस इषिता'—मनीषी=मन का ईशन करने वाला। मन में स्फुरण प्रेरणा करने वाला अथवा मनन रूप क्रिया से यथार्थ दर्शन करानेवाला सर्वज्ञ है, ईश्वर है। कवि के मन की स्फुरण में सर्वज्ञता स्फूर्त होती है। मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरण साधारणम् सर्व

विषय व्यापकत्वात् । अतः मन सर्वज्ञ और ईश्वर है जो सर्वविषय में व्यापक है । सर्वतोभावेन मानसिक क्रियाओं की दौड़ में शक्ति प्रदान करने वाला—उसे प्रयुक्त करने वाला मनीषी । परिभू –'सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः'—अर्थात् सबके ऊपर है, सर्वोपरि है इसलिये कि वह ऊपर, अगल बगल चारो ओर से उत्पन्न होनेवाला—मतलब यह हुआ कि परिभू वाचक जो कवि है, वह—ऊपर नीचे, अगल बगल के कथ्य वस्तु तत्वों को अभिव्यक्ति देने वाला होता है । अतः 'परिभू' पर्याय यथार्थ कवित्व में लक्षित होता है । अब 'स्वयंभू'—स्वयमेव भवति इति 'स्वयंभू'—अर्थात् स्वयं उत्पन्न होने वाला । कवित्व की शक्ति स्वयं उत्पन्न होती है । विद्वान् मनीषी होना साध्य, साधक और साधना से संभव है, पर 'कवि' होना—यह अदृष्ट शक्ति की विशेष स्फुरण रूप प्रतिभा है, प्रकाश है, । यों शब्द विज्ञान और छंद शास्त्र का जानने वाला प्रयास कर काव्य की रचना कर सकता है, पर स्वयं में उद्भूत अभिव्यक्त भावना संपन्न जो कवित्व की उपलब्धि होगी, वही वास्तव में सर्वगुण संपन्न कवि शब्द वाचक है । वह सब कुछ स्वयं है । वह स्वयं ही होता है इसलिये स्वयंभू जिसके ऊपर है और जो ऊपर है, वह सब स्वयं है इसलिये स्वयंभू है । कवि में स्वयं भूत गुण ही उसकी विशेषता है । आदि कवि वाल्मीकि में जो अभिव्यक्ति हुई वह स्वयं उद्भूत थी । अतः किसी भी प्रतिभाशाली कवि में उक्त चतुर्गुण समन्वित जो प्रत्यग आत्मा है, वह ही कवि है । वही वास्तव में सार्वभौमिक अभिव्यक्तिवादी कवि है । कवि अपने और विश्व के सारे भूत वर्तमान एवं भविष्य परिधि को उसके ऊपर नीचे इर्द गिर्द वस्तु तत्वों को, ब्रह्मांड व्यापक सभी भाव भावनाओं को क्रिया कलापों को, गति विधियों को, उपेक्षित, अपेक्षित, उपयोगी अनुपयोगी तत्वों को, मानवीय अमानवीय आचार और विचारों को अपने में आत्मसात कर, बटोर कर उसे अभिव्यक्ति देता है । कवि सारे तत्वों, विषयों, पदार्थों जड़ चैतन्य प्रतीकों को शब्दाकार रूप प्रदान करता है । सभी को अपने में समेट बटोर समन्वित कर यथातथ्य जैसे का तैसा अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देता है । वही कवि है, वही विश्व कवि या राष्ट्र कवि पद का अधिकारी है ।

हमारे संमाननीय राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी में उपर्युक्त श्रुति की वाणी पूर्ण रूप से घटित थी । ईश्वरांश कविरूप में अवतरित होकर उन्होंने सारे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, भौतिक, स्थूल, सूक्ष्म, त्रैकालिक, विचार, व्यवहार कार्य, कर्तव्यादि विषयों का उन्मेष किया है । उनकी विपुल साहित्यिक कृतियों के अवगाहन एवं मंथन से उनकी व्यापकता, विशालता, सर्वकारिता एवं सार्वभौमिकता की किंचित् थाह मिलती है । उनकी काव्य गरिमा में विविधता, सरसता बहु-वस्तु-स्पर्शिता प्रत्यक्ष लक्षित होती है । उन्होंने सांस्कृतिक भावना, मानव जीवन दर्शन, सार्वभौम सूक्ष्म, स्थूल, निराकार, साकार चिंतनीय तत्वों का, युग-

चेतना और राजनीतिक नीतियों को भी अपनी दिव्य दृष्टि से देखा परखा और उसे अभिव्यक्ति दी। पुष्करणी पृष्ठ ३५ पर उन्होंने स्वयं लिखा है—

तेरी खीची रेखाओं में क्या क्या अंकित नहीं हुआ।
चमक उठा वह भीतर-बाहर, ज्योंही तूने जिसे छुआ॥
बहुरंगिनि तेरे रंगों से, कहाँ कौन रस कब न चुआ।
उतर विश्व की आंखों पर तू देश देश का वेष धरे॥

कवि की सामूहिक भावना कितनी उदात्त है, वे कहते हैं—

उठ ! बढ़ ! ऊँचा चढ़, संग लिए सबको।
सबके लिये तू और तेरे लिये सब हैं॥

अपने विगत जीवन को विस्मृत कर सुप्त भारतीय जनजीवन के उद्‌बोधन एवं जागरण के लिये कवि की वाणी मुखर हो उठती है। वह कहता है—

कि कल कौन थे, आज क्या हो गए तुम।
अभी जागते थे, अभी सो गए तुम॥
× × + +
हा, लेखनी, हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा।
हृक्कलिका में डूबकर तैयार होकर सर्वथा॥
स्वच्छंदता से कर तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो।
जग जाए तेरी नोक से सोए हुए हों भाव जो॥

हमारे कवि की विभिन्न कृतियों में सार्वभौम भावनाएँ प्रस्फुटित हुई हैं। 'जयद्रथ वध' में और रस की अविरल धारा और भक्ति भावना का उर्जस्व प्रवाहित होता है तथा पौराणिक कथानकों को उजागर करना 'जयद्रथ वध' की उपलब्धि है। शकुंतला की कथा का चित्रण भारतीय पारिवारिक स्नेहिल वातावरण में प्रेम की परिधि और करुणा की स्रोतों की मार्मिक अनुभूति कराता है।

'शक्ति'—जातीय तेज, गौरव और अस्मिता को उत्तेजित करने वाली प्रेरणात्मक काव्य है।

'सैरंध्री'—महाभारतीय प्रसंगों को उजागर करते हुए पतिव्रत धर्म की ओजस्विता को प्रखरता प्रदान की है। 'पंचवटी'—काव्य कर्म में रामकथा के विशिष्ट प्रसंगों को काल, स्थिति के अनुसार समसामयिक उपयोगिता के अनुकूल ढाल कर कवि ने भारतीय जीवन में एक संदेश वाहक का काम किया है।

वन वैभव—सांप्रदायिक मतभेद का राष्ट्रीय स्तर पर निराकरण करने की समसामयिक स्फुरणा है।

'वक विहार'—इस काव्य में नारी जीवन का महत्व और भारतीय ब्राह्मण परिवार के सदाचरण का चिंतन करते हुए जीवनादर्श व्यक्त किया गया है।

'हिंदू'—में भी अभिव्यक्त विचार विषम जातीय और सांप्रदायिक वस्तु तत्वों का सशक्त भाव से अवलोकन है।

'किसान' में कवि समसामयिक राष्ट्र के प्राण किसानों और छोटे तबके के जन साधारण की स्थितियों को संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है जो राष्ट्रीय चेतना से संपृक्त है।

'भारत भारती' गुप्त जी की बहुचर्चित सर्वोत्कृष्ट रचना मानी गई है। इस अभिव्यक्ति में भारतीयता का आमूलचूल आलोचन और गौरव गरिमा का निदर्शन करते हुए नव जागरण का उद्घोष किया गया है। भारत भारती भारतीय विचार धारा में सुप्त सांस्कृतिक चेतना को जगाने का एक सशक्त स्नेह पूरित दीप की शिखा है। सच पूछिए तो उस समय नव चेतना की राष्ट्रीय माँग थी, देश को आवश्यकता थी ऐसे उद्‌बोधनों की।

'स्वदेश संगीत' में गीति धारा के माध्यम से गुप्त जी ने राष्ट्रीय अपनत्व की भाव धारा को व्यक्त करते हुए राष्ट्र के प्रति उदात्त उद्‌गीतों की रचना कर संगीतमय एवं रसमय जीवन में राष्ट्रनिष्ठा को प्रतिष्ठित किया है।

'वैतालिक'—सांस्कृतिक जागरण का गीत काव्य है और 'झंकार' में आध्यात्मिक प्रगीत की रहस्यमय उक्तियों का स्पर्श है।

'तिलोत्तमा' चंद्रहास और अनघ नामक नाट्य कृतियाँ भी अपने अनछुए आधार तत्व पर व्यक्त हुईं जिनमें कवि की व्यापकता का विस्तार ही मिलता है। कवि का व्यवहारिक उपदेश है—'बंधु विरोध जहाँ है, सर्वनाश ही उचित वहाँ।' 'अनघ' में सार्वभौम चरित्र का चित्रण ही कवि का उद्देश्य हो गया है। कितना उदात्त विचार है। न देश की भौगोलिक सीमा से अवरुद्ध और न जातीय जीवन में केंद्रित उनकी सृष्टि थी। मानवतादर्शवादी चरित्र को उन्होंने रेखांकित किया जो सार्वभौमवादी कवित्व का ही उपलक्षण है।

'काबा और कर्बला' काव्य गुप्त जी की मानवता की उच्चतम भावना का द्योतक है।

'विश्व वेदना में विश्व के प्रति संवेदनशीलता कवि के हृदय एवं मन, मस्तिष्क में स्फुरित हो रही है। विश्ववेदना में कवि विश्व को व्यापक अपनत्व की दृष्टि से आँकता है, उसके प्रति उच्च अभिलाषाएँ करते हुए लिखता है—

आज के योग्य एक अविभाज्य
विश्व को मिले राम का राज्य।

कवि विश्व व्यापी मानव संस्कार और संस्कृति की कामना करता है। मानवता की प्रतिष्ठा के लिये कवि ने कहा है—

मिटे तो मिटे मनुष्य समाज,
बचा ले मनुष्यता की लाज ।

मनुष्यता की रक्षा मानव की कुर्बानी से हो तो उसकी रक्षा करनी चाहिए।

राष्ट्र कवि गुप्त जी की व्यापक विस्तृत उच्च भावनाओं के आकलन से ऐसा मालूम होता है जैसे कवि एक देश, राज्य, जाति, समाज, दल, पार्टी, वर्ण, वर्ग और किसी एक इकाई से परिच्छिन्न नहीं हैं। अपरिच्छिन्न एक मानवता का प्रतीक है, जिसमें मानवीय सभी भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। देखिए—

हमने बिगड़ कर भी, बनाए जन्म के बिगड़े हुए।
मरते हुए भी हैं, जगाए, मृतक तुल्य पड़े हुए ॥
गिरते हुए भी दूसरों को, हम चढ़ाते ही रहे।
घटते हुए भी दूसरों को, हम बढ़ाते ही रहे ॥

'विसर्जन' में कवि कामना करता है—

नहीं चाहते हम धन वैभव, नहीं चाहते हम अधिकार।
बस स्वतंत्र रहने दे हमको, और स्वतंत्र रहे संसार ॥

हम सारे देश को स्वतंत्र देखना चाहते हैं—यह हमारे राष्ट्र नायक स्वर्गीय पं० नेहरू का उद्घोष था, जिसे कवि ने अपने शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

आगे कवि कहता है--

यह सारा संसार है, उस प्रभु का परिवार।
सब में रखना चाहिए, प्रेमपूर्ण व्यवहार ॥

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की लोक कल्याण करने में प्रवृत्त राष्ट्र कवि की भावना इन शब्दों में अभिव्यक्त होती है—

चाहो जो अपने लिये वही और के अर्थ।
केवल स्वार्थ विचरण, है अत्यंत अनर्थ ॥

ऊपर की पंक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का स्पष्ट अक्षरशः अनुवाद है। कवि सभी के लिये प्रार्थना कर रहा है—

सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों।
सब शुभ पावें, न हो दुःखी कहीं कोई भी।

'विष्णुप्रिया' में नारी चरित्र का उदात्त चिंतन, 'जयभारत' एवं 'प्रदक्षिणा' में पुराकालीन कथाओं का अनुवीक्षण, 'अंजलि और अर्घ्य' में राष्ट्र पिता बापू के प्रति अगाध श्रद्धा की अभिव्यंजना, 'राजा प्रजा' में आधुनिक तंत्र की उपलब्धि और अभाव का चिंतन तथा 'पृथ्वी पुत्र' में सार्वभौम मानवता का आदर्श स्फुटित है, जो सामयिक युग की माँग है।

उक्त कवि कर्म के समग्र उद्धरणों से कवि की सार्वभौमिक अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। हिंदी जगत् के इस मूर्धन्य कवि ने वस्तुतः अपनी कृतियों से सार्वभौमिकता को खुले आकाश में पनपने दिया है। यहाँ तक कि, कार्ल मार्क्स के विचारों को भी वह अछूता नहीं छोड़ पाया, क्योंकि कवि की सार्वभौमिकता का क्षेत्र ब्रह्मांड व्याप्य था। देखिए—

धन रूपी फल का परिश्रम ही मूल है,
किंतु श्रमिकों को फल मिलता है कितना।
पूँजीपतियों का नहीं जूठन भी जितना॥

गरीब अमीर, छोटा बड़ा, ऊँच नीच, अपना पराया सब में आत्मीय भाव देखने वाला ही आत्मवित है। हमारा राष्ट्रकवि अपने में विश्व को, और विश्व में अपने को देखता है। पूज्य बापू जब पटना आने वाले थे उस समय मैंने उनसे मानव जीवन में मैत्री भाव की उपयोगिता पर विचार माँगे थे तो 'बापू' ने पटना में गांधी मैदान में सर्वप्रथम 'महामैत्री' की सर्वोपरि उपयोगिता संबंधी प्रवचन किया था। मैंने उसी भावना से प्रेरित होकर अखिल भारतीय मित्र मंडल संस्था द्वारा समाज में मैत्री प्रचार का व्रत लिया और कार्य प्रारंभ किया था। उसी समय कविवर गुप्त जी को भी लिखा। गुप्त जी ने कलकत्ता से प्रकाशित दैनिक विश्वमित्र में दो लाइन का एक मंत्र प्रकाशित करवाया और मुझे भी भेजा जो निम्नलिखित है—

प्रभो, विश्व के प्रति हमें मिले मित्र की दृष्टि।
हमको भी उस दृष्टि से, देखे सारी सृष्टि॥

यह है गुप्त जी की भावना। यह एक राष्ट्रीय भावना है जो नीति से युक्त राजनीतिक सद्भावना भी कही जाएगी। हमारे राष्ट्र कवि कर्तव्यपरायण रहे हैं और आशा और विश्वास के साथ प्रेरणा देते रहे हैं—

'कर्तव्य करना चाहिए, होगी न क्या प्रभु की दया।' इतना ही नहीं अगली एक अभिव्यक्ति में कहते हैं और उनका विश्वास है कि हम, हमारा राष्ट्र, हमारा विश्व, हमारी सारी मानवता, अपनी दैनंदिनी साधना में सदा तत्पर रहे, निश्चय ही उसे सफलता मिलेगी। आशा की वल्लरी कवि की उर्जस्वशील विचारधारा में सदा अमरलता की तरह बढ़ती रही है। वे लिखते हैं—

हम नहीं कर सकें जो साधना।
वह सिद्ध करे अगली पीढ़ी।
बढ़ता रहा तू इस भाँति सदा,
चढ़ता रह नित्य नई सीढ़ी॥

ऐसे उदात्त सार्वभौमिक अभिव्यक्तिवादी कवि के प्रति मेरा नमन।



पुनर्जागरण युग के स्वर शिल्पी : मैथिलीशरण गुप्त

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

नव जागरण युग के वैतालिक भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जो शंखनाद किया था उसे महिमामंडित करने का कार्य राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने संपन्न किया। इसका मुख्य उद्देश्य आत्म चेतना उद्बुद्ध करने कराने के बहाने देशवासियों को युगबोध कराना था। अपनी गौरवशाली परंपरा अधोमुखी हो चली थी और राष्ट्रीय चरित्र का दिनों दिन ह्रास होता जा रहा था जिसके फलस्वरूप पर-निर्भरता बढ़ती जा रही थी और आत्मविश्वास घटता जा रहा था। ऐसी क्षयशील दशा देखकर प्रबुद्ध मनीषा क्षुब्ध होकर तिलमिला उठी थी। इसकी प्रतिक्रिया विभिन्न क्षेत्रों में विविध रूपों में प्रकट हुई। किसी ने रोष प्रकट किया तो दूसरे ने होश सँभाला। यह युग बड़े ही उथल पुथल का रहा। पुनः जागरण ने पुनर्मूल्यांकन को प्रश्रय दिया और सभी क्षेत्रों में सक्रियता के लक्षण उभरने उमड़नें लगे। इसे तत्कालीन गतिविधियों में रेखांकित किया जा सकता है। संवेदनशील साहित्यकार का इससे प्रेरित और प्रभावित होना स्वाभाविक था। गुप्त जी ऐसे ही परिवेश, परिस्थिति और वातावरण की उपज हैं। इन्हें जानना युगीन स्पंदन को पहचानना है।

'भारत भारती' में गुप्त जी ने जिन संवेदनशील बिंदुओं पर दृष्टिक्षेप किया है वह उनकी सूझबूझ तथा मानसिकता का परिचायक है। राष्ट्र रचना के प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण अवयव का उन्होंने स्पर्श ही नहीं किया है अपितु उसे झकझोर कर सजग तथा सचेत भी कर दिया है। अपनी पारपरिक रिक्थ के प्रति उन्हें उकसा दिया है। विनष्टमान आत्म गौरव के प्रति उन्हें आगाह कर दिया है। 'भारत-भारती' की निम्नलिखित पंक्तियों ने अपनी भावना स्पष्ट तथा उजागर कर दी है—

> "हम कौन थे क्या हो गए और क्या होंगे अभी,
> आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।"

उनकी समग्र रचनाओं का मूल स्वर इसी चेतना से अनुप्राणित है।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये गुप्तजी ने अपनी समृद्ध परंपरा से चुनकर उन विधियों को अपनी लेखनी का विषय बनाया है जो सहायक सिद्ध हो सकें। इसके लिये उन्होंने मुख्यतः रामायण, तथा महाभारत, जैसे पुराणों को आधार बनाया है और उनके जीवंत पात्रों के माध्यम से अभिलषित

प्रयोजन सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस क्रम में सिद्धार्थ पर भी उनका ध्यान केंद्रित हुआ है। परंतु उर्मिला तथा यशोधरा के चरित्र चित्रण द्वारा नारी हृदय या स्वभाव का जो उदात्तीकरण किया है वह उनकी सदाशयता का ही द्योतक कहलाएगा। उन्होंने शिशु स्वभाव का मार्मिक वर्णन भी अछूता नहीं रहने दिया है। मानव प्रकृति के वे कुशल चितेरे हैं परंतु उन्होंने सब समय मर्यादा को अपना पथ प्रदर्शक स्वीकार किया है। अपनी संतुलित दृष्टि को कहीं भी स्खलित या विचलित नहीं होने दिया है। इसमें उनकी वैष्णव प्रवृत्ति भी सहायक रही है। उनकी मर्यादा संस्कारों के चौखटे में विजड़ित है।

गुप्तजी विचारों से अधिक भावना के कवि हैं। इसलिये उनकी रचनाओं में वैचारिक मौलिकता को ढूँढ़ पाना सब समय संभव नहीं हो पाता है। उनमें लचीलापन तो मिल जाता है, किंतु क्रांतिकारी मोड़ नहीं मिल पाता है। उनका बद्धमूल संस्कार आड़े तिरछे आ जाता है। यहाँ पर तुलसीदास से उनकी बहुत बड़ी समानता है। दोनों ही मर्यादावादी से भी अधिक अनुशासन प्रिय हैं। उनके कम ही अध्येता या आलोचक हैं जो उनकी भाव भूमि को पकड़ पाए हैं। उसका विश्लेषण करते समय वे बहुधा अपनी मान्यताओं को भी आरोपित कर दिया करते हैं। फलस्वरूप कभी तो वे प्रतिगामी जान पड़ने लगते हैं और कभी प्रगतिशील दिखाई पड़ने लग जाते हैं। उनका सहज स्वरूप निखर कर सामने नहीं आ पाता है।

वास्तव में गुप्तजी मानवता प्रेमी कवि हैं, मानवतावादी नहीं। उनकी मानवता मनुष्य की आवश्यकता नहीं, स्वभाव है। इस प्रकार यह आधुनिक से अधिक परंपरागत मध्यकालीन है। मनुष्य प्रकृत्या स्निग्ध, सरल और तरल है। संचयलिप्सा और स्वार्थपरता उसे असंयत तथा असंतुलित बना देती है जिससे वैयक्तिक एवं सामाजिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। यदि उसे सहज रहने की सुविधा रहे तो किसी मानवतावाद की उसे आवश्यकता ही न रह जाय और वह स्वतंत्र एवं स्वच्छंद जीवन यापन करने लग जाय। इसमें सबसे बड़ी बाधा सत्ता तथा संपत्ति के एकाधिकार को लेकर है। उनकी कृतियों में जातीय गौरव और देशभक्ति का स्वर मुखरित है। अपनी संस्कृति का उन्हें अभिमान है और उनकी नारियाँ भी आत्मगौरव की गरिमा के प्रति जागरूक हैं। कर्तव्य पालन में पुरुषों के पीछे नहीं हैं और उनका स्वाभिमान जागृत है। इसे तत्कालीन आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में भलीभाँति हृदयंगम किया जा सकता है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी छाप पड़ी दिखाई देती है। यह मनोराज्य की सुखद कल्पना नहीं, वास्तविक जीवन का यथार्थ निदर्शन है। गुप्तजी इनसे इस प्रकार रच पच गए हैं कि इनकी अनदेखी नहीं कर सके। कहीं पर तो यह स्पष्ट है और कहीं संकेत मात्र। यह उनकी योग्यता एवं क्षमता का पुष्ट

प्रमाण है। अपनी व्यंजना शैली में वे नगर की अपेक्षा गाँवों के अधिक निकट हैं। उनकी वाक्चातुरी कहीं कहीं निरभ्र गगन के तारों की भाँति चमक उठती है। उनकी भाषा सरल एवं सुबोध है। कहीं कहीं बुंदेली भी झाँकती दिखाई दे जाती है। यह उन जैसे कवि के लिये स्वाभाविक भी है। उनकी भाषा उनके अनुरूप ही सहज तथा सरल है। वहाँ कृत्रिमता के लिये अवकाश ही नहीं है।

इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे अनेक बार श्रद्धेय दद्दा के सान्निध्य में आने का सुअवसर मिलता रहा है। चाहे श्री रायकृष्ण दास जी का निवास स्थान हो चाहे दीदी महादेवी का घर, चाहे साहित्यकार संसद हो चाहे संसद भवन, चाहे कोई सभा हो, चाहे समारोह, दद्दा का वही रंग, रूप और ढंग सदैव मुसकराता चेहरा और फैली वाहें। जो बातें कभी भावविभोर बना देती थीं आज वे भाव विह्वल बना देती हैं। वे सच्चे अर्थों में सहृदय साहित्यकार थे। हृदय तो सबके साथ होते हैं किंतु समान हृदय की अनुभूति कम ही हो पाती है। व्यंग्य विनोद भी उनका अनूठा होता था। अग्रज श्री आचार्य परशुराम चतुर्वेदी तो अपने गंभीर स्वभाव के कारण उतना नहीं खुल पाते थे। परंतु अग्रज तुल्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जब मिलते थे तो ठहाके और कहकहे की भरमार हो जाती थी। बलिया और बुंदेलखंड में कभी कभी खूब ठन जाती थी। यदि दीदी महादेवी भी कहीं वहाँ उपस्थित रहीं तो एक गुलजार समाँ बँध जाती थी जिसे देखते ही बनता था। बलिया के 'गँवार' और 'चिर गँवार' की उक्ति बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। सादा जीवन, उच्च विचार और मधुर व्यवहार दद्दा की अविस्मरणीय विशेषताएँ थीं जिन्हें भूलकर भी नहीं भुलाया जा सकता। आज वह सब सपना लगता है। उनके अनेक संस्मरण स्मृतिकोष की दुर्लभ निधि बन गए हैं।



हिंदी नवजागरण और मैथिलीशरण गुप्त के नारी चरित्र

डा० महेंद्रनाथ राय

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युगीन साहित्य में हिंदी नवजागरण के अन्यतम कवि के रूप में मान्य हैं। उनके व्यक्तित्व एवं वैचारिक विश्व को रूपाकार देने में द्विवेदी युग की अहं भूमिका रही है। भारतेंदु युग की सामंत और साम्राज्य विरोधी चेतना द्विवेदी युग में और प्रखर बनती है तथा तत्कालीन साहित्य में स्पष्ट रूप में प्रतिबिंबित होती है। १८५७ ई० के गदर को हिंदी नवजागरण का पहला, भारतेंदु युग को दूसरा तथा द्विवेदी युग को तीसरा चरण मानते हुए डा० रामविलास शर्मा हिंदी भाषा के परिष्कार तथा उसे व्याकरण-संमत बनाने को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं स्वीकार करते बल्कि उसे उनके व्यापक कार्यक्रम का अंशमात्र ही बताते हैं। उनके विचार से द्विवेदी जी की अनेक लब्धियाँ हैं; जैसे 'उन्होंने हिंदी गद्य का विकास किया, उसे विविध विषयों के विवेचन का माध्यम बनाया तथा व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली हिंदी की प्रतिष्ठा करके साहित्य में जड़ जमाए रीतिवाद को बाहर निकाला।'[1] द्विवेदी जी अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र और आधुनिक ज्ञान विज्ञान का भरपूर ज्ञान रखते थे तथा सामाजिक परिवर्तन और विकास की दृष्टि से इतिहास के अध्ययन पर बल देते थे। उनके साहित्य संबंधी बोध एवं दृष्टि के निर्माण में हिंदी के महाकवियों तथा भारतेंदु युगीन साहित्य एवं साहित्यकारों की विशेष भूमिका थी।

ध्यातव्य है कि जहाँ भारतेंदु और उनके अधिकांश सहयोगियों ने काव्य-भाषा के रूप में व्रजभाषा का पक्ष लिया, वहीं द्विवेदी जी ने व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली हिंदी को काव्यभाषा का आसन दिलाने के लिये प्राणप्रण से चेष्टा की। इसी के साथ जनमानस के लिये सर्वथा अनुपयुक्त सामंती संस्कारों की दरबारी कविता, समस्या पूर्ति और नायिका भेद वाली रुग्ण परंपरा का पुरजोर विरोध उनकी स्वस्थ सामाजिक चेतना का प्रमाण है। उन्होंने बहुत बारीकी से लक्षित किया कि चूँकि हिंदी भाषी प्रदेशों में साहित्यकारों के संरक्षण सामंती अवशेष थे इसलिये नायिका भेद वाली परंपरा का बहुत समय तक वहाँ कायम रहना स्वाभाविक था। द्विवेदी जी सामंती व्यवस्था और दरबारी काव्य परंपरा दोनों के प्रतिपक्ष में खड़े होकर अपनी साहित्यालोचन संबंधी मान्यताओं को रंग

---

१. हिंदी नवजागरण और महावीरप्रसाद द्विवेदी: डा० रामविलास शर्मा, (भूमिका)

रूप देने में सफल मनोरथ रहे। 'उनकी राष्ट्रीय मुक्ति की प्रबल आकांक्षा स्वभावतः साम्राज्य विरोध की दिशा में उन्हें अग्रसर करती थी। अपने जातीय जीवन की निगूढ़ शक्ति से भलीभांति परिचित द्विवेदी जी एवं उनके सहयोगियों के लिये राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रतीक हिंदी के भक्त कवि एवं भारतेंदु युगीन साहित्यकार थे, रीतिकालीन कवि नहीं। इंगलैंड में कालरिज और कीट्स के लिये जो महत्व शेक्सपियर और मिल्टन का था वही महत्व द्विवेदीयुग के साहित्यकारों के लिये हिंदी भक्त कवियों एवं भारतेंदु युगीन साहित्यकारों का था'।[1] द्विवेदी युगीन साहित्यकारों में साहित्य की सोद्देश्यता एवं सामाजिकता संबंधी जो विवेकपूर्ण अवधारणा दिखाई पड़ती है वह आगे चलकर आचार्य शुक्ल एवं परवर्ती आलोचना में और अधिक पुष्ट एवं विकसित होती है। साहित्य के स्वरूप एवं अभिप्राय संबंधी समूची परिवर्तित मानसिकता एवं दृष्टिकोण के मूल में घुमा फिरा कर नवजागरण की विचारधारा ही है। यहाँ तक कि जिस छायावादी साहित्य आंदोलन को एक लंबे अर्से तक एक कलावादी, रहस्यवादी और स्थूल के प्रति सूक्ष्म की आग्रही साहित्य आंदोलन मानने तथा द्विवेदी युगीन साहित्य के प्रति उसे प्रतिक्रियावादी कहने की प्रथा रही है, डा० शर्मा के अनुसार 'वही छायावादी साहित्य आंदोलन बहुत अंशों में वैचारिक स्तर पर द्विवेदी युग का विकास और अनुवर्तन भी करता है। राष्ट्रीय एकता, जाति और वर्ण व्यवस्था, नारी स्वाधीनता, आजादी की लड़ाई में किसान संगठन का महत्व, अंगरेजी राज, जमींदारी प्रथा, भाषा की समस्या आदि पर विशेष रूप से निराला ने जो भी लिखा है, वह द्विवेदी जी के कार्य की ही अगली कड़ी है'।[2]

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारंभ होने वाली नवजागरण की चेतना एवं मूल्य दृष्टि से संपूर्ण भारतीय भाषाएँ अपनी जातीय एवं सांस्कारिक मनोवृत्ति एवं संमान के समानांतर मात्रा भेद से प्रभावित एवं अनुप्राणित हुई हैं। हिंदी भाषी प्रदेश में स्वामी दयानंद के नेतृत्व में सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर नवजागरण को रूपाकार मिलता है और साहित्यकार बुद्धि एवं विवेक की कसौटी पर परंपरित मान्यताओं एवं विश्वासों की परीक्षा करते हैं। जीवन और जगत् के प्रति उनकी रुझानें बौद्धिक एवं तार्किक स्तर पर प्रकट होती हैं। राष्ट्र की पराधीनता संबंधी अवसाद उन्हें राष्ट्रीय एकता की दिशा में गतिशील बना देता है। राष्ट्रीय गौरव तथा सांस्कृतिक विरासत के प्रति गहरा अनुराग भाव नवजागरणयुगीन साहित्य की अविस्मरणीय विशेषता है। जीवन और जगत् के प्रति इहलौकिक दृष्टिकोण, बुद्धि स्वातंत्र्य तथा मनुष्य को सृष्टि की सर्वोपरि और सर्वोत्तम सत्ता स्वीकार करने वाली मानव-

---

१. हिंदी नवजागरण और महावीर प्रसाद द्विवेदी: डा० रामविलास शर्मा।
२. वही; डा० रामविलास शर्मा।

वादी विचारधारा की प्रतिष्ठा नवजागरण की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे समूचा युग मानस आंदोलित होता है। मध्यकालीन बोध एवं संस्कार से मुक्ति की प्रक्रिया में पुरानी अवधारणाएँ एवं रूढ़ियाँ प्रश्नांकित होती हैं, गुरुडम विरोधी मानसिकता उत्तरोत्तर बनती जाती है। नवजागरण के प्रभाव की महत्वपूर्ण दिशा है—निवृत्तिमूलक दर्शन की जगह जीवन के प्रति प्रवृत्तिपरक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा। इस प्रवृत्ति के उत्थान के फलस्वरूप संन्यास की जगह गार्हस्थ धर्म को समादर मिलता है और गार्हस्थ धर्म के प्रति श्रद्धा और समादर की अभिव्यक्ति नारीत्व की महिमा की घोषणा के रूप में होती है। मनुष्य का अपना जीवन तथा इहलौकिक संसार माया मोह और भवसागर का पर्याय नहीं बल्कि आकर्षण और महत्व की वस्तु बन जाता है। जीवन के मर्म और धर्म को उद्घाटित और अर्थापित करने में नारी के अंतर्बाह्य सौंदर्य और उसके प्रेम की अहं भूमिका को आधुनिक युग में सभी चिंतक और विचारक स्वीकार करते हैं। अब उसके संबंध में हमारी पुरानी धारणाएँ जो उसकी अवज्ञा और अनादर पर आधारित थीं, कमजोर पड़ने लगती हैं और नई सौंदर्य दृष्टि और संचेतना का जन्म होता है। नारी को आधुनिक मानस पतनोन्मुख बनाने वाली पुरुष की दुर्बलता के रूप में न लेकर शक्ति और प्रेरणा के रूप में लेता है। उसे अनादृत और तिरस्कृत करने वाले किसी भी तरह के मत मतांतर आधुनिक मन को रास नहीं आते। वह शारीरिक और आत्मिक स्तर पर पुरुष की मुक्ति का अपरिहार्य हेतु बनती है। कहना न होगा कि उसके गौरव और संमान की यह वृद्धि प्रकारांतर से जीवन के प्रति प्रवृत्ति-परक दृष्टिकोण का ही उत्थान है जो भारतीय नवजागरण की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है। उस प्रवृत्तिपरकता के परिणाम स्वरूप यौवन और सौंदर्य सुख और आनंद, अमरत्व और आत्म स्थापन की आकुलता समाज और साहित्य में व्यापक रूप में व्यक्त होती है, कर्मठता के सिद्धांत को आदर और मनुष्य के सौंदर्य मूलक अभिमान को विशेष महत्व मिलता दिखाई देता है। आतंककारी और भयोत्पादक काम मंगल से मंडित होकर मानवीय सृष्टि के लिये वरदान बन जाता है और जीवन और जगत् सर्वथा रमणीय और आकर्षक प्रतीत होने लगते हैं। सुखोपभोग की लालसा, जीवन को भरपूर जीने की अभिलाषा अनित्य में नित्य की खोज तथा अमरत्व प्राप्ति की चेष्टा में हम युग के सृजनशील मानस को निरत पाते हैं। बुद्धिवादी विचारधारा और वैज्ञानिक अनुसंधानों के आलोक में मनुष्य की शक्ति एवं संभावना में नया विश्वास जन्म लेता है। अब मनुष्य प्रभु और परात्पर के समक्ष अकिंचन जीव मात्र नहीं रह जाता। सारे ग्रह नक्षत्र और दैवी विधान अब मनुष्य की दुर्धर्ष शक्ति के संमुख नतमस्तक होने के लिये बाध्य होते हैं। दैवी शक्ति और सामर्थ्य के आगे बँधे हाथ और झुके सिर राष्ट्र देवता की अर्चना और आराधना में बँधते और

झुकते लक्षित होते हैं। स्वर्ग की ओर लगी आँखें परम ममतामयी, वात्सल्यमयी धरित्री की ममता और वत्सलता का मर्म पा लेती हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारो पुरुषार्थ नवयुग में नए ढंग से अर्थापित और व्याख्यायित होते हैं। वैयक्तिक मोक्ष की तुलना में मानवता की मुक्तिकामना को हम गौरवान्वित होते हुए देखते हैं। नियति मनुष्य के दृढ़ निश्चय और अडिग मनोबल के समक्ष विनत होती हुई प्रतीत होती है। नवजागरण के मूल्यादर्शों की प्रतिष्ठा के समानांतर न केवल हिंदी में बल्कि संपूर्ण भारतीय भाषाओं के नवजागरण कालीन साहित्य में बोध एवं चिंतन के स्तर पर यह सब घटित होती है।

हिंदी नवजागरण की दूसरी मंजिल द्विवेदी युगीन साहित्य के मान मूल्यों, विचारधारा एवं संवेदना को हम श्री मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य में किसी न किसी रूप में वर्तमान पाते हैं। राष्ट्र के सुख दुःख और उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य को लेकर निरंतर ताने बाने बुनने में उन्हें हम निरत पाते हैं। उनके वैष्णव संस्कार एक विशेष तरह की वैचारिक क्रांति की ओर उन्हें उन्मुख करते हैं। राम काव्य तथा कृष्ण काव्य आरंभ से ही भारतीय सृजनशील मानस के उपजीव्य रहे हैं। गुप्तजी इन दोनों काव्यधाराओं में जुड़ते हुए उन्हें नवयुगीन अर्थ संदर्भ देते हैं। उनकी 'भारत भारती' कवि के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक बोध, समसामयिक राष्ट्रीय समस्याओं में उसकी सक्रिय साझेदारी तथा राष्ट्र के अतीत, वर्तमान और भविष्य को लेकर एक विशेष तरह के गर्व, चिंता और स्वप्नदर्शिता की अभिव्यक्ति है जो किसी भी प्रबोधन कालीन मानस की स्वाभाविक विशेषता होती है। उनके 'साकेत' में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का धरती पर अवतरण जिस युगीन आवश्यकता और अभिप्राय से होता है वह रामकाव्य परंपरा को युगीन संदर्भ देने वाला है। ईश्वर की नर लीला के स्थान पर नर की ईश्वरता को चरितार्थ करने हेतु धरती पर अवतरित मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम दीन दुःखियों के आँसू पोछने, मनुष्यता को गौरवान्वित करने, दुःखी और संतप्त जीवन में सुख शांति लाने में अपने 'रामत्व' की अभिव्यक्ति पाते हैं न कि अधर्म की जगह धर्म और असाधु की जगह साधु जन के हितार्थ धराधाम को कृतकृत्य करने हेतु दयावश उनका अवतरण होता है। जिस तरह 'प्रिय प्रवास' के कृष्ण लोकरंजक की जगह नवयुग में लोकरक्षक बनते हैं, प्रणयिनी राधा देश सेविका बन जाती है लगभग उसी मनोभूमि में 'साकेत' के चरित्रों की भी गुप्तजी द्वारा सृष्टि की गई है। व्यक्ति के अपने सुख दुःख से राष्ट्र के सुख दुःख की अधिक महत्ता है। इस बोध और विवेक से नवजागरण युगीन समूचे साहित्यकार संपृक्त दिखाई देते हैं। गुप्तजी की विलक्षणता यह है कि ऊपर से देखने पर वे पूरी तरह से पुराणपंथी एवं प्राचीनतावादी लगते हैं लेकिन थोड़ी गहराई में जाने पर प्रतीत होता है कि समकालीन सोच और संवेदना से वे

भरपूर हैं। इस सोच और संवेदना का पूर्ण उत्कर्ष उनकी नारीत्व संबंधी उदात्त परिकल्पना में है। उन्होंने पुरुष प्रधान समाज द्वारा प्रताड़ित, अपमानित और मौन साधना में नित्य तिरस्कृत, नारियों को व्यक्तित्व संपन्न करके पहली बार मुखरित होते हुए दर्शाया है। पुरुष के अन्याय और अत्याचार के प्रति गहरे असंतोष और आक्रोश को अपने नारी चरित्रों द्वारा पहली बार उन्होंने सतेज ढंग से अभिव्यक्ति दी है। उनके काव्य में तथाकथित महापुरुष पतियों के वैराग्य भाव के कारण पीड़ित पत्नियों, पति के विद्यमान रहते हुए भी आजन्म वैधव्य की पीड़ा झेलने वाली गृहणियों तथा पति द्वारा अपने चरित्र पर शंका किए जाने के कारण मृत्यु का वरण करने के लिये विवश की जाने वाली रमणियों की व्यथा कथा का मार्मिक अंकन है। सेवा, त्याग, ममत्व, करुणा तथा सहिष्णुता आदि की प्रतिमूर्ति ये नारीचरित्र पुरुष प्रधान समाज द्वारा निर्दिष्ट दोहरे नैतिकता के नियम का शांत ढंग से कड़ा प्रतिरोध करते हैं। इन नारी चरित्रों के माध्यम से राष्ट्र कवि यह स्थापित करने में सफल मनोरथ हुए हैं कि पुरुषों की कीर्ति के पीछे नारियों का बलिदान काम करता रहा है। लक्ष्मण की यशगाथा के मूल में उर्मिला की तपस्या का, गौतम बुद्ध की बुद्धत्व प्राप्ति में यशोधरा के त्याग और बलिदान का और महावीर की आध्यात्मिक सिद्धि और दार्शनिक खोज में विष्णुप्रिया के सर्वस्व समर्पण का जो रहस्य इतिहास के पृष्ठों में छिपा हुआ था, उसे उद्घाटित करने का यशस्वी प्रयास हिंदी नवजागरण के अन्यतम कवि गुप्तजी के द्वारा हुआ है। गुप्तजी की यह महत्वपूर्ण स्थापना है कि पुरुषों की यशगाथा, आध्यात्मिक यात्रा और दिव्यत्व प्राप्ति के स्वप्न धरे के धरे रह जाते यदि पत्नियों ने अपना सर्वस्व अर्पित कर इन स्वप्नों को निर्विघ्न रूप में चरितार्थ न किया होता।

अपने यहाँ मध्यकालीन इतिहास और धर्म दर्शन के क्षेत्र में मोक्ष प्राप्ति को सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है। इस मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में वह नारी आड़े आती रही है जिसे पौराणिक और धार्मिक निष्पत्तियाँ माया मोह का प्रतिरूप सिद्ध करती रही हैं। इन निष्पत्तियों ने अनेक तरह की विकृतियों एवं त्रासदियों की सृष्टि की है। अपनी सारी साधना और पारमार्थिक सिद्धि के बावजूद साधु संतों के द्वारा निवृत्ति मूलक दृष्टिकोण के कारण सर्वाधिक कठोरता नारी जाति के प्रति बरती गई है। उसे माया, महाठगिनि, विष वमन करने वाली सर्पिणी, नरक का द्वार, महाविकार और पुरुष के पतन का एकमात्र कारण कहा जाता रहा है। नारी संबंधी इस विसंगतिमूलक अवधारणाओं का दुःखद परिणाम यह हुआ कि समाज में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि मोक्ष के सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त करने के लिये माया मोह, घर द्वार आदि के केंद्र नारी संग से उपराग होकर अरण्य में एकांत वास करते हुए

सदाचार पूर्वक साधनारत रहना परमार्थपद के जिज्ञासुओं का एकमात्र धर्म है। इस निवृत्ति मूलक दर्शन का कुफल यह हुआ कि मातृ ऋण, गुरु ऋण, ऋषि ऋण आदि से उपराग होकर भरी जवानी में युवकों द्वारा संन्यास वृत्ति अपनाई जाने लगी जो सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की भयावह और कुत्सित विकृतियों को जन्म देने लगीं। वृद्ध माता पिता, युवा पत्नी, दूधमुंहे बच्चे हृदय पर पत्थर रखकर अपने एक मात्र संरक्षक को सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति के लिये विदा करते रहे। संन्यास का पुण्य पक्ष जो भी रहा हो एक भयंकर पाप पक्ष भी इस रूप में सामने आया। अंतर्विरोध यह रहा कि युवा संन्यासी घर द्वार, पत्नी बच्चे सबसे स्थूल रूप से विरक्त होकर भी मानसिक रूप से उनसे आवद्ध रहे। वात्सल्य, स्नेह, दुलार आदि की हार्दिक स्मृति से मुक्त न हो सके और परिणाम स्वरूप आंतरिक निरुजता उनसे कोसों दूर रही।

आधुनिक युग में नवजागरण की चेतना ने इस संन्यास समर्पित जीवन पर जहाँ भरपूर चोट की वहीं प्रवृत्तिपरक दृष्टिकोण को सर्वथा नैसर्गिक और विवेकपूर्ण माना। जीवन जगत् को नश्वर और मिथ्या समझी जाने वाली विचारधारा गर्हित और त्याज्य समझी गई। इस लोक में मिलने वाली सुख समृद्धि में मनुष्य का विश्वास जगा। गृहस्थ धर्म को संमान मिलने के क्रम में नारीत्व की अत्यंत भव्यतम परिकल्पना हुई। इसे पुरुष की शक्ति, इसके अभावों की पूर्ति और उसके उत्कर्ष की विधायिका के रूप में स्वीकृति मिली। गुप्तजी की अनेक कृतियों में यह सन्यास विरोधी मानसिकता और नारीत्व संबंधी स्वस्थ, निरुज परिकल्पना विद्यमान है।

गुप्तजी के 'साकेत' की उर्मिला उनकी निजी और मौलिक सृष्टि है। राम-काव्य परंपरा में इस चरित्र पर यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ा था। इस चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने का गुप्तजी का प्रयास सर्वतोभावेन स्तुत्य है। उर्मिला पति वियोग के चौदह वर्ष बड़ी शालीनता और धीरता से काटती है। अपने जीवन के स्वर्णिम क्षणों को परिवार समाज के कुशल क्षेम के प्रति सचेत रहते हुए पति वियोग में सार्थक ढंग से बिता लेती है। कभी व्यर्थता बोध या रीतेपन के मारक अनुभव से नहीं गुजरती। प्रिय की मधुरतम स्मृतियों को बड़ी सहजता और गंभीरता से झेलती है। पति वियोग में ऋतुओं या मौसम को कोसना या रीतिकालीन नायिकाओं की भाँति बहुत हाय तोबा मचाना उसके सुसंस्कृत व्यक्तित्व को रास नहीं आता। गुप्तजी ने गृहस्थोचित स्नेह संबंधों के मध्य उर्मिला को परिवार और समाज के प्रति सदाशयता-पूर्ण आचरण करते हुए दिखाया है। पति बियुक्ता उर्मिला अपने स्वाभाविक भावोद्वेग और उद्विग्नता को संयम और धैर्य से नियंत्रित करते हुए मातृतुल्य

सासुओं, परिवार जनों, परिजनों, परिचारिकाओं तथा समानधर्मा ग्राम समाज की प्रोषित पतिकाओं के प्रति यथोचित और अपेक्षित सदाचरण का बर्ताव करती है। राजन्य परिवार के आभिजात्य का अहंकार उसे लेशमात्र भी नहीं है। सबके सुख दुःख में उसके चरित्र की हिस्सेदारी ही उसे विशिष्ट बनाती है। अर्द्धांगिनी के कर्तव्य और अधिकार का जो तर्क देकर सीता राम के साथ वन वासिनी थीं वही तर्क उर्मिला भी दे सकती थी किंतु वह मुखर न हो सकी, पति के कर्तव्य पालन में कभी अवरोध न बनी। यही कारण है कि उसके अभूतपूर्व त्याग और बलिदान को गौरवान्वित करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को अपने श्रीमुख से स्वयं स्वीकार करना पड़ा—

आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा तेरा।
लक्ष्मण तुम तो तपस्पृही,
मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही
हुए वस्तुतः तुम दोही।[1]

किंतु इसी के साथ यह भी सच है कि उर्मिला की तुलना में गुप्तजी की 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' के व्यक्तित्व और आत्माभिव्यक्ति में जो दीप्ति, भास्वरता, वेधकता और मार्मिकता है वह उर्मिला के व्यक्तित्व एवं उद्गारों में नहीं। इसका एकमात्र कारण यह है कि उर्मिला का पतिवियोग सावधि रहा जब कि यशोधरा और विष्णुप्रिया का निरवधि। जिस चरित्र ने जितनी पीड़ा और यातना झेली उसी के सामानंतर उसके व्यक्तित्व में तेज और अभिव्यक्ति में प्रखरता आई। यह दूसरी बात है कि गुप्तजी ने 'साकेत' की उर्मिला के चरित्र को निखारने के लिये यथेष्ठ प्रयत्न किए पर एक सीमा तक ही उन्हें इस प्रयत्न में सफलता हाथ लगी।

यशोधरा में नारीत्व की महिमा एवं शक्तिमत्ता को व्यक्त होने के लिये व्यापक चित्रफलक मिला है। नारी के अनेक रूपों में सबसे आदरणीय और संमाननीय रूप माता का है। यशोधरा पति परित्यक्ता तरुणी ही नहीं बल्कि माँ भी है। इसका अनादर पत्नीत्व का नहीं बल्कि मातृत्व का भी अनादर है। उसकी भी वही नियति है जो मोक्षार्थी संन्यासी पतियों की पत्नियों की होती है। संन्यास को मोक्ष प्राप्ति का कारण तथा गृहस्थी को बंधन का पर्याय माने जाने के कारण नारी पुरुष की निर्ममता का शिकार होती रही है। फलतः आधुनिक युग में इस पौराणिक दृष्टिकोण के प्रति आक्रोश का

---

१. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त।

उभरना स्वाभाविक है। गुप्तजी ने अनेक अवसरों पर यशोधरा के माध्यम से इस वैराग्यभाव पर गहरी चोट की है। पति पत्नी के मध्य गहरे अंतराल को शब्द देते हुए प्रकारांतर से कवि ने इस अवांछित और अमावनीय वस्तु-स्थिति के प्रति हार्दिक क्षोभ व्यक्त किया है। तिल तिलकर सारी प्रतिकूलताएँ सहते हुए मोक्षार्थी पति के लिये सदा मंगलैषणा करनेवाली कहाँ पत्नी की करुण कहानी और कहाँ पति की परम पद प्राप्ति की यशगाथा ? दोनों के मध्य की इस त्रासक विषमता को शब्दबद्ध करनेवाली निम्नांकित पंक्तियाँ किसे मर्माहत नहीं कर देतीं ?

जाओ नाथ अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक देखूँ बस हे दानी,
कहाँ तुम्हारी गुण गाथा में मेरी करुण कहानी ?[1]

कहना न होगा कि वह मोक्ष जो सहधर्मिणी की आँखों को सावन भादों की तरह अविराम बरसने, सुहागन रहते हुए भी आजीवन वैधव्य की आग में सुलगते रहने के लिये विवश कर दे, वह कैसे काम्य हो सकता है ? पत्नी के अर्थ होते हैं पतनात् त्रायते इति पत्नी अर्थात् जो पतन से बचाए वह पत्नी है। ऐसी पत्नी के आँसुओं और त्याग तपस्या के मूल्य पर प्राप्त होनेवाला मोक्ष अमृत किसी भी स्तर पर ग्राह्य नहीं हो सकता। संन्यास अपने को साधने में है, दूसरों को नहीं और उनको तो कदापि नहीं जो अपने पर आश्रित और अवलंबित हैं। ऐसा संन्यास नवयुग के मानस के लिये कदर्थना का विषय बन जाय तो आश्चर्य ही क्या ? उपर्युक्त पंक्तियों में अमृत और पानी, तप और सहिष्णुता, गुणगाथा और करुण कहानी के माध्यम से नर और नारी के मध्य परंपरित वैषम्य की त्रासक स्थिति का मार्मिक अंकन कवि ने किया है। यशोधरा पति की इस निष्ठुरता को लेकर अत्यंत विषण्ण मनःस्थिति में है कि संन्यास लेने के पूर्व पति ने उसे इस योग्य भी नहीं समझा कि उससे विचार विमर्श कर लिया जाय। परमार्थ पद की प्राप्ति के लिये चोरी चोरी घर छोड़ने में कौन सा पुरुषत्व और शौर्य है—

सिद्धि हेतु स्वामी गए यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गए यही बड़ा आघात।
सखि वे मुझसे कहकर जाते ?
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते ?

× × ×

१. यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त।

१०

सास ससुर पूछेंगे तो उनसे क्या अभी कहूँगी मैं ?
हा ! गर्विता तुम्हारी, मौन रहूँगी, सहूँगी मैं ?[१]

यशोधरा भारतीय गृहिणी की आदर्श वृत्ति एवं चारित्रिकता का समुचित ढंग से निर्वाह करती है। गुप्त जी ने उसके व्यक्तित्व को गहन चिंतनशीलता से युक्त दिखाया है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण समग्रतः प्रवृत्तिपरक एवं आधुनिक भाव बोध से संपन्न है। इसके माध्यम से कवि ने नवजागरण-परक चिंतन एवं दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति दी है। उसके तर्क बड़े प्रभावी हैं एवं धारणाएं अत्यंत विवेकपूर्ण। उसके अनुसार कामार्थ का उपयोग मोक्ष तक स्वभावतः पहुँचाने वाला होता है। संयम और नियमपूर्वक यदि हम जीवन जिएँ तो सारी आध्यात्मिक सिद्धियाँ अनाहूत हमारा स्वागत करेंगी। आत्मा की सत्ता में विश्वासी कभी मृत्यु से आतंकित नहीं होते। मृत्यु व्यक्ति की होती है, समष्टि की नहीं। समष्टि की धारा तो सतत प्रवहमान है। रही संसार के दुःखरूप होने की बात तो जीवन में सुख भी क्या कम हैं ? प्रकृति जगत् में जैसे पतझड़ और वसंत की स्थिति है वैसे ही जीवन में दुःख सुख की। जीवन उनके लिये प्रेयस और अर्थपूर्ण है जो परहित में उसे जीते हैं। यशोधरा के ब्याज से प्रस्तुत जीवन और जगत् की यह बौद्धिक व्याख्या, जीवन के सुख सौंदर्य पर बल देने की प्रवृत्ति तथा नर नारी के कर्तव्य और अधिकार की यह मानवीय परिकल्पना हिंदी के नवजागरण युगीन मूल्यादर्शों के परिपार्श्व में पड़ती है। यशोधरा की चिंतनशीलता और मननशीलता के समानांतर ही उसके आचरण में भी आदर्श गृहिणी का स्वाभिमाव एवं कुलशील परिलक्षित होता है। पति गृह त्याग कर संयास वृत्ति अपनाते हैं तो वह घर के भीतर ही सारे दायित्वों का निर्वाह करते हुए तपस्यारत रहती है। गृहिणी के स्वाभिमान से वह भरी पूरी है। उसके व्यक्तित्व में अद्भुत दीप्ति है। परिजनों से यह सुनकर कि उसके संन्यासी पति उसके अति निकट अवस्थित होकर संसार के दुःखी और संतप्त लोगों का त्राण कर रहे हैं, वह सखियों द्वारा बहुत प्रेरित किए जाने पर भी घर की चारदीवारी पार कर पति से मिलने के लिये तैयार नहीं होती। जहाँ पति ने संन्यास पूर्व उसे छोड़ा था वहीं बनी रहने में अपना कुलशील समझती है। उसके मान और ऐंठ में एक गृहिणी के सहज सौंदर्य के दर्शन होते हैं—

किंतु तात ! उनका निदेश बिना पाए मैं
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी ?[२]

---

१. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त।
२. यशोधरा, ,, ,,

सखी यशोधरा को समझाती है कि गौतम बुद्ध के रूप में उसके प्रासाद में साक्षात् स्वर्ग ही अवतरित हुआ है, अतः उसे प्रिय के उन चरणों में जाकर प्रणत होना चाहिए जिन पर आज सारा संसार प्रणत है। ऐसी स्थिति में उसका मन थोड़ा ढीला होता भी है लेकिन वह उस पर संयम का अंकुश लगा देती है—

यदि वे चल आए हैं इतना
तो दो पग उनको है कितना
क्या भारी वह मुझको जितन।
पीठ उन्हींने फेरी
रे मन, आज परीक्षा तेरी।[1]

और अंत में नारीत्व गृहिणीत्व विजयी होता है, संन्यास की पराजय होती है। प्रेम के मान की रक्षा होती है। बुद्ध को स्वयं यशोधरा के द्वार खट-खटाने होते हैं।

मानिनि ! मान तजो, लो रही तुम्हारी आन।
दानिनि ! आया स्वयं द्वार पर तव यह तत्रभवान्।

इस अवसर पर कहते हैं कि बुद्ध ने आनंद से कहा था कि आनंद ! संसार के लिये मैं बुद्ध हूँ किंतु गोपा के लिये मैं अभी भी सिद्धार्थ ही हूँ।" और यह सच भी है। पत्नी के लिये पति पति ही रहेगा, संसार के लिये वह कुछ भी हो जाए—

चाहे तुम संबंध न मानो।
स्वामी किंतु न टूटेंगे ये, तुम कितना ही तानो।
पहले हो तुम यशोधरा के, पीछे होगे किसी पराके,
मिथ्या भय है जन्म जरा के इन्हें न उसमें सानो।
वधू सदा मैं अपने वर की, पर क्या पूर्ति वासना भर की ?[२]
सावधान ! हाँ, निज कुल घर की जननी मुझ को जानो।[३]

पत्नी पति के संमान और श्रद्धा की अधिकारिणी तो निसर्गतः हैं ही, उसका यह अधिकार इसलिये और भी बढ़ जाता है क्योंकि वह उसके संतानों की माँ भी है। यशोधरा के उपयुंक्त कथन में गृहिणी के स्वाभिमान की विद्यमानता है और उसमें उपभोग्य और वासना पूर्ति का साधन समझने वाली संकुचित दृष्टि का कड़ा प्रतिरोध भी है। इन पंक्तियों में मातृत्व की गरिमा का सहज उन्मेष है। गुप्त जी की उपयुंक्त

१. यशोधरा मैथिलीशरण गुप्त।
२. यशोधरा, ,, ,,
३. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त।

पंक्तियाँ उनकी नारीत्व परिकल्पना के मानक रूप में रखी जा सकती हैं। विनम्रता, शालीनता, स्वाभिमान एवं विवेकपूर्ण जीवन दृष्टि संपन्न यशोधरा अपने समूचे चारित्रिक उत्कर्ष में गुप्त जी की विशिष्ट चरित्रसृष्टि है। गृहिणी के अत्यंत सतेज, शालीन, गंभीर और करुण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति यशोधरा के माध्यम से गुप्त जी ने की है। 'साकेत' की उर्मिला की आत्माभिव्यक्ति में वैसी मार्मिकता नहीं है जैसी यशोधरा में है। चिंतन, बोध एवं भावाभिव्यक्ति सभी दृष्टियों से 'साकेत' की तुलना में 'यशोधरा' एक सशक्त कृति है।

गुप्त जी की 'विष्णुप्रिया' का जीवन यशोधरा से भी अधिक त्रासद है। यशोधरा की कोख सूनी नहीं है किंतु उसकी है। विष्णुप्रिया के माध्यम से कवि ने संतप्त एवं पीड़ित नारी जाति के सात्विक आक्रोश को शब्द दिया है। इस नारी-चरित्र द्वारा कवि ने नारीजीवन से जुड़े और उसके अस्मितावोध से संबद्ध कई ऐसे मूलभूत प्रश्नों को उठाया है जिनका उत्तर देने में पुरुष प्रधान समाज बगलें झाँकता है। मोक्ष और संन्यास को परम लक्ष्य और सदाचरण का उत्कर्ष समझने वाले पौराणिकों के पास इस प्रश्न का क्या उत्तर है कि मोक्षार्थी पति तो पत्नी को छोड़कर अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेता है किंतु पत्नी भी मोक्षकांक्षिणी हो तो वह किसका त्याग करे ? यदि इस प्रक्रिया में वह पति छोड़ती है तो क्या पुरुष प्रधान समाज में 'असती' न कहलाएगी ?—

अवला के भय से भाग गए, वे हमसे भी निर्वल निकले।
नारी निकले तो असती है, नर यती कहाकर चल निकले।

कहना न होगा कि इस प्रक्रिया में पहली करारी चोट पुरुष द्वारा गढ़े हुए नर नारी के लिये भिन्न भिन्न नैतिकता के दोहरे नियमों पर पड़ती है। जो एक के लिये अमृत है वह दूसरे के लिये विष क्यों ? एक पक्ष घर द्वार छोड़ता है तो संन्यासी बनकर पूज्य होता है और दूसरा ? यह कहाँ का और कैसा न्याय है ? नारी की अवज्ञा सिखलाने वाली यह कैसी विद्रूप व्यवस्था है ? लगता है पूरी मध्यकालीन समाज व्यवस्था में पुरुष द्वारा परमार्थक्षेत्र में नारी को त्याज्य, अग्राह्य, वर्जना तथा विगर्हणा का विषय मानने के पीछे पुरुष के मन में ही छिपकर बैठे प्रबल काम भाव के उसके साहचर्य में जाग्रत हो जाने का एक अज्ञात भय छिपा रहा है। यह स्थापित सत्य है कि पुरुष की प्रकृति द्वारा, नर की नारी द्वारा पराजय उसकी अंतर्निहित कामना के कारण ही होती रही है। अभिलाषा और आकांक्षा ही किसी की दरिद्रता या दुर्बलता को सूचित करती हैं। चूँकि नारी साहचर्य निसर्गतः पुरुष को काम विह्वल बना देने वाला, स्खलित कर देने वाला है, अतः अपने मन को कसने, साधने की जगह पुरुष नारी के त्याग को ही सहज पाता रहा है। इसी के साथ विडंबना यह भी रही है कि अरण्यवासी संन्यासी भी अरण्य में ही अपनी गृहस्थी बसाते रहे हैं, स्थूल रूप से पत्नी और परिवार

को छोड़कर भी मानसिक रूप से उनसे जुड़े ही रहे हैं। ऐतिहासिक परंपरा से जुड़ी इस गर्हित कर्मकांडी मनोवृत्ति को प्रश्नांकित करते हुए नवजागरण के मूल्यादर्शों को बोध एवं संवेदना के स्तर पर रूपायित करनेवाले मैथिलीशरण गुप्त की विष्णुप्रिया का निम्नांकित कथन इस संदर्भ में द्रष्टव्य है—

हाय मेरे कारण ही छोड़ गए घर वे
गृहिणी ही त्यागते हैं नर गृह कह के।[1]

विष्णुप्रिया मातृत्व की गरिमा से मंडित नहीं। यशोधरा की तरह वह किसी के 'कुलघर की जननी' अपने को नहीं कह सकती। उसका नारीत्व और मातृत्व तो पूरी तरह अभिशप्त है और इसीलिये उसका चरित्र करुणा की पराकाष्ठा को स्पर्श करनेवाला है—

किंतु माँ है वृद्धा, हतपुत्रा और विधवा
मैं हूँ परित्यक्ता वधू भिक्षु हुए पति की
अब निज निःस्वता ही संपदा हमारी है
यह तो तुम्हारे यशःपट के ही योग्य है।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में पुरुष की संन्यास वृत्ति पर तीखी चोट की गई है। जिस संन्यास वृत्ति के अपनाने के कारण युवा पत्नी और वृद्धा माँ आठ आठ आँसू बहाने के लिये विवश हों उस पर आक्रोश होना स्वाभाविक ही है। विष्णुप्रिया के उद्‌गार इस आक्रोश से भरे हैं।

यशोधरा और विष्णुप्रिया द्वारा पुरुष प्रधान समाज की नारी विषयक संकुचित दृष्टि पर जो चोट की गई है उससे अधिक बेधक और तिलमिला देने वाली अभिव्यक्ति द्वापर की विधृता की है। विधृता की आत्मा ने अपने वैदिक पति की पत्नी विषयक शर्मनाक धारणा और शंकालु मनोवृत्ति पर जैसे करारे व्यंग्य किए हैं उनकी वेधकता और तीखापन पानी पानी कर देने वाला है। संभवतः समस्त द्विवेदी युगीन साहित्य में पुरुषों की नारी विषयक अत्यंत शर्मनाक और सतही धारणा पर ऐसी मारक पंक्तियाँ नहीं लिखी गई होंगी। ये पंक्तियाँ क्या हैं मानो आक्रोश और क्षोभ के स्फुलिंग ही हों—

कामुक चाटुकारिता ही थी क्या वह गिरा तुम्हारी,
एक नहीं दो दो मात्राएँ नर से भारी नारी।
\+ + + +
अधिकारों के दुरुपयोग का कौन कहाँ अधिकारी
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धांगिनी तुम्हारी?
हाय वधू ने क्या वर विषयक एक वासना पाई
नहीं और क्या कोई उसका पिता पुत्र या भाई?

---

१. विष्णुप्रिया, मैथिलीशरण गुप्त।
२. विष्णुप्रिया, मैथिलीशरण गुप्त।

नर के बाँटे क्या नारी की नग्न मूर्ति ही आई
माँ, बेटी या बहिन हाय, क्या संग नहीं वह लाई ?
अविश्वासहा अविश्वास ही नारी के प्रति नर का
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का ।[1]

विधृता के ये उद्गार पुरुष की कापुरुषता, चारित्रिक दुर्बलता, हीन मनोवृत्ति और अत्यंत संकुचित दृष्टि संघात के परिणाम हैं। युगों युगों से पुरुष द्वारा प्रताड़ित और संतप्त नारी जाति के स्वाभाविक प्रतिकार से उद्भूत हैं और जो पुरुष के नारी विषयक अमानुषिक सोच और भ्रष्ट आचरण को पर्त दर पर्त उकेरने वाले हैं। ये देहाश्रयी चेतना से परिचालित तथा नारी के दैहिक मांसल सौंदर्य को सब कुछ समझकर उस पर आकृष्ट पुरुष को नारी की व्यापक सामाजिक भूमिका तथा उसके उदात्त आत्मिक सौंदर्य से परिचित कराते हैं। कहना न होगा कि राष्ट्र कवि ने सामाजिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में गार्हस्थ्य के मांगलिक स्वरूप का उद्घाटन कर ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। इतिहास और अतीत की व्याख्या एवं विवक्षा में युगीन संदर्भों एवं मूल्यादर्शों की कभी उन्होंने अवहेलना नहीं की है।

गुप्त जी की स्वस्थ और सतेज नारी चरित्रों की सृष्टि हो या उन चरित्रों के माध्यम से व्यक्त विचार हों, सभी युगबोध एवं मूल्य दृष्टि से अनुप्राणित हैं। उनके नारी पात्र अपने समूचे व्यक्तित्व, भावबोध एवं विचारधारा में युगीन आदर्शों एवं सामाजिक सांस्कृतिक चेतना के वाहक हैं। इन नारी चरित्रों के माध्यम से व्यक्त विचार एवं प्रतिक्रियाएँ सहज ही पुरुषों की नारी विषयक संकुचित दृष्टि एवं अवधारणाओं को संशोधित, परिष्कृत एवं परिवर्तित कर देने के लिये विवश कर देती हैं। शायद ही ऐसा कोई जड़ एवं निष्ठुर पुरुष हो जिसे नारी की नियति और गति को उद्घाटित कर देने वाली गुप्त जी की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रवित न कर देती हों—

नारी लेने नहीं जगत् में देने ही आती है।
या
अबला जीवन हाय तुम्हारी, यही कहानी
आँचल में है दूध और आखों में पानी।[2]



---

१. द्वापर, विधृता, मैथिलीशरण गुप्त।

२. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त।

राष्ट्रीय चेतना के महान् उन्नायक राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

डा० लल्लन मिश्र

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के विषय में कभी विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा था—"कवि के विषय में लिखा नहीं जाता, उसे पढ़ा जाता है।' आज तो कवि की रचनाओं को बिना पढ़े उसके विषय में लिखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक चल पड़ी है।

गुप्त जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व किया। अतः महात्मा गांधी द्वारा उन्हे राष्ट्रकवि कहना अकारण नहीं था। हिंदी भाषा में प्रसाद गुण के माध्यम से प्रभावोत्पादकता लाकर गुप्त जी ने उसकी प्रभूत शक्ति को दिखा दिया। यद्यपि उनकी 'भारत भारती' आंग्ल शासकों के कूटनीतिक चातुर्य से जब्त हो गई। किंतु तब भी आपकी कृतियों में भारत की भारती मुखरित होती रही।

भारतेंदु युग से राष्ट्रीयता की जो लहर अपने देश में फैली और जिसे उनके मंडल के अन्य कवियों और लेखकों ने अपनी रचनाओं से अधिक तरलायित किया वही काव्यधारा द्विवेदी युग में आकर मानो पूर्णता तक पहुंच गई।

गुप्त जी ने राष्ट्र की आत्मा को पहचाना। युगानुकूल राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कृतियों का निर्माण किया। पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों को लेकर उनमें आधुनिक भावनाओं का सन्निवेश किया। कुछ आलोचकों को यह बात खटकी। किंतु प्राचीन कथा को दुहराना मात्र ही कवि का उद्देश्य नहीं था। वस्तुतः नवीन जागरण के लिये उनकी आत्मा आकुल हो रही थी। अतः रीतिकालीन भोग विलास के संस्कार से जनता को सावधान करते हुए उन्होंने स्वदेश प्रेम का नया मंत्र फूंका। 'रंग में भंग' और 'जयद्रथ वध' जैसी उनकी प्रारंभिक रचनाओं ने जन मानस को केवल मोहित ही नहीं किया, उसे आंदोलित भी किया।

हमारा भारत वर्ष बड़ा विशाल देश है। इसकी विशालता और अनेकता में एकता का वैशिष्ट्य आदिकाल से चला आ रहा है। इसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक लंबी परंपरा रही है। मैथिलीशरण जी ने 'भारत भारती' में राष्ट्रीय एकीकरण की सुंदर भावनाओं का समीकरण प्रस्तुत किया।

आज सांप्रदायिक एकता, सहिष्णुता और भावात्मक एकता के नाम पर बहुत कुछ कहा जाता है। किंतु आज से साठ वर्ष से भी अधिक पहले गुप्त जी ने देशहित को समझकर इस्लाम धर्म के भाई चारे के सिद्धांत पर 'काबा और

कर्बला', सिख गुरुओं के प्रति संमान की भावना से 'गुरुकुल' एवं बौद्ध धर्म के प्रति अगाध आस्था व्यक्त करते हुए 'यशोधरा' की रचना की थी। उनकी सर्व-धर्म-सहिष्णुता की भावना का यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

गुप्त जी के राष्ट्र प्रेम का अर्थ किसी भी माने में संकीर्ण नहीं था। जिस प्रकार उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा सर्वधर्म समन्वय का आदर्श रखा उसी प्रकार राष्ट्र प्रेम के साथ उन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर भी संकेत किया। अपने देश की मिट्टी, यहाँ की रमणीय प्रकृति, यहाँ के निवासियों, नदियों, पर्वतों की महिमा का गान उन्होंने अनेक बार किया है—

भू लोक का गौरव प्रकृति का पुण्यलीला स्थल कहाँ?
कैसा मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ!
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है;
उसका कि जो ऋषि भूमि है वह कौन? भारत वर्ष है।
हाँ, वृद्ध भारत वर्ष ही संसार का सिर मौर है
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान की सब भूतियों का यह प्रथम भंडार है
विधि ने किया नर सृष्टि का पहले यही अवतार है।

उपर्युक्त पंक्तियों को कवि की अतिशयोक्ति नहीं समझना चाहिए। इसमें तनिक संदेह नहीं कि भारत को अतीत में यह गौरव अवश्य प्राप्त था।

देशवासियों की राष्ट्रीय चेतना को रीतिकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियों से दूसरी ओर मोड़कर कर्मयोग, त्याग और तपस्या की ओर उन्मुख करने वाले कवियों में गुप्त जी अग्रगण्य थे। उन्होंने अतीत की याद दिलाकर तत्कालीन पराधीनता रूपी दुर्दशा से हमें सावधान एवं भविष्य के प्रति आस्था जगाने का प्रशंसनीय प्रयास किया।

वस्तुतः उन दिनों महात्मा गांधी ने राजनीति द्वारा एवं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचना द्वारा जो कार्य किया वही कार्य गुप्त जी ने कविता के माध्यम से किया। वे अपने युग के सबसे अधिक सावधान और देश की धरती से जुड़े हुए कवि थे। प्राचीन आख्यान को लेकर नई भावनाओं को भरने के कारण (वर्तमान कालिक संदर्भ जोड़ने के कारण) कुछ समीक्षकों ने गुप्त जी की तीखी आलोचना की, किंतु उन्होंने उसकी परवाह नहीं की। यदि आधुनिक काल के किसी एक ऐसे कवि की कल्पना करें जिसने समूचे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित किया तो वह अकेला नाम मैथिलीशरण गुप्त का होगा। वे कवि से अधिक मानव थे, जिसका वर्तमान युग में नितांत अभाव होता जा रहा है।

गुप्त जी के आगमन के समय देश में प्रायः दो प्रकार की धारणाओं का

प्रचार प्रसार था। प्रथम यह कि हमारी संस्कृति सर्वोपरि है, हम सभ्यता के चरम शिखर पर हैं, हमारे समान कोई नहीं है! दूसरी यह कि हम गिरे हुए हैं, परतंत्र हैं। हमारे शासक अंगरेज और उनकी सभ्यता, उनकी संस्कृति सर्वोपरि है। ये दोनों ही धारणाएँ अपने में ठीक नहीं थीं। अतः राष्ट्रकवि गुप्त जी ने दोनों ही स्थितियों को समेटते हुए 'भारत भारती' में संगठित और विघटित होने के प्रभाव परिणाम को 'अतीत' और 'वर्तमान' खंडों में अच्छी तरह दर्शाया है—

शैशव दशा में देश प्रायः जिस समय सब व्याप्त थे,
निःशेष विषयों में तभी हम प्रौढ़ता को प्राप्त थे।
संसार को पहले हमीं ने ज्ञान भिक्षा दान की,
आचार की, व्यवहार की, व्यापार की, विज्ञान की।

अथवा,

शुभ शांतिमय शोभा जहाँ भव बंधनों को खोलती,
हिलमिल मृगों से खेल करती सिंहिनी थी डोलती,
स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि होम करते थे जहाँ,
उन ऋषि गणों से ही हमारा था हुआ उद्भव यहाँ।

धन पर केंद्रित हमारी दृष्टि को राष्ट्र के लिये बहुत बड़ा खतरा समझ-कर भौतिकता से सचेत होने का कवि का आह्वान छह दशकों से भी अधिक वर्षों के पश्चात् हमें नए सिरे से सोचने के लिये बाध्य करता है—

स्वर्ण की जंजीर बाँधे श्वान फिर भी श्वान है,
धूलि धूसर भी करी पाता सदा संमान है।
जो पराये काम आवे धन्य है जग में वही
द्रव्य को ही जोड़ के कोई सुयश पाता नहीं।
पेट भरने के लिये तो उद्यमी है श्वान भी
क्या अभी तक पर मिला उसको कहीं संमान भी?

गुप्त जी के नाम से सबसे पहले मेरा परिचय सन् १९४६ में पाँचवीं कक्षा में पढ़ते समय 'जयद्रथ वध' के माध्यम से हुआ था। फिर 'रंग में भंग' और 'भारत भारती' को पढ़ा। सभी का जादू मेरे ऊपर छा गया। उस समय यह मोह यहाँ तक बढ़ गया था कि हरिगीतिका को छोड़कर मुझे कोई दूसरा छंद पसंद ही नहीं आता था, यहाँ तक कि गीतिका भी नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हरिगीतिका में गुप्त जी को कमाल हासिल है।

देश के वर्तमान परिवेश में यदि हमें विघटनकारी शक्तियों से सावधान रहना है तो गुप्त जी के ग्रंथों से अधिक उपयुक्त ग्रंथ आधुनिक काल के दूसरे कवियों के शायद ही मिल सकें। भावुकता के साथ कर्म की तत्परता ने ही उनको

जीवन में आगे बढ़ने के लिये प्रेरित किया। नहीं तो साधारण व्यक्ति जीवन में उतनी दुर्घटनाओं का सामना करके अवश्य ही टूट जाता। लोक संग्रह उनके साहित्य का मूल प्राण है। इसलिये आज का समीक्षक एक सीमा तक उन्हें उपदेशक भी समझ सकता है। किंतु गहराई से निकलने वाली धारा का स्रोत कभी सूखता नहीं।

गुप्त जी ने हमारे बिखरे मनों को सँजोया। हमें एकता के सूत्र में बाँधने का संदेश दिया। उन्होंने भारतीय संस्कृति के अतीत से प्रेरणा लेकर विविध प्रबंध काव्यों की रचना की। उनका साहित्य निश्चय ही समष्टिगत चेतना का प्रतीक है। राष्ट्रीय जीवन का उद्घाटन करने के साथ उन्होंने विश्व मानव के कल्याण की कामना की है; क्योंकि 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' की उपेक्षा करके जो रचना की जाती है वह शीघ्र ही मर जाती है। गुप्त जी ने देश और साहित्य की सेवा के लिये अपने को समर्पित कर दिया था। इनकी पंक्तियाँ इसका स्वयं प्रमाण हैं—

"अर्पित हो मेरा मनुज काय,
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।"



राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और उनकी राष्ट्रीय भावना

डा० विजेंद्र सिंह

हिंदी साहित्य अपने आविर्भाव काल से ही अत्यंत उदारवादी भावनाओं से ओतप्रोत रहा है। हिंदी साहित्य के वीरगाथा अर्थात् आदिकालीन साहित्य का मूल्यांकन करने पर यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि इस काल के रचनाकार समाज और देश की दशा से कभी भी तटस्थ नहीं रहे हैं। आदिकालीन साहित्य अधिकांशतः राजतंत्रीय व्यवस्था के आसपास घूमता रहा है। इस काल के रचनाकारों की देशभक्ति, राष्ट्रीय चेतना आश्रयदाताओं के राज-दरबारों तक ही थी। हिंदी साहित्य का मध्यकाल भारत का वह काल था जिसमें भौगोलिक सीमाओं एवं धर्मप्रेरित शासकों की नीतियों के कारण वह अपनी एकता और अखंडता खो चुका था। विदेशी मुसलमान शासक यद्यपि भारतीय हो गए थे, फिर भी उनकी धार्मिक कट्टरता के परिणामस्वरूप देश विखंडित हुआ। इस विषम परिस्थिति में भी धार्मिक, सांस्कृतिक एकता के लिये साहित्यकार बराबर प्रयत्नशील रहे। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में विविध भाषा-भाषी संतों एवं भक्तों द्वारा धार्मिक सांस्कृतिक एकता के लिये बराबर प्रयास होते रहे। भक्ति आंदोलन का आविर्भाव दक्षिण में हुआ, आलवार संतों ने देश को एक नवीन दिशा दी। भक्ति की यह स्रोतस्विनी अजस्र रूप से सिंध, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, कश्मीर, आंध्र एवं तमिलनाडु आदि प्रांतों में प्रवाहित होती रही, जिसके फलस्वरूप विभिन्न जनपद एवं प्रांत राष्ट्रीय एकता के सुदृढ़ सूत्र में बंधे। उस काल में हृदय की सरस धारा ने जो भावात्मक एकता प्रस्तुत की वह आधुनिक राजनीति के सिद्धांतों द्वारा प्रायः असंभव है।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही देश की स्थिति पूर्णरूपेण बदल गई। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुख्य मंतव्य भारत पर अधिकार करना ही नहीं अपितु उसे खोखलाकर अपने देश को सब प्रकार से समृद्ध बनाना था। अंगरेजों की इस दुर्भावना को समझने में भारतवासी नहीं चूके और उनमें भी अपनी स्वतंत्र ता के प्रति सही मायने में आस्था जागी तथा साहित्यकारों ने भी अपनी जिम्मेदारी सँभाली और तत्कालीन भारतीय समाज की दयनीय स्थिति को अपने साहित्य में चित्रित कर देशवासियों की भावनाओं को जगाने का सफल प्रयास किया। भारतेंदु जी के प्रयास इस दिशा में स्तुत्य रहे हैं। भारतेंदु युग में आकर राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक चेतना में कोई अंतर नहीं रह गया और द्विवेदी युग में आकर यही राष्ट्रीय चेतना विद्रोही चेतना का रूप धारणकर

लेती है और अनेक कवियों तथा लेखकों ने गांधी जी के नेतृत्व को स्वीकार किया। साथ ही उन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से राष्ट्र की रक्षा के लिये स्वतंत्रता की लड़ाई में सर्वस्व समर्पण कर देने के लिये उत्साहित किया। यहाँ आते आते राष्ट्रीय चेतना की प्रकृति में इतना बदलाव आया कि पूर्ववर्ती राष्ट्रीय चेतना को पहचानना कठिन हो जाता है। पर आधुनिक काल के साहित्यकारों ने परंपरा और आधुनिकता का समन्वय कर, जिस आधुनिक राष्ट्रीय भावधारा को पुष्पित पल्लवित किया है, उसमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का स्थान सर्वोपरि है।

राष्ट्रीय भावना राष्ट्रीयता का ही पर्याय है। राष्ट्रीय भावना के तहत यह आवश्यक है कि समस्त देशवासियों में एक तरफ एकता की भावना हो तथा दूसरी तरफ उनमें राष्ट्रहित के समक्ष अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक हितों के त्याग की बलवती भावना भी हो। साथ ही साथ राष्ट्र की समस्त संपत्ति, प्राकृतिक संपदा, सभ्यता, संस्कृति, विभिन्न जातियों एवं धर्मों और भाषाओं आदि के प्रति लगाव रहे। प्रसिद्ध शिक्षाविद् जे० एस० बुवेकर के शब्दों में 'राष्ट्रीयता साधारण रूप में देश प्रेम की अपेक्षा देशभक्ति के अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत करती है। राष्ट्रीयता में स्थान के संबंध के साथ साथ प्रजाति, भाषा, इतिहास, संस्कृति और परंपराओं के संबंध भी प्रदर्शित होते हैं।

जब हम देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम अथवा देशभक्ति की बात करते हैं तब वह उस स्थिति में ही संभव है, जब व्यक्ति को अपने और राष्ट्र की समस्त भौगोलिक एवं सांस्कृतिक संपत्ति से लगाव हो। वस्तु स्थिति यह है कि राजनीतिक परिवेश में जिसे राष्ट्रीयता की संज्ञा दी जाती है उसे ही साहित्य की भाषा में देशप्रेम, देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

राष्ट्रीय महिमा का गुणगान, राष्ट्र की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के हेतु राष्ट्रवासियों को आत्मोत्सर्ग के लिये प्रेरणा देना, राष्ट्रीय एकता और अखंडता के हेतु प्रोत्साहित करना, देश की गौरवपूर्ण संस्कृति के प्रति तीव्र अनुराग व्यक्त करना, राष्ट्र की सामूहिक उन्नति, प्रगति एवं समृद्धि हेतु जनमत तैयार करना, शासकीय दमन का साहस के साथ विरोध करना राष्ट्रीय भावनाएँ हैं।

राष्ट्रीय भावना की उक्त कसौटी पर जब हम मैथलीशरण को रखते हैं तब देखते हैं कि गुप्तजी का समूचा रचना संसार राष्ट्रीय भावना से मंडित है। वह उनकी देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना ही थी, जिसके लिये उन्हें

जेल भी जाना पड़ा। अंगरेजी शासन द्वारा भारत को लुटते देख उनका राष्ट्रप्रेमी हृदय व्यग्र हो उठा, यही एक सबसे प्रबल कारण था कि गुप्त जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वदेशवासियों को ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह करने के हेतु प्रोत्साहित किया। ग्रामोत्थान, अहिंसा, सत्याग्रह, हिंदू मुस्लिम एकता आदि भावनाओं को साहित्य की वीणा से झंकृत किया।

अतीत की उज्वलता की वर्तमान भारत की स्थिति से तुलना कर सामयिक समस्याओं को समझने के लिये गुप्तजी ने भारतीय जनों को उत्प्रेरित किया है। सन् १९१२ ई० में तीन खंडों में प्रकाशित 'भारत भारती' पूर्णतः राष्ट्रीय भावनाओं की पोषक है। इसमें प्राचीन भारत के उज्जवल अतीत का वर्णन है। वर्तमान भारत का विषम आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति के उल्लेख के साथ साथ भावी भारत के लिये उषा की पहली किरण है। 'भारत भारती' के आरंभ में ही गुप्त जी समस्त भारतवासियों को उनके उज्ज्वल अतीत से अवगत कराते हैं—

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।'[1]

हकीकत यही है कि गुप्त जी भारत भारती के माध्यम से यही कहना चाहते हैं कि राष्ट्रव्यापी समस्याओं का समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम समस्त आर्य संतान एक नहीं होंगे। अतः अतीत कालीनवैभव उनकी असीम शक्ति के स्मरण के गरिमामय संदर्भों के दृष्टांतों द्वारा गुप्त जी ने राष्ट्र को उद्‌बुद्ध किया है 'जिसकी अलौकिक कीर्ति से उज्ज्वल हुई सारी मही। था जो जगत् का मुकुट है, क्या हाय यह भारत वही'।[2]

राष्ट्रीय चेतना और पुनर्जागरण की भावना जागृत करने का सर्वप्रथम सफल प्रयास गुप्त जी की भारत भारती में हुआ है। भारत भारती गुप्त जी की अनुपम काव्यकृति है, जिसके प्रकाशन में संपूर्ण हिंदी साहित्य जगत् राष्ट्रीय भावना से आप्लावित हो उठा और वह हिंदीप्रेमियों की कंठहार बन गई। 'भारत भारती' तत्कालीन भारत, जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया था, की जनता के राष्ट्रीय विचारों की संवाहिका बनी, फिर क्या था समूचा राष्ट्र आंदोलित हुआ, अंगरेज महाप्रभुओं के मस्तिष्क झन्ना उठे और परिणाम यह हुआ कि कवि और उसकी कृति दोनों ही

---

१. भारत भारती, अतीत खंड।
२. भारत भारती, अतीत खंड।

अंगरेज महाप्रभुओं के कोप के भाजन बने। यही नहीं भारत भारती पर प्रतिबंध लगा और उसकी प्रतियाँ जब्त कर ली गईं' और प्रकाशन तक बंद कर दिया गया।

भारत भारती का वर्तमान खंड गरीबी, भुखमरी, अविद्या, ढोंग आदि के' सजीव वर्णनों से भरा पड़ा है, जिसके माध्यम से राष्ट्र कवि मैथलीशरण गुप्त ने संपूर्ण देश में सामाजिक चेतना लाने का स्तुत्य प्रयास किया। उनका राष्ट्रप्रेमी मन राष्ट्रीय समृद्धि हेतु बेचैन हो उठता है और देश की अवनति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

> दुःशीलता दासी हमारी, मूर्खता महिषी सदा।
> है स्वार्थ सिंहासन हमारा मोहमंत्री सर्वथा।
> यों पापपुर में राजपद हा कौन पाना चाहता?
> चढ़कर गधे पर कौन जन वैकुंठ जाना चाहता?[1]

एक राष्ट्र का सदस्य होने के नाते गुप्त जी के लिये यह आवश्यक था कि अंगरेज महाप्रभुओं की मुट्ठी में कैद भारत की आजादी को कैसे मुक्त कराया जाय? इसके लिये गुप्त जी ने देश की संपूर्ण जनता को एकता के सूत्र में बाँधने का अनवरत प्रयास किया और राष्ट्रप्रेम जैसी पुनीत भावना को जनमानस में प्रतिष्ठित करने के साथ गुप्त जी ने देश की अखंडता एवं. एकता के लिये एक शासन और एक राज्य का होना आवश्यक माना। यदि एक राष्ट्र अथवा देश कई राज्यों में विभक्त हो या उस देश अथवा राष्ट्र में कई राजा हों तो उस राष्ट्र की शांति बिखर जाती है और वह देश प्रगति नहीं कर पाता।

देश की सामूहिक प्रगति के लिये उन्होंने समस्त देशवासियों को एकता के सुदृढ़ बंधन में बँध जाने का संदेश दिया—

> 'एक राष्ट्र न हों, बहुत से हों जहाँ,
> राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।'[2]

इस दृष्टांत से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देश की जिस एकता और अखंडता की बात आज चर्चा का विषय बनी हुई है, हमारी सरकार और उसके विभिन्न राजनीतिक तंत्र जिस भावात्मक एकता का स्वांग रच रहे हैं, और उसके लिये ढिंढोरा पीटते फिर रहे हैं उस एकता की शंखनाद गुप्त जी ने पराधीन भारत के समय ही किया था, गुप्त जी ने देश में रहने वाले विभिन्न जाति, धर्म संप्रदाय, क्षेत्र, संस्कृति एवं भाषा के लोगों को विविध रंगों एवं सुगंधों वाले सुंदर सुमनों से निर्मित एक हार (माला) का रूप दिया है। जिस प्रकार एक हार के सृजन में विभिन्न सुमनों (पुष्पों) का योगदान आवश्यक हो जाता है उसी प्रकार

---

१. भारत भारती, वर्तमान खंड।

२. साकेत, प्रथम सर्ग।

देशोत्थान और उसकी एकतारूपी माला के निर्माण के लिये विभिन्न जाति, संस्कृति, धर्म और भाषाभाषियों की भूमिका वांछनीय है। इसका वर्णन भारत भारती के भविष्यत् खंड में हुआ है—

> आओ मिले सब देश बांधव, हार बनकर देश के,
> साधक बने सब प्रेम से सुख शांतिमय उद्देश्य के।
> क्या सांप्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो,
> बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो?

इतना ही नहीं देश के संमान की रक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और भारत की स्वतंत्रता के हेतु अमित्र और अधःपतन की गर्दन मरोड़ने की बात भी गुप्त जी ने भारत भारती में कही है जिसके लिये तीस करोड़ भारतीय जन को एक हो जाने का उपदेश भी दिया है—

> 'है ज्ञात क्या तुमको नहीं तुम लोग तीस करोड़ हो,
> यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो।
> उत्साह जल से सींच कर हित का अखाड़ा गोड़ दो,
> गर्दन अधःपतन की ताल ठोक मरोड़ दो।'[1]

भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना के बाद अंगरेजों ने अपना प्रभुत्व जमाना आरंभ कर दिया। अंगरेज महाप्रभुओं की मनसा थी कि भारतवासियों को मानसिक स्तर पर गुलाम बनाया जाय। इस कार्य में उन्हें सफलता भी मिली। देश की आजादी के लिये जब गांधी जी के नेतृत्व में आंदोलन हुआ उस समय हमारे देश में कोई एक भाषा नहीं थी। विविध भाषाओं के होते हुए भी हिंदी उस धार्मिक, सांस्कृतिक आंदोलन की वाहिका बनी। गांधी, लोहिया, राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, तिलक, पुरुषोत्तमदास टंडन, सेठगोविंद दास जैसे कर्मठ नेताओं के अथक प्रयास से हिंदी का अत्यधिक प्रचार और प्रसार हुआ। स्वतंत्रता के बाद जब भारतीय संविधान के निर्माता की प्रक्रिया चल रही थी तब सेठ गोविंददास और पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे राष्ट्रप्रेमी व्यक्ति हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिए जाने का जबरदस्त समर्थन किया, जब कि अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने इसका विरोध भी किया, पर इन विरोधों के बावजूद हिंदी को इस शर्त के साथ राजकाज की भाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई कि सन् १९६५ ई० तक अंगरेजी भी राजकाज की कामचलाऊ भाषा रहेगी, जो व्यक्ति चाहे वह हिंदी में भी न्यायालय में अर्जी आदि दे सकता है, पर सबसे बड़ी विडंबना की बात यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् १९५० में स्थापित भारतीय संविधान के अनुसार सन् १९६५ तक हिंदी को अँगरेजी के स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाना था मगर आज भी अंगरेजी राजकाज में अपनी जड़ जमाए हुए है, जो हमारी गुलाम

---

१. भारत-भारती, भविष्यत् खंड (उद्बोधन)।

मानसिकता की परिचायक है। गुप्त जी की युगधर्मिता इस क्षेत्र में भी सराहनीय रही। गुप्त जी ने देखा कि जो राष्ट्रीय नेता स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व जिस हिंदी को राष्ट्रभाषा का गौरव दिलाने के लिये सतत संघर्षशील थे वे ही स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् उसकी खिलाफत भी करने लगे। गुप्त जी से हिंदी की यह दुर्दशा देखी नहीं गई, अतः उन्होंने अपनी साहित्यधर्मिता का आश्रय लेकर साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों और शासन तंत्रों को हिंदी के प्रयोग पर विशेष बल दिया तथा हिंदी को राष्ट्रभाषा का अधिकार देने और उसे राष्ट्रभाषा के माध्यम से ही राष्ट्र में भावात्मक एकता स्थापित करने का सुझाव दिया—

'है राष्ट्रभाषा भी अभी तक देश में कोई नहीं,
हम निज विचार जना सकें जिससे परस्पर सब कहीं।
इस योग्य हिंदी है तदपि अब तक न निज पद पा सकी।
भाषा बिना भावैकता अब तक न हममें आ सकी।'[1]

कविवर मैथिलीशरण गुप्त जी ने राष्ट्रीय एकता और अखंडता के विविध पक्षों का उद्घाटन बड़ी सतर्कता और दूरदर्शिता के साथ किया है। अकेले भारत भारती ही हमारे अंदर राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करने के लिये पर्याप्त है, फिर भी ऐसा नहीं कि राष्ट्रकवि की अन्य कृतियों में राष्ट्रीय भावना का अभाव है। कवि की सभी कृतियाँ व्यापक राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति और देशप्रेम की पवित्र भावना से मंडित है। साकेत, जयभारत, जयद्रथ वध आदि रचनाओं में राष्ट्रप्रेम की समग्रता के दर्शन होते हैं।

'साकेत' गुप्त जी की एक युग प्रतिनिधि रचना है, जिसमें राम कथा को आधार बनाया गया है। विषय, भाषा, शैली एवं उद्देश्य सभी दृष्टि से यह एक युग सापेक्ष रचना है, जिससे इसे महाकाव्य की गरिमा प्राप्त है। साकेत के सभी पात्र आधुनिक हैं। विशेषतः साकेत के नारी पात्र राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं। तत्युगीन परिवेश में उनकी भूमिका सर्वथा अनुकरणीय है। यह गुप्त जैसे महान् रचनाकार से ही संभव था। आधुनिकता बोध जितना गुप्त जी की रचनाओं में हमें देखने को मिलता है उतना आधुनिक युग के किसी अन्य रचनाकार में नहीं मिलता। गुप्त जी को भारत के अतीत का अथाह ज्ञान था, जिसके आधार पर उन्होंने भावी भारत के पुनर्निर्माण का जोरदार समर्थन भी किया, जो उन्हें एक श्रेष्ठ रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

अंगरेजी दासता के प्रति लोगों में विक्षोभ की भावना उत्पन्न हो गई थी, जिसकी चरम परिणति भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में हुई और समूचा देश आंदोलित हो उठा। मैथलीशरण गुप्त का साहित्यकार हृदय इसे अनदेखा नहीं कर सका और उन्होंने अपने साहित्य सृजन को राष्ट्रीय आंदोलन से पूर्णतः जोड़ा।

---

१. भारत भारती, भविष्यत् खंड (राष्ट्रभाषा)

गुप्त जी ने ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्रों को प्रतीकों के रूप में चित्रित कर उन्हें प्रासंगिक बनाया है। मैथिलीशरण गुप्त जी के आख्यान अत्यंत प्रसिद्ध हैं, जयद्रथ वध से लेकर साकेत, द्वापर, सिद्धराज, 'काबा और कर्बला' तथा जय भारत तक हमें पुरानी कथाएँ और प्राचीन वीरयोद्धाओं की गाथाएँ सुनने को मिल सकती हैं। किंतु ऐसा नहीं कि महाभारत और पुराणों की कथा को गुप्त जी ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया है, जहाँ कहीं अन्याय आदि की बात आई है गुप्त जी ने उनका खुलकर विरोध किया है। साकेत को ही लें, बात हो रही है, लंका में बंदिनी सीता की, पर कवि कहना क्या चाहता है ?

'भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिंधुपार वह विलख रही व्याकुल मन में।'[1]

इस प्रकार साकेत की सीता समुद्र पार अंगरेज शासकों के बंधन में जकड़ी भारतलक्ष्मी के रूप में अपना स्वरूप अधिक मुखर करती है। इसके बाद भी किसी की समझ में बात न आती हो तो साकेतकार आगे भी कहता है—

'सजे अभी साकेत बजे हाँ जय की डंका,
रह न जाय अब कहीं किसी रावण की लंका।'[2]

यहाँ गुप्त जी ने पूर्ववर्ती राम कथाओं के रावण की बात नहीं की अपितु वर्तमान रावण की बात की है। राष्ट्रीय चेतना गुप्त जी के जीवन का अंग बन चुकी थी, जो साकेत जैसे परंपरित काव्य में भी अभिव्यक्त हुई।

रामकाव्य परंपरा के अंतर्गत राम वनगमन के मूल में कैकेयी की भूमिका को अधिक हेय दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि राम को बनवास दिलाकर अपने पुत्र भरत के मार्ग में आने वाली बाधाओं को निर्मूल कर देना ही उसका अभीष्ट था, लेकिन रामावतार को जहाँ तक सार्थकता प्रदान करने का सवाल है, अपयश और वैधव्य जीवन अपनाकर भी कैकेयी ने इस महत्वपूर्ण कार्य को पूर्णता प्रदान की, जिसे जनमानस गले से नीचे नहीं उतारता और उसे विमाता के रूप में ही स्वीकृति प्रदान करता है। 'साकेत' की कैकेयी न कोई देवी है, न विमाता अपितु उसके चरित्र का विकास मानवीय रूप में हुआ है। क्योंकि इस सूचना पर कि लक्ष्मण को प्राणघातिनी शक्ति लगी है और लंका पर चढ़ाई करने के लिये समस्त अयोध्यावासी युद्ध की तैयारी में लगे हैं, कैकेयी का हृदय परिवर्तित हो जाता है और 'साकेत' में लोगों को उसका स्वर सुनने को मिलता है—

'भरत जायेगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी।'[3]

---

१. साकेत, द्वादश सर्ग।
२. साकेत, द्वादश सर्ग।
३. साकेत, द्वादश सर्ग।

यद्यपि कैकेयी के लिये यह सुंदर मौका था, उसे प्रसन्न होना चाहिए था क्योंकि लक्ष्मण के अभाव में राम का पराभव निश्चित था। तब भरत का मार्ग और अधिक निष्कंटक हो जाता, पर कैकेयी की संकुचित भावना में व्यापक परिवर्तन होता है और वह आगे कहती है—

'मैं निज पति के संग गई थी असुर समर में
जाऊँगी अब पुत्र संग भी अरि समर में।'[1]

'साकेत के सभी पात्र इस रूप में उपस्थित किए गए हैं कि वे वर्तमान प्रसंग में राष्ट्रीय भावना की पवित्र धारा के अपरिहार्य अंग बन गए हैं। साकेत के राम न्याय और सत्य की विज़य हेतु संघर्ष का मार्ग अपनाते हैं तो सीता भी उनका सहयोग करती हुई दिखाई पड़ती है। चित्रकूट प्रसंग में सीता का साधारण मानवीय रूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। साकेत की सीता पूर्ण रूपेण आत्मनिर्भर है—

'औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूं।'[2]

इस प्रकार सीता जी का सूत कातना और बुनना हमारे समक्ष गांधी जी के चरखा यज्ञ को उपस्थित करता है और इसके प्रति गुप्त जी पूर्णतः निष्ठावान दिखाई भी देते हैं। साकेत की सीता का स्वरूप समाज के विकास के रूप में और अधिक पूर्णता को प्राप्त करता है। सूत कातने, बुनने तथा चरखा गीत से सीता को संबद्ध कर कवि ने उनमें आधुनिक राष्ट्रीय भावना को निवेदित करने का सफल प्रयास किया है।

साकेत के केंद्रीय चरित्र के रूप में उर्मिला का व्यक्तित्व अत्यधिक मुखरित हुआ है। उर्मिला के नारी व्यक्तित्व की स्थापना भी गुप्त जी आधुनिक संदर्भों में करते हैं। उर्मिला न केवल साकेत का प्रतिनिधित्व करती है अपितु सदियों से उपेक्षित समस्त भारतीय नारियों का प्रतिनिधित्व करती है और इस प्रकार उसका व्यक्तित्व समूचे काव्य में छा जाता है और राम कथा गौण हो जाती है।

भारतीय नारी की उपेक्षा की परंपरा सुदीर्घ काल से चली आ रही थी और इससे समाज का एक महत्वपूर्ण अंग अपने विकास से कोसों दूर हो गया था, पर गुप्त जी ने वर्तमान संदर्भ में उर्मिला की अपने साहित्य में सही अर्थों में अवतारणा कर असंख्य भारतीय नारियों के विकास का मार्ग खोल दिया। उर्मिला कविवर गुप्त की उर्वर मानसिक कल्पना की उपज है, जिसमें

---

१. साकेत, द्वादश सर्ग।
२. साकेत, द्वादश सर्ग।

पौराणिक एवं ऐतिहासिक संरचना के माध्यम से आधुनिक भारतीय नारी की अभिव्यक्ति हुई है। आधुनिक युग के कवियों की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उनके साहित्य में नारी स्वर अधिक मुखरित हुआ है, चाहे प्रसाद की 'कामायनी' की श्रद्धा हो या अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध का 'प्रिय-प्रवास' हो अथवा सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमरदूत' हो, इनके नारी पात्रों में राष्ट्रीय चेतना कूट कूट कर भरी हुई है और अकेले गुप्त जी की न केवल उर्मिला बल्कि यशोधरा आदि सभी नारी पात्राएँ अपने त्याग और समर्पण की जिस उदात्त भावना का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं वह समस्त भारतीय नारियों के लिये अनुकरणीय बन जाता है।

गुप्त जी अपने रचनाकाल की अवधि में यदि किसी से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं तो वह राष्ट्रपिता महात्मा गांधी थे। देश की आजादी के लिये गाँधी जी द्वारा देशव्यापी आंदोलन चलाया जा रहा था। राष्ट्र की रक्षा के लिये गांधी जी ने सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक क्षेत्र में लोगों की मानसिकता को भी सुधारने का प्रयास किया, क्योंकि इसके अभाव में स्थायी स्वराज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी इंसके लिये गांधी जी ने समाज के उपेक्षित वर्ग को भी महत्व दिया और अछूतोद्धार जैसे विभिन्न कार्यक्रमों को राष्ट्रीय आंदोलन की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया। भारत में रामराज्य की स्थापना ही गांधी जी का मुख्य उद्‌देश्य था। गांधी जी की इस विचार धारा का प्रभाव हमें साकेतकार में भी देखने को मिलता है। भारत में राम राज्य की स्थापना प्रजातंत्रीय ढंग से हो सकती है। प्रजातंत्र की यह भावना राष्ट्र का मूल मंत्र है। गांधीजी इस तथ्य से भलीभाँति अवगत थे कि वर्तमान समय में राष्ट्र का निर्माण सही अर्थों में जनतंत्रीय सिद्धांतों पर ही हो सकता है और आज के स्वराज्य में समता और नागरिक अधिकार सबके लिये सुलभ होने चाहिए। कविवर गुप्त ने साकेत में इसी राज्यादर्श को स्वीकार किया है, साकेत के राजा राम तानाशाह नहीं अपितु लोकप्रतिनिधि हैं। गांधी के आदर्शों के अनुरूप ही गुप्त जी ने जनतंत्र पर आधारित राम के शासन का वर्णन किया। राम द्वारा संपूर्ण राज्य को अपना नहीं प्रजा की थाती स्वीकार करने पर प्रजा उनसे कहती है—

'राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना।
करो न यों तुम हाय लोक मत अनसुना।'[1]

इस प्रकार प्रजातंत्रीय ढंग से देश एवं राष्ट्र के उत्थान एवं स्थायित्व के लिये साकेतकार ने साकेत में अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। साकेत का एक एक पात्र

१. साकेत, पंचम सर्ग।

अपूर्व देशप्रेम एवं राष्ट्र के अनुराग से आप्लावित हैं। उर्मिला की यह चेतना तो सबसे अधिक मुखर है। उर्मिला के चरित्र चित्रण में कविवर गुप्त ने सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई में अपने शौर्य एवं साहस का अद्भुत परिचय देने एवं समरांगण में अंगरेजों के दाँत खट्टे करने वाली लक्ष्मीबाई की तस्वीर देखी है, जिस प्रकार लक्ष्मीबाई ने अपनी वीरता से तत्कालीन स्वतंत्रता संग्राम में स्वराज्य के लिये लड़ने वाले वीर योद्धाओं को मात्र आश्चर्य चकित ही नहीं किया बल्कि उन्हें स्थिति पर सोचने के लिये भी बाध्य कर दिया, उसी प्रकार उर्मिला जैसे चरित्र की अवतारणा कर गुप्त जी ने युगीन साहित्यकारों को एक नई ज्योति प्रदान की। राम भक्त हनुमान द्वारा यह सूचना पाकर कि लक्ष्मण को शक्ति लगी है, उनके प्राण संकट में हैं उस समय उर्मिला का जो रूप साकेतकार उपस्थित करता है वह किसी प्रकार रानी लक्ष्मीबाई से भिन्न नहीं प्रतीत होता—

आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी।
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।
जटा जाल से बाल विलंबित छूट पड़े थे,
माथे का सिंदूर सहज अंगार सदृश था,
प्रथमातप सा गात्र यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न पृष्ठ पर कण्ठ निकट था,
दायें कर में स्थूल किरण सा शूल विकट था।'[1]

इतना ही नहीं अपना सर्वस्व त्यागकर मातृभूमि की रक्षा करने वाली बात करती है—

'मातृभूमि का मान ध्यान में रहे तुम्हारे,
लक्ष लक्ष भी, एक लक्ष रखो, तुम सारे।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी के समस्त पात्रों में राष्ट्रीयता, देश प्रेम एवं दायित्व बोध भरा हुआ है। स्वयं इस दायित्व का परिचय कवि गुप्त देते हैं। साकेत के रूप में वे केवल साकेत धाम अथवा रामजन्मस्थली को ही महत्व नहीं देते अपितु समूचे भारत की कल्पना साकेत के अंदर ही करते हैं।

'संप्रति साकेत समाज वहीं है सारा, सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा।[3]

मात्र साकेत के ही पात्रों की अवतारणा राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति के लिये हुई है, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि गुप्त जी की अन्य रचनाओं में भी उनके

---

१. साकेत, द्वावादश सर्ग।
२. साकेत, द्वादश सर्ग।
३. साकेत, अष्टम सर्ग।

पात्र अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'कावा और कर्बला' की यह उक्ति कि मातृभूमि की रक्षा के लिये यदि प्राणों की आहुति भी देनी पड़े तो यह प्राण त्याग भी मंगलमय है—'जन्मभूमि के लिये मरण भी मंगलजन का।' द्वापर के बलराम में भी मातृभूमि के लिये बलिदान हो जाने की बात पाई जाती है—एक एक सौ सौ अन्यायी कंसों को ललकारो

अपनी पुण्य भूमि के ऊपर धन जीवन सब वारो।[1]

'गुरुकुल' की यह उक्ति कि देश की उन्नति के लिये जाति, कुल एवं संमान की रक्षा के लिये अपने को बलिवेदी पर चढ़ा देना सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय भावना का परिचायक है—

'जिस कुल जाति देश के बच्चे दे सकते हैं यों बलिदान
उसका वर्तमान कुछ भी हो पर भविष्य है महामहान।'[2]

गुप्त जी की रचनाओं में 'संघे शक्ति' की भावना का अत्यंत सफल चित्रण हुआ है। सब धर्मों, जातियों एवं ऊँच नीच जैसे निम्न विचारों का त्याग कर सबको एक हो जाने का संदेश दिया गया है। उनका विश्वास था कि जब तक समस्त भारतवासी अपनी जातीयता, क्षेत्रीयता एवं धार्मिक कट्टरता जैसे घृणित विचारों की होली नहीं जला देंगे तब तक राष्ट्रीय एकता कायम ही नहीं असंभव है। अतः 'स्वदेश संगीत' में राष्ट्रीय एकता जैसी पुनीत भावना के प्रति कविवर गुप्त जी अधिक सजग दीखते हैं—

'हिंदू मुसलमान सब भाई, निज नवीन नव गान।
वैष्णव, बौद्ध, जैन, आदिक हम उस पर हिंसा करें कि प्यार,
सत्याग्रह है कवच हमारा, कर देखें कोई भी वार,
हार मान कर शत्रु स्वयं ही यहाँ करेंगे मित्राचार।'[3]

'मंगलघट' में भी राष्ट्रीय एकता और अखंडता पर बल देते हुए गुप्तजी ने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है कि यदि सभी जाति धर्म में एकता आ जाय अर्थात् वे आपस में एक जुट होकर रहें तथा परस्पर सौहार्द्र से रहकर सभी सबके लिये कल्याण की कामना करें तो देश की अपने आप समृद्धि होगी, देश महान् होगा और उसके स्थायित्व की अधिक संभावना रहेगी।

'जाति धर्म या संप्रदाय का नहीं भेद व्यवधान यहाँ,
सबका स्वागत सबका आदर सबका सम संमान यहाँ,
राम, रहीम बुद्ध, ईसा का सुलभ एक सा ध्यान यहाँ,

---

१. द्वापर, बलराम।
२. गुरुकुल, गुरु गोविंद सिंह।
३, स्वदेश संगीत, गांधी गीत।

भिन्न भिन्न सब संस्कृतियों के गुण गौरव का ज्ञान यहाँ
नहीं चाहिए बुद्धि बैर की भला प्रेम उन्माद यहाँ,
सबका निज कल्याण यहाँ है पावें सब प्रसाद यहाँ ।'[१]

राष्ट्रीय उत्थान के लिये हिलमिलकर कार्य करना चाहिए। पृथ्वीपुत्र में भी यही बात कही गई है।

'आओ मिलकर करें राष्ट्र के लिये कठिन भी कृत्य।'[२]

राष्ट्रीय भावना के संदर्भ में जब हम साहित्य अथवा साहित्यकारों की भूमिका को देखते हैं, निःसंकोच रूप से कहना पड़ता है कि जिस राष्ट्रीय एकता को कायम रखने के लिये हमारे देश की सेना, बंदूकों, बड़े बड़े युद्धक विमानों, टैंकों, एटम एवं अणुबम तथा अन्य अनेक आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग करती है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की रक्षा साहित्य अथवा साहित्यकार भी करता हैं। वह देश की एकता और अखंडता के लिये हमारे अंदर क्रांतिकारी विचार, वलिदान होने की भावना उत्पन्न करता है। मैथिलीशरण गुप्त ने न केवल राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्र के उत्थान के लिये साहित्य के माध्यम से जनमानस को उद्‌बुद्ध किया अपितु स्वयं जेल जाकर अपनी उद्‌दाम राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया। गुप्त जी की संपूर्ण रचनाओं में युगबोध और राष्ट्रीयता परिलक्षित होती है। यह उनके रचनाकार व्यक्तित्व की ही विशेषता है कि उनके समस्त पात्र एक सतर्क एवं जागरूक प्रहरी की भाँति अपने दायित्व एवं युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्रीय भावना के पीछे भारतीय साहित्यकारों की एक लंबी परंपरा रही है। जिसमें मैथलीशरण गुप्त का स्थान सर्वोपरि है। वैसे तो इनका रचना संसार आद्योपांत राष्ट्रीय गर्जना से आपूर्ण है; साथ ही तत्कालीन विषयों, सामाजिक स्थितियों का जितना सजीव वर्णन किया है वह उन्हें महाकवि की गरिमा पर प्रतिष्ठित करता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त एक ऐसे सरस्वतीपुत्र हैं, जिनकी साहित्यिक वाणी आनेवाले दिनों में भारतीय समाज तथा राष्ट्र के निवासियों में देशोत्थान एवं राष्ट्रीय समृद्धि के लिये वलिदान हो जाने की भावना जागृत करती रहेगी और राष्ट्रकवि के रूप में मैथलीशरण गुप्त युगों तक राष्ट्र प्रेमियों द्वारा वंदित होते रहेंगे।



१. मंगलघट, मातृ मंदिर।
२. पृथ्वीपुत्र।

गुप्त जी की साम्राज्यवाद रीतिवाद विरोधी भूमिका

डा० आनंदनारायण पांडेय

हिंदी भाषा और साहित्य के उन्नायकों में श्री मैथिलीशरण गुप्त का नाम अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान का अधिकारी है। खड़ी बोली को अपनी शैशवावस्था में ही एक समर्थ प्रतिभा का अवदान प्राप्त हुआ। यह हमारे लिये भी गौरव और प्रसन्नता का विषय है। इस अवदानी को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे सतत जागरूक व्यापक संदर्भों के साहित्यकार का मार्गदर्शन सुलभ हुआ, यह भी अत्यंत ही श्रेयष्कर है। ऐसी स्थिति में मैथिलीशरण गुप्त के योगदान का मूल्यांकन करना और उसके आलोक में हिंदी भाषा और साहित्य की प्रगतिशील दिशाओं का संधान करना एक सामयिक तथा समीचीन कार्य है। ऐसे प्रयत्नों के द्वारा ही हम अपने साहित्य की रूढ़ियों का उच्छेद करते हुए भविष्य की प्रगति का पथ प्रशस्त कर सकेंगे। इस लेख में, जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है हम, भाषा, साहित्य, राजनीति, अर्थतंत्र, मर्म, संप्रदाय आदि सभी क्षेत्रों में गुप्त जी के साम्राज्यवाद विरोधी, रीति विरोधी विचारों का अवलोकन करने का प्रयत्न करेंगे।

श्री मैथिलीशरण गुप्त के प्रारंभिक रचनाकाल के दौर में हिंदी कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा और नायिका भेदी समस्या पूर्ति का भरपूर बोलबाला था। कहना न होगा कि यह प्रवृत्ति इतनी गहरी और सशक्त थी कि निराला के समय तक इसकी अनुगूंज सुनायी देती है। आचार्य शुक्ल ने जिस रीतिवाद का, नायिका भेद का अपने इतिहास द्वारा जबर्दस्त विरोध किया, मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपनी रचनाओं के माध्यम से उसका तीव्र प्रतिवाद प्रस्तुत करते हुए साहित्य को जन जीवन के गहनतर स्तरों से व्यापक संदर्भों में संबद्ध किया।

हिंदी कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा के आधिपत्य का अनुमान मात्र इस एक बात से ही लगाया जा सकता है कि उसके प्रयोग का समर्थन भारतेंदु हरिश्चंद्र और बालकृष्ण भट्ट जैसे प्रगतिवादी और स्वाधीनचेता साहित्यकारों ने भी किया था। लेकिन नए युग की आवश्यकताओं के संदर्भ में ब्रजभाषा अब जातीय साहित्य के विकास के अनुरूप नवीन भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकती थी। नए उत्पादन संबंधों के विकास, बड़ी बड़ी व्यापारिक मंडियों के उद्भव और उनके आपसी मेल मिलाप से जिस नई जातीय भाषा का गठन और प्रसार हो रहा था, वह खड़ी बोली थी। अतः सारी जनपदीय भाषाएँ इस विकास के समातर अपने स्थान से अपदस्थ होकर उपभाषाओं का रूप

प्राप्त करती जा रही थीं। ऐसी स्थिति में खड़ी बोली के स्थान पर ब्रजभाषा की हिमायत करना प्रगतिशील कार्य न था। किंतु ब्रजभाषा को सरलतापूर्वक काव्यभाषा के स्थान से पदच्युत कर देना भी आसान न था। किसी भी अन्य प्रदेश में कोई जनपदीय भाषा साहित्य में उस मजबूती से न जमी हुई थी जैसे हिंदी प्रदेश में ब्रजभाषा वह साहित्य ही नहीं संगीत की भी भाषा थी। उसका वर्चस्व दरबारों में ही नहीं संतों और संन्यासियों की कुटिया में भी था।

अपने समाज और साहित्य की युगीन आवश्यकताओं को पहचानकर कवि मैथिलीशरण गुप्त ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के योग्य सहयोगी के रूप में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने के कार्य में अपनी पूरी शक्ति और साहस के साथ योगदान करके एक महती आवश्यकता की पूर्ति की।

खड़ी बोली को जातीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने के संघर्ष के साथ ही गुप्त जी का नायिका भेदी साहित्य का विरोध और साम्राज्यवाद विरोध भी जुड़ा हुआ है। ऊपर ऊपर से देखने पर ये प्रवृत्तियाँ अलग अलग दिखाई पड़ती हैं लेकिन गहरे स्तरों पर ये एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। भारत के जातीय विकास को अवरुद्ध करने के लिये साम्राज्यवादी अंगरेजों ने कूट दाँव पेंच से काम लिया। हिंदी भाषी क्षेत्र में जातीय विकास के अनुरूप प्रसारित हो रही खड़ी बोली को जनपदीय उपभाषाओं के सहारे अपदस्थ करने का प्रयत्न करना, जन जीवन को समस्याओं को साहित्य का विषय बनाने में शिष्टता और सुरुचि की हानि देखते हुए दरबारी नायिकाभेदी साहित्य की महत्ता प्रतिपादित करना, भाषा का संबंध धर्मों और संप्रदायों से जोड़ना आदि सभी कार्य ऐसे थे जिनसे साम्राज्यवादी योजनाओं को फलने फूलने का अवसर मिलता था।

मैथिलीशरण गुप्त ने ऐसी सारी प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए हमारे जातीय जीवन और साहित्य के विकास का पथ प्रशस्त किया।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद के विषय में गुप्त जी का यह निर्विवाद स्वर सुनने लायक है, राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है।[1] यह हुई राष्ट्रीयता अथवा जातीयता के व्यापक उन्मेष के अनुरूप भाषा की पहचान इसके आगे वह खड़ी बोली के स्थान पर ब्रज को ही बनाए रखने वालों पर कड़ी चोट करते हुए कहते हैं—'जो लोग 'खड़ी बोली' को कविता के योग्य नहीं समझते और

---

१. सरस्वती, दिसंबर १९१४।

पुरानी भाषा में ही—जिसे खड़ी बोली वाले चाहें तो पड़ी बोली कह सकते हैं—कविता किए जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिए तो हमारी राष्ट्र भाषा के जानी दुश्मन हैं।[1] कहना न होगा कि ये राष्ट्रभाषा के दुश्मन अब व्रज की जगह अंगरेजी की अपरिहार्यता की दलीलें लेकर सामने आते हैं और इनकी हिंदी भी अंगरेजी वाक्य विन्यास और मुहावरों के मारे बेदम और निर्जीव होकर सामने आती है।

इसी लेख में रीतिकाल की चर्चा करते हुए गुप्त जी कहते हैं कि इस युग में भाषा खूब ही परिष्कृत और अलंकृत हुई और इतनी कर्णं मधुर बन गई कि आज भी हम में से बहुत लोग उसी में कविता करने का आग्रह करते हैं।' लेकिन आगे वह इस मधुरता का मर्म उद्‌घाटित करते हुए बताते हैं कि, 'ऊपर से वह मधुर अवश्य हुई, पर उसके भीतर ही भीतर एक ऐसी चीज है जो हृदय को अवश कर देती है। उससे हमारी नाड़ियों में जीवनी शक्ति नहीं दौड़ती। हाँ रक्त संचालन का वेग वह अवश्य बढ़ा देती है। शब्द संबंधिनी विभूति उसमें अवश्य है पर उच्च भावों की सहानुभूति विरल है। लोकानुभूति तो और भी विरल है। फिर कहिए कोरी विभूति को लेकर क्या करें? आप बड़े संपति-शाली हैं, परंतु यदि जनसाधारण के साथ आपके हृदय में सहानुभूति नहीं तो उस संपत्ति से उन्हें क्या लाभ? इसी कारण से हमारी कविता का संबंध सर्वसाधारण के साथ न रह सका।[2]

यहाँ 'लोकानुभूति' और 'जनसाधारण' शब्दों पर ध्यान देना चाहिए। यही वह भूमि है जिस पर खड़े होकर मैथिलीशरण दरबारी नायिका भेद की आलोचना कर रहे हैं। साहित्य में लोकानुभूति होनी चाहिए। कुछ गिनी-चुनी अनुभूतियों की रपटन का नाम साहित्य नहीं है। उसमें जनसाधारण का चित्रण होना चाहिए किसी वर्ग विशेष का उस पर इजारा नहीं है। साहित्य के संबंध में यही विचार हमें रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद के यहाँ भी देखने को मिलता है। लोक और जनसाधारण की प्रतिष्ठा के लिये ये तीनों साहित्यकार अपनी-अपनी विधाओं में संघर्षरत दिखाई देते हैं। यहाँ लोकानुभूति के संसर्ग से हठात् शुक्ल जी के ये वाक्य याद हो आते हैं – सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की सच्ची पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।[3]

१. सरस्वती, वही ,,
२. सरस्वती, दिसंबर १९१४।
३. चिंतामणि, प्रथम भाग, पृ० २२७।

गुप्त जी के यहाँ जो 'लोकानुभूति' है वही शुक्ल जी के यहाँ 'लोक हृदय की सच्ची पहचान' है। गुप्त जी के यहाँ जो 'जनसाधारण' या 'सर्व-साधारण' है वही शुक्ल जी के यहाँ 'मनुष्य जाति के सामान्य हृदय' के रूप में विराजमान है। अब गुप्त जी के उद्धरण में रीतिकालीन साहित्य के विषय में कहे गए हृदय को अवश कर देनेवाले और 'नाड़ियों में जीवनी शक्ति का ह्रास करने वाले पदों से प्रेमचंद के प्रगतिशील लेखक संघ के स्थापना दिवस वाले भाषा के इन वाक्यों को मिलाकर देखिए। वे कहते हैं अब हमें ऐसा साहित्य चाहिए, 'जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है। कहना न होगा कि 'हृदय को अवश' और 'जीवनी शक्ति' का ह्रास करनेवाल' साहित्य प्रेमचंद की दृष्टि में भी मृत्यु का ही साहित्य है।

यहाँ हम मैथिलीशरण गुप्त, रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद को रीति-विरोधी अभियान में एक साथ खड़ा पाते हैं। इस संदर्भ में डा० त्रिभुवन सिंह का यह कथन अत्यंत युक्ति संगत है कि प्रेमचंद, प्रसाद, मैथिलीशरण और शुक्ल जी के रास्ते भले ही अलग जान पड़ते हों, पर वे पहुँचना एक जगह ही चाहते हैं. उनके पड़ाव अलग हो सकते हैं, पर मंजिल एक है।[1]"

रीतिवाद विरोधी अभियान की अगली कड़ी मैथिलीशरण गुप्त द्वारा अतुकांत छंदों के समर्थन में देखी जा सकती है। इस विषय की विस्तृत विवेचना उन्होंने 'मेघनाद वध' के अपने अनुवाद में की है।

अब हम आगे गुप्त जी के साम्राज्यवाद विरोधी अन्य प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे।

भारत में आरंभिक दौर से ही साम्राज्यवाद की यह कोशिश रही है कि यहाँ के स्वतंत्र सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक विकास को रोक कर इसे यूरोप, विशेषकर इंग्लैंड का मुखापेक्षी तत् निर्भर देश बनाए रखें। भाषा के क्षेत्र में कचहरियों में फारसी गर्भित उर्दू लादकर उन्होंने यहाँ के जातीय विकास में व्यापक गतिरोध उत्पन्न किया। सामाजिक एवं राज-नीतिक क्षेत्रों में रूढ़िवाद, संप्रदायवाद आदि को प्रोत्साहन देकर उन्होंने इसी दुर्नीति का परिचय दिया। लेकिन साम्राज्यवादी शोषण का सबसे विकट रूप आर्थिक पराधीनता के रूप में दिखाई पड़ता है। किसी भी साहित्यकार अथवा चिंतक के साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोण का परिचय इस आर्थिक शोषण के संबंध में उसके दृष्टिकोण के अध्ययन से ही मिल सकता है।

---

१. हिंदी साहित्य : इतिहास के आइने में, सं० १९८७ वि०, पृ० २०१।

मैथिलीशरण गुप्त की भारत भारती से इस विषय से संबंधित महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। अंगरेजों ने यहाँ के कला कौशल, शिल्प, वाणिज्य, उद्योग सभी का सर्वतोभावेन संहार किया। इस देश को उन्होंने महज कच्चे माल का गोदाम बनाकर रखा। इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए गुप्त जी कहते हैं—

जो देश कच्चा माल ही उत्पन्न करके शांत है।
उसका पतन एकांत है, सिद्धांत यह निर्भ्रांत है॥[1]

अंगरेजी मशीनें भारतीय दस्तकारी के मुकावले में न ठहर पाई थीं। इसी कारण इंग्लैंड के उद्योगीकरण को वढ़ावा देने के लिये अंगरेजों ने राजकीय दबाव के जरिए यहाँ की निर्मित वस्तुओं पर भारी कर लगाकर उनका बाहर जाना रोक दिया और अपने यहाँ के वने सामान को पूर्णतः कर मुक्त कर दिया। इस संदर्भ में कार्ल मार्क्स ने लिखा है 'ब्रिटिश आक्रमणकारी ने आकर भारतीय करघे को तोड़ दिया और चर्खे को नष्ट कर डाला। इंग्लैंड ने भारतीय कपड़े को योरप के बाजार से खदेड़ना शुरू किया, फिर उसने हिंदुस्तान में सूत भेजना शुरू किया, और अंत में उसने कपड़े की मातृभूमि को ही कपड़ों से पाट दिया।[2]

गुप्त जी मानों कविता में इसी भयावह तथ्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

जिस भाँति भारत वर्ष का व्यापार नष्ट किया गया,
कर से तथा प्रतिरोध से जिस भाँति भ्रष्ट किया गया।
वर्णन वृथा है उस विषय का सोचना अब है यही,
किसी भाँति उसकी वृद्धि हो, जैसी कि पहले थी रही।[3]

यहाँ गुप्त जी सच्चे यथार्थवादी चिंतक की भाँति बीती बातों को लेकर विलाप करने को ही कर्तव्य की इतिश्री मानने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए भविष्य की चिंता की ओर देश की जनता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। वर्णन वृथा है उस विषय का यह वाक्यांश अत्यंत गूढ व्यंजना लिए हुए है। अंगरेजी कूटनीति और धूर्तता का अधिक खुला विस्तृत वर्णन अत्यंत गहरी विपदाओं को जन्म दे सकता था और भविष्य की निर्माण योजना तब धरी की धरी रह जाती। अतः भविष्य के वांछित प्रयत्नों की ओर देश की जनता का ध्यान आकर्षित करना ही श्रेयष्कर होगा। इसी वाक्यांश के

१. भारत भारती, सं० २०११ वि०, पृ० १०४।
२. भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम, मार्क्स एंगेल्स, दिल्ली, पृ० ११-१२।
३. भारत भारती, पृ० ११०।

द्वारा भारत भारती की उन पंक्तिओं का भी मूल आशय समझा जा सकता है जिनमें ऊपर ऊपर ही तैरने वाले कुछ विद्वानों और शोधार्थियों को अंगरेजी राज की प्रशस्ति सुनाई पड़ने लगती है। ऐसी पंक्तियाँ ऐसे समीक्षा निपुण बुद्धि भट्टों को भारतेंदु युगीन साहित्य में भी मिल जाती हैं। राज भक्ति की आड़ में ही देश भक्ति की पताका फहराने की विवशता और रणनीति उनकी समझ में नहीं आ पाती।

भारत के बाजार को विदेशी वस्तुओं से पटा हुआ देखकर गुप्त जी सर्माहत स्वरों में देशवासियों से कहते हैं—

जो वस्तु देखे मेड इन, इंग्लैंड, इटली, जर्मनी,
जापान, फ्रांस, अमेरिका व अन्य देशों की बनी'।
होकर सजीव मनुष्य हम निर्जीव से हैं हो रहे,
घर में लगाकर आग अपने वेखबर हैं सो रहे।[१]

× × ×

आती विदेशों से यहाँ सब वस्तुएँ व्यवहार की,
धन धान्य जाता है यहाँ से, यह दशा व्यापार की।
कैसे न फैले दीनता, कैसे न हम भूखों मरें,
ऐसी दशा में देश की भगवान ही रक्षा करें।[२]

यह है असली कारण गुप्त जी की नजर में देश की निर्धनता और देश वासियों की भुखमरी का जब तक विदेशी वस्तुओं की आमद नहीं रोकी जाएगी, देश में उद्योग धंधों का निर्माण नहीं किया जाएगा, तब तक इस दैन्य और दुर्भिक्ष से छुटकारा भी नहीं पाया जा सकता। देश की इस करुण दीनदशा से अचेत रहना सजीव मनुष्य होकर भी निर्जीव की भाँति आग लगे घर में बेखबर सोने के समान है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज देश में इस आग की लपटें और तेजी से फैल चली हैं। विदेशी कंपनियों, विदेशी पूँजी और विदेशी संस्कृति का शिकंजा अब और भी मजबूत हो गया है। अतः गुप्त जी के इन स्वरों को आज पहले से भी अधिक तुमुल स्वरों में गुंजायमान करने की आवश्यकता है। कुछ अजब नहीं कि कुछ राष्ट्र विरोधी साम्राज्यवाद की चाटुकार शक्तियाँ संकट की इस घड़ी में गुप्त जी को अनर्गल तर्कों के सहारे प्रतिक्रियावादी प्रमाणित करने का प्रयत्न करती हुई देखी जा रही हैं।

---

१. भारत भारती, पृ० १०३।
२. भारत भारती, पृ० १०४।

इस बेखबर निर्जीवता से मुक्ति दिलाने को बेचैन सच्चे राष्ट्रप्रेमी कवि मैथिलीशरण देश की जनता में आशा का संचार करते हुए प्रश्न करते हैं—

> है हीन. पर क्या देश की ऐसी अवस्था भी नहीं,
> आवश्यकीय पदार्थ जो बनने लगे क्रम से यहीं।[1]

यह देश की दयनीय विडंबना ही है कि इन पंक्तियों के लिखे जाने के ७६ वर्ष बाद और देश को आजादी मिलने के ४१ वर्ष बाद आज भी हम अपने यहाँ 'आवश्यकीय पदार्थ' बनाने में सक्षम नहीं हो सके हैं।

साम्राज्यवादी लूट के द्वारा भारत के उद्योग धंधों और कल कारखानों की तबाही का एक प्रमुख दुष्परिणाम यह भी हुआ कि अधिकांश लोग जीविका की तलाश में गाँवों की ओर भागने के लिये विवश हुए। इसके फल स्वरूप कृषि पर निर्भर रहनेवालों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हुई। देश वासियों की इस दुर्दशा का सजीव चित्र खींचते हुए गुप्त जी कहते हैं—

> सौ में पचासी जन यहाँ निर्वाह कृषि पर कर रहे,
> पाकर करोड़ों अर्द्ध भोजन सर्द आहें भर रहे।[2]

अंगरेजों ने यहाँ सामंतों, जमींदारों, साहूकार महाजनों का एक जाल सा तैयार कर रखा था। देश की अधिकांश जनता इनके दुहरे तिहरे अत्याचारों की चक्की में पिसने को मजबूर थी। इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—'राजकर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई है'।[3] किसानों के इस अमानवीय शोषण के विषय में सितंबर १६१५ की 'सरस्वती' में श्री कृष्णानंद जोशी ने अपने 'भारतीय किसान' नामक लेख में कहा था— जो लोग किसानों के व्यवसाय से परिचित हैं उन्हें इस बात को बताने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार एक ही बार १० रुपया लेकर बेचारा किसान पुश्त दर पुश्त के लिये साहूकार का गुलाम बन जाता है और ऐसी यंत्रणाएँ झेलता है कि मृत्यु की यंत्रणाएँ भी उनके सामने तुच्छ हैं।[4] कुछ अजब नहीं, प्रेमचंद के संपूर्ण कथा साहित्य में ये महाजन अपनी इन संपूर्ण राक्षसी प्रवृत्तियों के साथ सर्वत्र विद्यमान हैं।

---

१. भारत भारती, पृ० ११०।
२. वही, पृ० ९१।
३. हिंदी साहित्य का इतिहास, सं० २०३८ वि०, पृ० ३६५।
४. भारतीय किसानः श्री कृष्ण जोशी, सरस्वती, सितंबर १९१५।

साम्राज्यवादी शोषण तंत्र की देन इन महाजनों के विषय में प्रेमचंद के समानधर्मा गुप्त जी भी पूर्णतः सजग और चौकन्ने हैं। किसानों के जीवन पर उनकी लूट के प्रत्यक्ष प्रभाव का अंकन करते हुए वे कहते हैं।

आता महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अंत में।

× × ×

'सब बेचना पड़ता उन्हें निज अन्न वह निरुपाय है,
बस चार पैसे से अधिक पड़ती न दैनिक आय है।'

साम्राज्यवादी शोषण का एक अभिन्न अंग भारत के दलाल (कंप्राडोर) व्यापारी थे। इनकी भूमिका के विषय में डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है अंगरेजों ने यहाँ नए सामंतों का वर्ग तैयार किया, वैसे ही उन्होंने व्यापारियों का नया वर्ग तैयार किया। भारत का कच्चा माल खरीदने और ब्रिटेन का तैयार माल भारत में बेचने के लिये उन्हें देशी व्यापारी चाहिए थे। ये व्यापारी पुराने व्यापारियों से एकदम भिन्न थे।—नए व्यापारियों का स्वदेशी माल के उत्पादन से कोई संबंध न था, वे विदेशी उद्योगपतियों और व्यापारियों के दलालों का काम करते थे, इस तरह से साम्राज्यवादी शोषण तंत्र का अभिन्न अंग थे।[३] विदेशी पूँजी की दलाली करके देश को उद्योगहीन और निर्धन बनाने वाले इस वर्ग की भूमिका का गहरा परिचय गुप्त जी की निम्न पंक्तियों से मिलता है—

बस अब विदेशों से मँगाकर वेचते हैं माल वे,
मानों विदेशी वाणिजों के हैं यहाँ दलाल वे।[४]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९०८ में प्रकाशित अपनी 'संपत्ति शास्त्र' नामक पुस्तक में भारत के अर्थ तंत्र का व्यावहारिक विश्लेषण करते हुए जिस प्रकार यहाँ कल कारखानों के निर्माण, उद्योग धंधों के विकास और विदेशी माल तथा विदेशी पूँजी के बहिष्कार को देश की उन्नति और विकास के लिये एकमेव प्राथमिक कर्तव्य निरूपित किया था उसी कर्तव्य को अपनी सशक्त, सतेज वाणी में उद्बोधित करते हुए गुप्त जी भारतीय जनता का आह्वान करते हैं—

'अब तो हे बंधुओं निज देश की जय बोल दो,
बनने लगे सब वस्तुएँ कल कारखाने खोल दो।

---

१. भारत भारती, पृ० ६३१

२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, सं० १९८७, पृ० २१९

३. भारत भारती पृ० १३३।

जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं,
हो 'मेड इन' के बाद बस इंडिया ही सब कहीं।[१]

मैथिलीशरण गुप्त का साम्राज्यवाद विरोध सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक, सांस्कृतिक सारे क्षेत्रों को परस्पर संलग्न करके चलता है। इन सभी क्षेत्रों में एक साथ सक्रिय हुए विना साम्राज्यवाद की जड़ों को कमजोर नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टिकोण के अनुरूप गुप्त जी ने अंगरेजी शिक्षा नीति की भी जाँच परख की। भारत में बहुत से लोग अंगरेजों की इस शिक्षा नीति का गुणगान करते थकते न थे। लेकिन मैथिलीशरण गुप्त ने यथार्थवादी देशप्रेमी कवि की भाँति अंगरेजों की कूटनीति का सारा मुलम्मा अपनी निर्भीक वाणी द्वारा उतार दिया –

'वह सांप्रतिक शिक्षा हमारे सर्वथा प्रतिकूल है
हममें हमारे देश के प्रति द्वेष मति की मूल है।
हममें विदेशी भाव भरके वह झुलाती है हमें,
सब स्वास्थ्य का संहार करके वह रुलाती है हमें।[२]

गुप्त जी जैसे 'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए' कहकर 'कला, कला के लिये' के प्रचलित भाववादी सिद्धांत के विरोध में खड़े होते हैं उसी प्रकार शिक्षा के उद्देश्य को भी सामाजिक दायित्व बोध से संपृक्त करके देखते हैं –

हैं व्यर्थ वह शिक्षा कि जिससे देश की उन्नति न हो।[३]

इसी संदर्भ में वे विदेश जाकर शिक्षा प्राप्त करनेवालों के कार्य की उपयोगिता के संबंध में भी सवाल करते हैं। उनकी शिक्षा, उनकी बड़ी बड़ी सात समुंदर की डिग्रियों से देश को कौन सा लाभ पहुँचा है ? यहाँ भी गुप्त जी देश के औद्योगिक विकास के संदर्भ में ही इन डिग्रीधारियों के ज्ञान की उपयोगिता का मूल्यांकन करते हैं—

जाकर विदेश अनेक अब तक युवक अपने आ चुके,
पर देश के वाणिज्य, हित की ओर कितने हैं झुके ?
हैं कारखाने कौन से उनके प्रयत्नों से चले,
क्या क्या सुफल निज देश में उनसे अभी तक है फले ?[४]

यहाँ गुप्त जी भारतेंदु युग की प्रगतिशील परंपरा से अटूट रूप से जुड़े हुए

---

१. भारत भारती पृ० १६८।
२. उपरिवत्, पृ० ११८।
३. उपरिवत्, पृ० ११९।
४. वही पृ० ११८।

हैं। भारतेंदु ने देश के उद्योगीकरण की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए अपने पद्यबद्ध व्याख्यान में कहा था—

जानि सकैं सब कछु सबहि विविध कला के भेद।
बनै बस्तु कल की इतै मिटै दीनता खेद।

ई० १८७२ में इसी संदर्भ में उन्होंने अंगरेजी शिक्षा नीति के विषय में लिखा था कि 'अंगरेज लोग केवल हम लोगों को उसी शिक्षा का उपदेश करते हैं जिसमें किसी प्रकार की शिल्पादिक कोई कला न हो केवल पंडित मात्र बन जाएँ।'[1]

भारतेंदु युग के प्रखर चिंतक पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने भी इस नव शिक्षित वर्ग के प्रति अपने व्यंग्यपूर्ण उद्गार व्यक्त किए हैं—

पढ़ि कमाय किन्हों कहा, हरे न देश कलेश।
जैसे कंता घर रहै, वैसे रहै विदेश॥[2]

यहाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि मैथिलीशरण गुप्त भी भारतेंदु युग के साहित्यकारों की भाँति देश के औद्योगीकरण के आधार पर ही शिक्षा की सार्थकता की परख कर रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता इन्हीं संदर्भों में प्रतिपादित की थी। उन्होंने लिखा था—'भारत की आर्थिक स्थिति की माँग यह है कि किसी भी दूसरे काम से पहले उसके उद्योग धंधों का परिवर्धन और परिष्कार किया जाए और यह जिसे हम तकनीकी शिक्षा कहते हैं उस पर सबसे ज्यादा निर्भर करता है।[3]

अंगरेज़ी की इस नई शिक्षा नीति का पर्दाफाश करते हुए प्रेमचंद ने लिखा था—'अंगरेजी राज्य में नए नए विद्यालय खुले, मगर उनका आदर्श और उद्देश्य कुछ और था। वह दफ्तरी शासन का एक विभाग मात्र था। इसका उद्देश्य सत्य की खोज और संस्कृति का विकास नहीं, दफ्तरों के लिये कर्मचारियों का निर्माण था। यहाँ की पुस्तकों और शिक्षा विधि पर अंगरेजी राज की छाप थी।[4] प्रेमचंद के इन साम्राज्य विरोधी निर्भीक विचारों के समानांतर गुप्त जी की इन पंक्तियों को रखकर देखिए—

---

१. डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' में पृष्ठ ७१ पर उधृत)।

२. प्रतापलहरी पृ० ६२, संस्करण १९४९ कानपुर।

३. डा० रामविलाश शर्मा द्वारा 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी नवजागरण' में पृ० २८९ पर उधृत)।

४. प्रेमचंद के विचार, भाग २, पृ० २०२।

दासत्व के परिणाम वाली आज है शिक्षा यहाँ,
हैं मुख्य दो ही जीविकाएँ भृत्यता, भिक्षा यहाँ,
या तो कहीं बनकर मुहर्रिर पेट का पालन करो,
या मिल सके तो भीख माँगों, अन्यथा भूखों मरो।[1]

यहाँ हम स्पष्ट रूप से देखते हैं, भारतेंदु युग की साम्राज्यवाद विरोधी प्रगतिशील चेतना उत्तरोत्तर विकसित होती हुई मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में अपनी पूर्ण परिपक्वावस्था पर पहुँच गई है। हम यह भी देखते हैं कि लोकधर्म और युगधर्म से सच्चे वैज्ञानिक अर्थों में प्रेरित होकर रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद और मैथिलीशरण गुप्त एक ही मोर्चे पर डटे हुए हैं। कहना न होगा कि यह मोर्चा साम्राज्यवाद विरोध का मोर्चा है। आगे यह हम और स्पष्ट रूपों में देखेंगे कि भारत का रूढ़िवाद, पाखंडवाद, वर्णवाद साम्राज्यवाद के मजबूत पाए के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। अतः प्रगतिशील विचारकों को हम धर्म और संस्कृति के नाम पर जड़ जमाए हुए इन रूढ़ियों, पाखंडों पर भी प्रहार करते हुए पाएँगें।

आर्थिक क्षेत्रों में साम्राज्यवाद की जो कूटनीति पराधीन देशों का औद्योगिक विकास रोकने का रास्ता अपनाती है, उसे मात्र कच्चे माल का गोदाम बनाकर रखती है। भाषा के क्षेत्र में वही कूटनीति विभिन्न बोलियों और भाषाओं को आपस में लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करती है, और साहित्य के क्षेत्र में दरबारी काव्य, मूल्यों, अलंकारवाद, चमत्कारवाद आदि को प्रोत्साहन देती है। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में यह कूटनीति पाखंड, गतानुगतिकता को बल देती हुई, धर्म और संप्रदाय के नाम पर देश की जनता के विभाजन और विखंडन का षड्यंत्र रचती है। अतः किसी भी जागरूक चिंतक के लिये साम्राज्यवादी कूटनीति के इस मोर्चे पर भी जूझना आवश्यक हो जाता है। तीर्थ पंडों के धर्म प्रेम की क़लई खोलते हुए गुप्त जी कहते हैं—

वे तीर्थ पंडे हैं जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया,
है निंद्य कर्म न एक ऐसा हो न जो उनका किया।
वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य हैं,
लड़ना झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य हैं।[2]

तीर्थ पंडों, महंथों, पुरोहितों का जाल सारे समाज पर फैला हुआ है, आज १९८८ में भी देश में इनके घातक प्रभाव का अनुमान मात्र एक सती कांड के संदर्भ में इनकी कारगुजारियों से लगाया जा सकता है। गुप्त जी जैसे व्यापक

१. भारत भारती, पृ० १२४, संस्क० ३२ वाँ।
२. वही, पृ० १२७, संस्क० २५ वाँ।

आर्थिक क्षेत्रों में साम्राज्यवाद की आर्थिक नाकेबंदी करने की योजना बताते हैं, उसी प्रकार इन धर्म के ठेकेदारों के वर्चस्व का कारण यों निरूपित करते हैं--

हम भस्म में घृत के सदृश देते उन्हें जो दान हैं,।
बस वे उसी से दुर्व्यसन के जोड़ते सामान हैं।[१]

गुप्त जी जनप्रेमी, राष्ट्रप्रेमी, व्यक्ति और साहित्यकार के रूप में यह भलीभाँति जानते हैं कि जन सामान्य के भावों विचारों में परिवर्तन लाए बिना उसे इन संगठित पाखंडी शक्तियों के चंगुल से नहीं छुड़ाया जा सकता। और इसका सबसे कारगर उपाय यही है कि उनकी वास्तविकता खोलकर सबके सामने रख दी जाय। इसी संदर्भ में वे पुरोहितों की वास्तविकता का उद्घाटन करते हुए कहते हैं--

अब आप उनकी दक्षिणा पहले नियत कर दीजिए,
फिर निंद्य से भी निंद्य उनसे काम करवा लीजिए।[२]

इन तीर्थ पंडों और पुरोहितों के समानांतर ही वह 'भारत सेवक समाज' बनाने वाले साधुओं की साधुता की मूल प्रेरणा पर बिना किसी की परवाह किए गोस्वामी तुलसीदास जैसे हिंदी के निर्भीक योद्धाओं की पंक्ति में खड़े होकर कठोर कशाघात करते है--

भूखों मरें कि जटा रखाकर साधु कहलाने लगे,
चिमटा लिया भस्मी रमाई माँगने खाने लगे।[३]

आगे चलकर प्रेमचंद ने भी इस वर्ग से जनता को सावधान करते हुए लिखा है--वर्ण और आश्रम, जो आर्य संस्कृति के स्तंभ थे, अपना असली रूप खोकर जाति, पाँति के रूप में आ गए और गेरुए वस्त्रधारी, अकर्मण्य, पेट के बंदों ने संन्यास और वानप्रस्थ का स्थान छीन लिया।[४]

आज देश में धर्मगुरुओं, तांत्रिकों, पुरोहितों, मुल्लाओं, मौलवियों का खूब ही बोलबाला है। देश को सांप्रदायिक संकीर्णताओं में फँसाने की इनकी ताकत में पहले से काफी वृद्धि हुई है। अतः गुप्त जी और उनके समान धर्मी प्रेमचंद के विचारों से जनता को अवगत कराते हुए उसकी रक्षा करना बुद्धिजीवियों का एक आवश्यक सामयिक कर्तव्य है।

यहाँ तक हमने साम्राज्यवाद, रीतिवाद आदि के विरोध के संदर्भ में राष्ट्र-

---

१. भारत भारती, पृ० १२८।
२. उपरिवत्, पृ० १३०।
३. वीह, पृ० १२९।
४. प्रेमचंद के विचार, भाग दो, पृष्ठ २०२।

कवि मैथिलीशरण गुप्त के युग व्यापक क्रांतिदर्शी विचारों का सम्यक् परिचय प्राप्त कर लिया। हमने यह भी देख लिया कि गुप्त जी साहित्य के सामाजिक दायित्व पर सर्वोपरि बल देने वाले साहित्यकार थे। जन जीवन के उन्नयन और विकास के लिये ही उनका संपूर्ण रचना कर्म समर्पित था। इसी संदर्भ में श्री राजीव सक्सेना का यह कथन अत्यंत ही समीचीन है कि समसामयिक समस्याओं पर लिखने और विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता की कामना प्रबल बनाने का जो क्रम भारतेंदु युग में प्रारंभ हुआ, गुप्त जी ने उसको सशक्त रूप से आगे बढ़ाया। 'भारत भारती' उनकी सर्वाधिक सशक्त प्रतिनिधि रचना है। और यह भी कि 'जो कार्य प्रेमचंद जी ने कथा साहित्य के लिये किया, वही मैथिलीशरण गुप्त जी ने कविता के लिये'[1]।

गुप्त जी की राष्ट्रवादी साम्राज्यविरोधी भूमिका का 'भारत भारती' के तेजस्वी छंदों के माध्यम से परिचय देते हुए स्वर्गीय माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा था—'जिस समय 'भारत भारती' निकली, उस समय तो लगा जैसे राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा में एक तूफान आ गया। सभा मंचों पर वक्ता 'भारत भारती' के छंदों का इतना उपयोग करते, मानों उनके कहने की सामग्री के शीर्षक और प्राण केवल हिंदी की काव्यपुस्तक भारत भारती में ही है।[2]

कुछ अजब नहीं जो ब्रिटिश सरकार गुप्त जी से उनके इन विचारों के कारण अत्यंत क्रुद्ध हो उठी और उनकी पुस्तक जब्त करने के अलावा उन्हें जेल की हवा भी खाने को मजबूर किया। इस गिरफ्तारी का विवरण देते हुए माखन लाल जी ने लिखा है—'भारत-भारती' के अंत में वर्णित सोहनी के कारण तो झांसी की पुलिस और झांसी के कलक्टर भड़क गए और गुप्त जी को (१९४१ में) कारावास में भेजवा दिया।[3]

यह भी आश्चर्यजनक नहीं है कि साम्राज्यवाद के पोषक क्रांतिकारिता का बाना धारण करने वाले कुछ तथाकथित साहित्यकारों ने गुप्त जी को प्रतिक्रिया-वादी और रूढ़िवादी बतलाया था और साम्राज्यवाद के पृष्ठपोषक उनके अनुगामी अब भी इस तरह का असफल प्रयत्न जब तब करते हुए देखे जाते हैं। मार्च १९३७ के विशाल भारत में शिवदान सिंह चौहान ने लिखा था कि 'भारत भारती' न साम्राज्य विरोधी है और न दलित श्रेणी की भावनाओं की रक्षक। वह अगर कुछ

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : युग और कविता, दिल्ली, संस्करण १९८८, पृष्ठ ९२ एवं ९८।

२. मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ४, कलकत्ता, संस्करण, १९९८।

३. उप० पृष्ठ ५।

है तो साम्राज्यवाद की पृष्ठपोषक और ब्रिटिश साम्राज्यशाही की चाटुकार'। उलटा चोर कोतवाल को डाँटे, इसी को कहते हैं। भारत भारती में साम्राज्यवाद का विरोध है अथवा उसका समर्थन, इस पर अब यहाँ कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है, इस लेख में उसका सम्यक् निदर्शन कराया जा चुका है। यहाँ शिवदान जी से केवल इतना ही पूछा जा सकता है कि अगर उसमें साम्राज्यवाद का समर्थन था तो अंगरेजों ने उसे जब्त क्यों किया था और गुप्त जी को जेल की हवा क्यों खानी पड़ी। इस संदर्भ में हिंदी के शलाकापुरुष स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का यह कथन अत्यंत ही युक्तिसंगत है—'इस ग्रंथ ने राष्ट्र की हीन आत्मा को उन्मूलित किया है। × × भारत भारती एक युग का आह्वान है। इसी दृष्टि से उसका मूल्यांकन होना चाहिए[1]।'

अब स्वनामधन्य श्री शिवदान सिंह चौहान के मत के समानांतर हिंदी के दो वरिष्ठतम समीक्षकों आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की राय भी भारत भारती के संदर्भ में देख लेनी चाहिए। आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है—

'भारतेंदु के समय में स्वदेश प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास भारत भारती में मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है।[2]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है—'भारत भारती ने उन दिनों शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिंदी भाषी प्रदेश को उद्‌बुद्ध और प्रेरित करने में इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया। × × वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि है। भारत भारती सही अर्थों में भारत भारती हो सकी है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी हिंदी की प्रगतिशील परंपरा से गहरे रूपों में जुड़े हुए दलित जनता के पक्षधर एक राष्ट्रप्रेमी, मानवप्रेमी साम्राज्यवाद-रीतिवाद-विरोधी साहित्यकार हैं। उन्होंने अपने देश और समाज की दशा से मार्मिक अनुभूतियाँ ग्रहण करके उनका स्तर ऊँचा उठाने का सभी प्रयत्न अपने गद्य और पद्य के माध्यम से किया। वह साहित्य की सोद्देश्यता में विश्वास रखनेवाले आस्थावान साहित्यकार थे। उनकी आस्था प्रथमतः इस संसार में इस लोक में ही थी। इसी कारण से वे समाज के संदर्भ में ही साहित्य की सार्थकता मूल्यवत्ता का प्रतिपादन करते हैं। इन्हीं कारणों से अपनी अन्यतम 'कृति' सा 'साकेत' में उन्होंने अपने आदर्श श्रीराम के मुख से कहलवाया है—

---

१. मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ३५-३७, संस्करण, कलकत्ता १९६८।
२. हिंदी साहित्य का इतिहास, श्री रामचंद्र शुक्ल, पृ० ४१८,
३. हिंदी साहित्य, उद्‌भव और विकास, पृ० २५४, सं० १९५२।

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[1]

गुप्त जी की इसी सशक्त युगधर्मिता के कारण प्रेमचंद और रामचंद्र शुक्ल जैसे वस्तुवादी विचारक व्यापक परिप्रेक्ष्यों में उनसे जुड़े हुए दिखाई देते हैं और अधिकांशतः सभी स्वाधीन चेता और देशप्रेमी विचारक एवं साहित्यकार उनके महत्व को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं। अतः राष्ट्रविरोधी, जनविरोधी व्यक्तियों द्वारा उनका निषेध और अस्वीकार उनकी महत्ता का परिचायक ही प्रमाणित होता है।



---

१. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त।

कलौ वेत्रवती गंगा

डा० केदार मिश्र

वेतवती (वेत्रवती)। 'कलौ वेत्रवती गंगा।' गंगधार के समान पुनीत वेतवती के तट से प्रवाहित श्री मैथिलीशरण गुप्त की काव्यधारा भारतेंदु काल में अंकुरित, द्विवेदी काल में पल्लवित नव्य भाव विटपों को सींचती, सरस और सबल बनाती चतुर्दिक् प्रवाहित रही है। वह प्रवहवान काव्यधारा युग की अर्हताओं एवं पीड़ाओं के उपेक्षित, पीड़ित तथा दुर्बल पक्ष को सबल एवं उसके श्रेष्ठ पक्ष को श्रेष्ठतम रूप में प्रतिष्ठित करती हुई द्विवेदी जी के निर्देशन में स्वचिंतन और गांधी दर्शन के योग से अग्रसर हुई है।

श्री मैथिलीशरण जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संदर्भ में विद्वानों ने अभिनंदन ग्रंथों में, स्वतंत्र ग्रंथों में तथा लेखों एवं संस्मरणों में विस्तार से वर्णन किया है। उन वर्णनों के सार संक्षेप के अनुसार मैथिलीशरण जी ने पिता श्री रामचरण जी की काव्यरचना से प्रेरणा प्राप्त कर, विशुद्ध रामोपासना की दृष्टि से स्फुट छंद रचना प्रारंभ की थी। विभिन्न ग्रंथों के अध्ययन का भी उनके बाल मन पर प्रभाव पड़ा था, जैसा कि स्वयं गुप्त जी ने लिखा है कि वह बात भी नहीं भूलती, जब एकांत में बैठकर मैंने राजा लक्ष्मण सिंह की 'शकुंतला' पढ़ी थी। उसे पढ़कर कितने ही क्षणों तक मैं वैसा का वैसा निस्तब्ध बैठा रह गया था। उस तेरह चौदह वर्ष की आयु में कैसा भावोद्रेक हुआ, नहीं जानता। सन् १८९८ से १९०३ तक गुप्त जी की छंदरचना की साधना अनवरत रही। उन्हीं दिनों 'वैश्योपकारक' पत्रिका में धारावाहिक रूप में अन्योक्तियाँ प्रकाशित हुई थीं।

द्विवेदी जी से भेंट

श्री मैथिलीशरण जी के किशोर हृदय में अन्योक्ति प्रकाशन के उपरांत स्वाभाविक रूप से यह इच्छा जागृत हुई कि हिंदी साहित्य की प्रमुख पत्रिका 'सरस्वती' में कविता प्रकाशित हो। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन कार्य के साथ झाँसी रेलवे कार्यालय में कार्यरत थे। उन्हीं दिनों मैथिलीशरण जी को झाँसी जाने का अवसर मिला। अवसर पाकर उन्होंने अपने काका जी के साथ द्विवेदी जी से भेंट की, किंतु किशोरहृदय अधिक कुछ नहीं कह पाया। कुछ समय उपरांत गुप्त जी ने एक पद्य प्रकाशनार्थ भेजा। द्विवेदी जी ने उन्हें बोल चाल की भाषा में कविता लिखने को कहा। सरस्वती

पत्रिका में प्रकाशन की कामना से गुप्त जी ने बोलचाल की भाषा में कविता लिखने का प्रयास प्रारंभ किया और 'हेमंत' शीर्षक से पद्य लिखकर प्रकाशनार्थ भेजा।

द्विवेदी जी ने 'हेमंत' शीर्षक पद्य को परिष्कृत और प्रकाशित कर युवा कवि को प्रोत्साहन दिया, जिससे उत्पन्न श्रद्धा ने गुप्त जी को सरस्वती पत्रिका के परिवार का सदस्य बना लिया। जून अंक में संपादक महोदय का 'क्रोध' शीर्षक से एक निबंध प्रकाशित हुआ। गुप्त जी ने उसी क्रोध विषय पर आधारित एक 'क्रोधाष्टक' काव्य रूप में भेजा। इस कविता से ही द्विवेदी जी और गुप्त जी के मध्य गुरु शिष्य का संबंध बना।

सरस्वती पत्रिका में गुप्त जी की रचनाओं का नियमित प्रकाशन प्रारंभ हो जाने के कुछ समय उपरांत 'इंडियन प्रेस' ने श्री द्विवेदी जी द्वारा संपादित काव्यसंग्रह प्रकाशित किया, जिसकी ४६ कविताओं में गुप्त जी की २८ कविताएँ थीं। अपने सफल शिष्य को प्रधानता देते हुए द्विवेदी जी ने अपनी कविताएँ गुप्त जी की कविताओं के उपरांत रखी थीं। इस प्रकाशन के साथ ही मैथिलीशरण जी का एक सफल कवि के रूप में हिंदी काव्य जगत् में प्रवेश हुआ था।

नव्य भावभूमि का प्रस्फुटन

हिंदी साहित्य का द्विवेदी युग पुनरुत्थान (रिनेसाँ) का युग रहा है।, जिसके अंतर्गत राष्ट्रीय आंदोलन, सुधारवादी आंदोलन तथा नारी उत्थान आदि की प्रधानता मिलती है। गुप्त जी के काव्य में राष्ट्रीय भावधारा के साथ नारी उत्थान की प्रबल अभिव्यक्ति मिलती है, इतनी प्रबल अभिव्यक्ति कि उनके समस्त काव्य में इसकी प्रधानता देखी जा सकती है।

काव्य में उपेक्षित नारी पात्रों के संदर्भ में सर्वप्रथम श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'काव्येतर उपेक्षिता' शीर्षक निबंध के माध्यम से विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था कि 'हम कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य की काव्यशाला की प्रांत भूमि में जो जितनी स्त्रियाँ अनादृत होकर खड़ी हैं, उनमें प्रधान स्थान उर्मिला का है + + + हाय! अव्यक्त वेदना देवी उर्मिला एक बार तुम्हारा उदय प्रातःकालीन तारा की भाँति महाकाव्य के सुमेरु पर हुआ था। उसके बाद अरुण लोक में तुम्हारे दर्शन नहीं हुए। कहाँ तुम्हारा उदयाचल है और कहाँ अस्ताचल—यह प्रश्न करना सब भूल गए।' इस संदर्भ में ही सन् १९०० में सरस्वती पत्रिका में भुजंगभूषण भट्टाचार्य महाशय का एक लेख 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' प्रकाशित हुआ था। वह लेख द्विवेदी जी ने ही कृत्रिम नाम से लिखा था, जिसमें उन्होंने उर्मिला के संदर्भ में कहा है कि वाल्मीकि को ऐसी उच्चाशय रमणी का विस्मरण होते देख किस कविता मर्मज्ञ

को आंतरिक वेदना न होगी। तुलसीदास ने भी उर्मिला पर अन्याय किया है। × × हाँ, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है'। द्विवेदी जी ने हिंदी के कवियों के संदर्भ में कहा है कि 'उर्मिला का उज्ज्वल चरित्रचित्र कवियों के द्वारा भी इसी तरह ढँकता आया।'

श्री द्विवेदी जी के लेख ने तत्कालीन कवियों का ध्यान आकर्षित किया। मैथिलीशरण जी भी उक्त लेख से प्रभावित हुए। १ जनवरी, १९११ को श्री वार्हस्पत्य जी का पत्र भी उन्हें प्राप्त हुआ, जिसमें उर्मिला काव्यसृजन की प्रेरणा दी गई थी। परिणामतः गुप्त जी ने उर्मिला काव्य का सृजन प्रारंभ किया। सन् १९१५ के उपरांत कवि की चिंतन धारा में और भी विकास हुआ। रामवनगमन के उपरांत अयोध्यावासियों एवं उनकी मनःस्थितियों के वर्णन का भी काव्य ग्रंथों में अभाव सा रहा है, इस दृष्टि से वर्ण्य विषय में विस्तार किया गया। ग्रंथ का नाम 'साकेत' निर्धारित हुआ। सन् १९०८ से १९३१ तक के काव्यचिंतन के साथ साकेत महाकाव्य प्रकाशित हुआ, जिसमें रामभक्ति के साथ उपेक्षित तथा पीड़ित पात्रों के प्रति उन्नयन की भावधारा का अनवरत प्रवाह मिलता है।

सन् १९३१ से पूर्व गुप्त जी की शकुंतला (सन् १९१४, १९२३), पंचवटी (सन् १९२५), 'बक संहार' तथा 'सौरंध्री' आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इन काव्य कृतियों में भी नारी उत्थान की भावना का प्रभाव स्पष्ट है जिसने साकेत महाकाव्य में विस्तार प्राप्त किया है।

साकेत महाकाव्य (सन् १९३१)

साकेत महाकाव्य में रामकथा के काव्य में उपेक्षित एवं पीड़ित पात्रों की प्रधानता रही है। महाकाव्य के प्रथम सर्ग में ही उर्मिला का परिचय प्राप्त है, जो हास परिहास के साथ पारिवारिक और दांपत्य जीवन के सुखद रूप को प्रस्तुत करता है। द्वितीय तथा तृतीय सर्ग में कैकेयी के विविध रूपों का तथा राम वन गमन की स्थिति का वर्णन हैं। चतुर्थ सर्ग में सीता जी के साथ ममतामयी कौशल्या एवं उर्मिला के साथ ओजयुक्त सुमित्रा का परिचय मिलता है। श्रीराम द्वारा वनगमन की आज्ञा माँगने पर, कौशल्या के मन में दैन्य भाव का उदय हुआ। सुमित्रा न तो उस दैन्य भाव को ही और न राम के वनगमन की आज्ञा को ही स्वीकार कर पाई।

सीता जी उस क्षण सोच रही थीं—'स्वर्ग बनेगा अब वन में।' तभी 'प्रभु ने उधर दृष्टि डाली, दीख पड़ी दृढ़ हृदय वाली।' लक्ष्मण उर्मिला की ओर नहीं देख पा रहे थे, किंतु उर्मिला का हृदय उनसे पूछ रहा था, मैं क्या करूँ?

चलूँ कि रहूँ ? लक्ष्मण को आशंका थी—'प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे । इसलिये—

लक्ष्मण हुए वियोग जयी,
और उर्मिला प्रेम मयी ।

षष्ठ सर्ग में उर्मिला का पीड़ित हृदय सोचता है—'दे सकी न साथ नाथ का भी ।' तभी उसका अनुरागी हृदय कहता है—

"है प्रेम स्वयं कर्त्तव्य बड़ा,
जो सींच रहा है तुम्हें खड़ा ।"

अष्टम सर्ग में चित्रकूट पर सीता जी के नए रूप में दर्शन होते हैं । समस्त चित्रकूट समाज सीता का अपना है । गार्हस्थ्य जीवन साकार हो उठा । अष्टम सर्ग में ही गुप्त जी ने कैकैयी को नए रूप में अभिव्यक्ति दी है, जिसमें कैकैयी की वेदना, आत्मग्लानि, करुणा और ममता से युक्त वाणी मुखरित हुई है । आत्मशुद्धि से पावन बने कैकेयी के व्यक्तित्व को तथा भरत के भ्रातृत्व को गरिमा दिलाते हुए गुप्त जी ने नया स्वरूप प्रदान किया है । 'जिस जननी ने जना भरत सा भाई'—उसकी वंदना राम और चित्रकूट पर उपस्थित जनसमुदाय एक स्वर से व्यक्त करता है ।

चित्रकूट पर सबका मिलन हुआ । सीता जी ने लक्ष्मण को उर्मिला से मिलने का सुयोग दिया । लक्ष्मण कुटी में गए—

'तो दीख पड़ी कोणस्थ उर्मिला रेखा ।
यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनको कुछ नहीं समझ में आया ।'

उर्मिला ने सोचा संभवतः कर्तव्य में बाधक समझ रहे हैं । विरह विदग्ध कोमल हृदय से अनुरागसिक्त वाणी मुखरित हुई—

'मेरे उपवन के हरिण, आज वन चारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी ।'

श्री रवींद्र बाबू ने उर्मिला को अव्यक्त वेदना कहा था । द्विवेदी जी ने हिंदी कवियों द्वारा भी उर्मिला की उपेक्षा की बात कही थी । श्री मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला के अनुरागी हृदय को, उसकी प्रेम साधना, तन्मयता, निष्ठा, विरह वेदना तथा उसके स्वाभिमान, परिवार प्रेम, अदम्य विश्वास आदि को स्वर और वाणी प्रदानकर रवींद्र बाबू एवं द्विवेदी जी के कथ्य के अभिप्राय की पूर्ति की है ।

साकेत महाकाव्य के एकादश सर्ग तथा द्वादश सर्ग में मांडवी, श्रुतिकीर्ति

१५

आदि के व्यक्तित्व का निरूपण हुआ है। राम के युद्ध आदि की सूचना पाकर अयोध्यावासियों की वेदना तथा उनका ओजस्वी रूप व्यक्त हुआ है। लक्ष्मण की मूर्छा की सूचना से उत्पन्न उर्मिला के हृदय की वेदना को गुप्त जी ने विश्वास और चिरप्रेम का स्वर प्रदान किया है। उर्मिला कहती है—'जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ।' उन्हीं क्षणों में उर्मिला का ओजस्वी रूप भी व्यक्त हुआ है—

'आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।
जटा जाल से बाल विलंबित छूट पड़े थे,
आनन पर सौ अरुण, घटा में फूट पड़े थे।'

द्वादश सर्ग में ही गुप्त जी की लेखनी सुखद भविष्य की कामना करती हुई कहती है—

'झलको, झल मल भाल रत्न, हम सबके झलको,
हे नक्षत्र, सुधार्द्र बिंदु तुम छलको छलको।'

वह शुभ दिन भी आया। राम लक्ष्मण और सीता का आगमन हुआ। हर्ष उल्लास उमंग आया—

पुर कन्याएँ खील फूल धन बरसाती थीं,
कुल ललनाएँ धरे भरे शुभ घट, गाती थीं—
द्वार द्वार पर झूल रही थीं शुभ मालाएँ,
झलती थी ध्वज व्यजन शील शीला शालाएँ।
राज मार्ग में पड़े पावड़े फूल भरे थे,
क्षत्र लिए थे भरत, चौंर शत्रुघन धरे थे।'

माताओं के भाग्य जागे। सीता जी कहती हैं—'माँ, मेरे सुख आज हुए हैं दूने दूने।' उर्मिला के मन में छाई उमंग को देखकर सभी कहती हैं—

प्रीति स्वाति का पिया शक्ति बन बनकर पानी,
राज हंसिनी, चुनो रीति मुक्ता अब रानी।'

लक्ष्मण ने भी उर्मिला को विश्वास दिलाते हुए कहा—'प्रिये, प्रिये, हाँ आज आज ही वह दिन आया।' अयोध्या के स्वच्छतर अंबर में स्वादु मधु गंध से सुवासित समीर सोम छनकर आने लगा। त्यागी, प्रेमयोग के व्रती एवं जायापति समीर सोम का पान कर प्रफुल्लित हो उठे। समुदित चंद्र किरणों को चौंर ढारने लगा। दिव्य दीप बाला व्योम आरती उतारने लगी।

साकेत महाकाव्य के प्रायः सभी पात्र मानवीय भावनाओं के अधिक निकट हैं। कैकेयी के व्यक्तित्व की दुर्बलताओं को सबलता में परिवर्तित कर गरिमा

प्रदान की गई है। सुमित्रा का ओजस्वी रूप मुखरित हुआ। मांडवी तथा श्रुतिकीर्ति का परिचय भी साकेत महाकाव्य में प्राप्त है। सीताजी के व्यक्तित्व को नए रूप में प्रस्तुत किया गया है। उर्मिला का व्यक्तित्व सर्वाधिक साकेत महाकाव्य में मुखरित हुआ है। अयोध्यावासियों की भावनाओं को भी स्थान मिला है। अतः साकेत महाकाव्य राम कथा के साथ साथ काव्य उपेक्षित पात्रों के उत्थान का भी महाकाव्य है, जिसमें गुप्त जी ने उपेक्षित, पीड़ित, त्यागमय एवं अनुरागी हृदय को उन्नयन के साथ गरिमा प्रदान की है।

यशोधरा (सन् १६३२)

'यशोधरा काव्यकृति का प्रकाशन साकेत महाकाव्य से एक वर्ष उपरांत हुआ था। प्रस्तुत कृति में मैथिलीशरण जी का उद्देश्य यशोधरा की वेदना की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व के आगे काव्य उपेक्षिता यशोधरा को प्रतिष्ठा प्रदान करना भी रहा है। यशोधरा काव्य कृति के माध्यम से गुप्त जी की मर्मस्पर्शी दृष्टि ने ही सर्वप्रथम वेदना के उन क्षणों को देखा है, जब सिद्धार्थ एक रात पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को सोते हुए छोड़कर ज्ञान की खोज में चले गए थे। गृहत्याग करते समय संभवतः सिद्धार्थ ने सोचा होगा कि सूचना देने पर यशोधरा बाधा बनेगी। मानिनी का मान पीड़ित हो उठा। यशोधरा ने कहा—

'सखी वे मुझ से कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको अपनी पथ बाधा ही पाते ?'

यशोधरा वियोग के क्षणों में जब पति की सफलता और श्रेष्ठता की बात सुनती थी, तब हृदय में और अधिक अनुराग उमड़ आता था। पति और अधिक सफलता प्राप्त करे, इसलिये यशोधरा कहती है—'जाँय, सिद्धि पावें वे सुख से।' पति की उपलब्धि में पत्नी का भी भाग या साझा होता है, इसी दृष्टि से यशोधरा कहती है—'उसमें मेरा भी कुछ होगा, जो कुछ तुम पाओगे।'

गौतम बुद्ध के आगमन की सूचना पाकर यशोधरा का हृदय दर्शन के लिये उमग उठता है, तभी याद आता है कि एक रात सोती हुई छोड़कर चुपचाप चले गए थे। मानिनी का मान जागा—'उन्हें ही यहाँ तक आना चाहिए।' यह अहंकार नहीं, अनुरागी हृदय का मान था। गौतम बुद्ध ने यशोधरा के मान की रक्षा की। यशोधरा के द्वार पर गए और कहा—
'मानिनी, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान।'

यशोधरा काव्य कृति दस सर्गों में संपन्न हुई है, जो दो खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में यशोधरा का पत्नी रूप तथा द्वितीय खंड में राहुल की

जननी का रूप है। गुप्तजी ने राहुल के बाल हृदय की भी सुंदर अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है।

द्वापर (सन् १९३६)

यशोधरा काव्य कृति के प्रकाशन के उपरांत सन् १९३९ में द्वापर काव्य का प्रकाशन हुआ। श्रीमद्भागवत में विधृता के संदर्भ में मात्र एक श्लोक है, मैथिलीशरण जी की लेखनी ने उसे महत्व देते हुए शक्ति प्रदान की है। कुब्जा को राधा की सेविका तथा गोपियों को राधा की सखियों के रूप में प्रस्तुत किया है।

द्वापर काव्य कृति में नारी का आलोचक रूप भी व्यक्त हुआ। विधृता का यह कथन—'अविश्वास, हा! अविश्वास, नारी के प्रति नर का।' पुरुष वर्ग की मनोवृत्तिविशेष के संदर्भ में कहा गया है।

हिडिंबा

हिडिंबा महाभारत में वर्णित राक्षस जाति की स्त्री पात्र है, जिसे गुप्त जी ने प्रस्तुत कृति में काव्य रूप प्रदान किया है। काव्य निरूपण में गुप्त जी की दृष्टि रही है कि हिडिंबा राक्षस जाति की थी, किंतु थी तो स्त्री। उसके पास भी स्त्री का हृदय था। अतः संमान की पात्र है। गुप्तजी का यह दृष्टिकोण साकेत महाकाव्य में भी रहा है। मांडवी द्वारा ताड़का तथा शूर्पणखा के संदर्भ में व्यंग्य किए जाने पर भरत का यह कथन उक्त दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है।

'उन में भी सुलोचनाएँ हैं, और प्रिये, हम में भी अंध।'

प्रत्युत्तर में मांडवी कहती है—

'नाथ, क्यों नहीं-तभी न अब यह जुड़ता है उनसे संबंध।'

संभवतः हिडिंबा काव्य कृति के प्रणयन का सूत्र भरत और मांडवी के उक्त कथन में निहित है। प्रस्तुत काव्य कृति में बल शौर्य से संपन्न पुरुष के प्रति नारी के आकर्षण का चित्रण हुआ है, जिसमें हिडिंबा भीम की ओर आकर्षित हो, प्रणय निवेदन कर उसकी पत्नी बनती है। अतः हिडिंबा काव्य कृति में स्त्री के आकर्षण भाव के साथ साथ पूर्वानुराग से प्राप्त पत्नी रूप को भी मान दिया गया है। उसकी भावनाओं को अभिव्यक्ति दी गई है।

विष्णुप्रिया (सन् १९५७)

विष्णुप्रिया काव्य में उपेक्षित नहीं थी। बंगाल में विष्णुप्रिया का विशेष महत्व है, किंतु श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा उपेक्षिता थी। प्रस्तुत काव्यकृति का

प्रणयन उस उपेक्षा और उसकी वेदना को संमान दिलाने की दृष्टि से किया गया है। 'राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ' में 'विष्णुप्रिया: मृत्युंजयी मृण्मूर्ति का राष्ट्रीय अभिषेक' शीर्षक से कहा गया है कि गुप्त जी ने उर्मिला, शकुंतला, द्रौपदी, यशोधरा, कुंती आदि राजसी नारी पात्रों की रचना कर आधुनिक खड़ी बोली के काव्य में अपनी हीरक जयंती मनाने की अवस्था में विष्णुप्रिया जैसी एक साधारण परिवार के नारीरत्न का काव्य लिख कर उन्होंने सहसा ही जिस नवीनतम साहस का परिचय दिया है, वह उनके हृदय में रमी हुई नारी जिजीविषा का एक नया गीतिमय परिच्छेद है।

चैतन्य महाप्रभु गृहत्याग कर वृंदावन चले गए थे। वृंदावन से लौटने पर विष्णुप्रिया उनके दर्शन के लिये घर से बाहर आती है। प्रथम दृष्टि में चैतन्य महाप्रभु उसे नहीं पहचान पाते, पूछते हैं—'तुम कौन हो?' विष्णुप्रिया का हृदय अनादृत और पीड़ित हो वेदना से भर गया। उस वेदना की कविकल्पना ने ही विष्णुप्रिया काव्य कृति की रचना की है।

विष्णुप्रिया काव्य में यशोधरा काव्य कृति का स्वर मिलता है। गौतम बुद्ध यशोधरा के द्वार पर जाकर उसके मान की रक्षा करते हैं, निमाई (चैतन्य महाप्रभु) भी गया से लौटने पर विष्णुप्रिया से कहते हैं—

'किंतु प्रिये, जो कुछ मिला है इस यात्रा में,
वस्तुतः तुम्हारा ही दिया वह मिला मुझे।'

अतः श्री मैथिलीशरण जी ने अपने काव्य में नारी (पत्नी) के त्याग और अनुराग को, उसकी साधना को, पुरुष (पति) की उपलब्धियों एवं सफलताओं में भागीदार बनाकर महत्ता और गरिमा प्रदान की है।

सन् १९१० से १९३६ के कालविशेष में हिंदी काव्य जगत् में नारी के अनुराग और कर्तव्य के विविध पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं। प्रिय प्रवास (सन् १९१३) साकेत (सन् १९३१) तथा कामायनी (सन् १९३५) तीनों महाकाव्य इसके प्रमाण हैं। प्रियप्रवास महाकाव्य में हरिऔध जी ने प्यार से वंचिता नारी का परिचय राधा के इस कथन से दिया है—

'मैं नारी हूँ, तरल उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त, वैचित्र्य क्या है।'

यशोधरा काव्य कृति में गुप्त जी ने नारी के करुणामय रूप का परिचय देते हुए कहा है—

'अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

साथ ही गौतम बुद्ध के माध्यम से नारी को अभय बनाते हुए, उसकी श्रेष्ठता की स्थापना भी की है—

'दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत–दया–मूर्ति वह मन से, शरीर से ।'

श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में नारी का परिचय देते हुए उसे श्रद्धा और विश्वास के रूप में देखा है—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में ।'

उक्त तीनों ही महाकाव्यों में नारी पात्रों के माध्यम से मानव जीवन के लिये नव संदेश प्रदान किए हैं । सीता राम वन आगमन के संदर्भ में राम को प्रेरणा देते हुए कहती है—

तो बरसो, सरसे, रहे न भूमि जली सी,
मैं पाप पुंज पर टूट पड़ूँ बिजली सी ।'

'कामायनी में प्रसाद जी ने श्रद्धा के माध्यम से कहा है—

और क्या तुम सुनते नहीं विधा का मंगल वरदान
शक्तिशाली हो, विजयी बनो, विश्व में गूँज रहा जयगान ।
डरो मत अरे अमृत संतान । अग्रसर है मंगलमय वृद्धि
पूर्ण आकर्षण केंद्र खिंची आवेगी सफल समृद्धि ।।'

हिंदी काव्य में विकसित इस नव्य दृष्टि ने नारी को अवरोधक नहीं, पुरुष की विकास यात्रा में प्रेरक तथा सहगामिनी के रूप में देखा है । श्री मैथिलीशरण जी के काव्य में यह नव्य दृष्टि करुणा और अनुराग से सिक्त मिलती है । गुप्त जी ने काव्य में युगों से उपेक्षित, पीड़ित नारी को पुरुष के समकक्ष स्थान प्रदान कर उसकी समस्त दुर्बलताओं को सबलता में बदलते हुए प्रतिष्ठित किया है । नारी के त्याग एवं उसकी वेदना को महत्व देते हुए प्रतिष्ठित किया है । नारी के त्याग एवं उसकी वेदना को महत्व देते हुए उसे पति की उपलब्धियों में भागीदार बनाया है । अतः गुप्त जी का काव्य नारी को उत्पीड़न से मुक्ति दिला, उसके उत्थान की, उसके वास्तविक अधिकारों की स्थापना का काव्य है ।

गुप्त जी के काव्य में परिवार की भव्य और मनोरम अभिव्यक्ति मिलती है । यज्ञ रक्षार्थ जाते समय राम परिवार का यह भव्य निरूपण गुप्त जी की आस्था का प्रतीक है—

कसती कटि थी कनिष्ट माँ ।
असि देती मँझली घनिष्ठ माँ ॥
वह क्यों न हमे किया प्रजा ?
पहनाती वह ज्येष्ठ माँ स्रंजा ॥
प्रभु ने चलते हुए कहा,
अब शांते भय सोच क्या रहा ।
भगिनी जय मूर्ति सी झुकी ।
यह राखी जब बाँध तू चुकी ॥'

गुप्त जी की वाणी ने मनुष्य के प्रति आस्था को स्वर दिया है। दिवोदास कृति में विधाता के कथन के माध्यम से कवि की आस्था इस रूप में व्यक्त हुई है कि—'मेरी कृति में मनुष्यत्व से श्रेष्ठ नहीं कुछ अन्य।' पृथ्वीपुत्र काव्य कृति में 'मातृभूमि' भी पुत्र से यही कहती है कि—'तुमको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं।[२] सीता, उर्मिला, मांडवी, श्रुतिकीर्ति तथा शकुंतला, यशोधरा एवं विष्णुप्रिया आदि भी अपने अपने पति को श्रेष्ठतम रूप में देखना चाहती रही हैं। अतः गुप्त जी के काव्य में नारी पात्र करुणा, ममता, अनुराग एवं कर्तव्यनिष्ठा से युक्त पुरुष की प्रेरक शक्ति और सहचारिणी के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

श्री मैथिलीशरण जी की कवि वाणी ने उपेक्षित, पीड़ित पुरुष एवं नारी पात्रों को पुनीत वेत्रवती के समान ही न केवल अमृत से सींचा है अपितु उनके व्यक्तित्व को निखार कर गरिमामय रूप प्रदान करते हुए पावन और पुनीत बनाया है। उन्हें उनके अधिकारों के साथ प्रतिष्ठित किया है। अतः गुप्त जी का काव्य राष्ट्रीय भावधारा तथा भक्तिभावना के साथ साथ पारिवारिक मूल्यों, मानवीय अनुभूतियों एवं अनुरागी हृदय की अभिव्यक्तियों का काव्य भी है।



यशोधरा में नारी मिथ संचरना

आचार्य जनार्दन

मिथ लोकचित्त की सामूहिक उदात्त संवेदनाओं का रूपायन है। इसमें मन की ऐषणाओं एवं आंकाक्षाओं का प्रकाशन कथा द्वारा होता है। मिथों का शाश्वत अस्तित्व है। क्योंकि वे किसी न किसी प्रकार आद्य बिंब (आर्किटाइप इमेज) रूप में मानव के चेतन अचेतन मन में रहते हैं। मानवीय सत्य की अभिव्यक्ति के लिये ही मिथों का सर्जन हुआ है। मिथ आदिम मानव की दार्शनिक जिज्ञासा की पुष्टि करने वाला कथात्मक रचना बंध है। विपुला प्रकृति की रहस्यमयी सत्ता को कैसे और किस रूप में व्याख्यायित किया जाय, आदिम मानव के लिये एक जटिल पर संवेदनीय प्रश्न था। विविक्त वर्ण भाषा के विकास के साथ ही उसने इस रहस्य को मिथों में ढ़ाल कर व्यक्त किया।

अनादिकाल से ही मनुष्य के लिये ये नारी रहस्यमयी सत्ता के रूप में बनी रही। उसके स्वरूप एवं कार्य की रहस्यमयता का उन्मीलन करने के लिये प्रारंभ से ही उससे संबंधित मिथों का सर्जन हुआ है। सामान्य तौर पर नारी के संबंध में तीन प्रकार के मिथकीय अभिप्रायों का संयोजन करते हुए नारी मिथ का सर्जन है—

(१) नारी का मातृपरक मिथ
(२) नारी का पत्नीपरक मिथ
(३) नारी का कामपरक मिथ।

प्रत्येक मिथ का कोई न कोई केंद्रीय अभिप्राय (सेंट्रल मोटिफ) होता है। इसी पर मानवीय चेतना आद्य बिंबों का सर्जन करती है और अनेक अवांतर बिंब उसके चारों तरफ भ्रमणशील होते हैं पर महत्व मूलतः केंद्रीय मिथकीय अभिप्राय का ही होता है। विश्व की प्रायः सभी भाषा में एक केंद्रीय मिथ अभिप्राय—जन्म, मृत्यु तथा पुनर्जन्म का है। मिस्टिककल्ट, उर्वरक मिथ और प्राचीन ग्रीसियों के आदिम विश्वासों में यह अभिप्राय किसी न किसी रूप में प्रकट है।

नारी से संबंधित मिथों में प्रायः दो मुख्य अभिप्राय—एक नारी का उद्धारक रूप, दूसरा उसका प्रमदा या छलना (टेंपट्रेस) रूप है। अंगरेजी साहित्य' में प्रथम रूप उद्धारक (रीडीमर) से संवद्ध जिस मिथ की अवधारणा हुई, वह ईसाई मिथ में है जहाँ 'वरजिन' मेरी की कल्पना है। नारी के प्रमदा रूप से संबंधित 'इव' का मिथ है। वरजिन मेरी ने मानवता के कल्याण के

लिये प्रभु ईसा को जन्म दिया जिससे पापलिप्त आत्माओं का उद्धार होता है। यह आदर्शमाता एक उद्धारिका रूप में प्रस्तुत होती है। इस चेतना का प्रतिबिंबन शेक्सपीयर की पर्डिटा में है। मानवीय जीवन की पापमयता का उद्धार नारी-माता रूप में करती है। इसी से मातृरूप प्रशंसनीय है। शंकराचार्य ने कहा है—

आस्तां तावदीय प्रसूतसमये दुर्वार शूलव्यथा
नैरूच्यं तनु शोषणामलमयी शय्या च सांवत्सरी
एकस्यापि गर्भभारहरणं क्लेशस्य यस्याक्षमो
दातुं निष्कृतमुन्नतोपि तनयः तस्यै जनन्यै नमः॥

पर नारी का प्रमदा, छलना रूप विश्वविमोहक है। मनुष्य उसके रूप जाल की मृगतृष्णा में भ्रमित रहता है और अंत में उसी में अपने को समाप्त करता है। 'इव' 'आदम' को पापलिप्त करती है ! उसका अप्रतिम रूप आदम को वशीभूत किए है। परिणामतः वह उसकी इच्छा को नकार नहीं सकता। 'ट्री आफ नालेज' के प्रतिबंधित फल को प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य के पतन (डाउन फाल) का हेतु है। इससे स्पष्ट है कि नारी मिथ के सर्जन में दो केंद्रीय अभिप्राय सक्रिय हैं—

(क) उद्धारिका रूप (रीडीमर)।
(ख) प्रमदा या छलना (टेंपट्रेस)।

भारतीय चिंतन भी कुछ इसी प्रकार का है। यहाँ भी नारी को एक तरफ परम प्रकाशिका, जगन्माता रूप में देखा गया है, तो दूसरी तरफ उसे प्रमदा रूप में परिकल्पित भी किया गया है। सीता का मिथ नारी मिथ के प्रथम रूप को उद्घाटित करता है, जबकि शूर्पणखा का मिथ प्रमदा रूप का व्यंजक है।

मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' में नारी मिथ स्पष्ट एवं स्थिर है। यहाँ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जीवन मूल्यों की व्याख्या है। हिंदी का आदिकाल नारी के कामपरक मिथ में ही उलझा रहा। भक्तिकाल पापमयता की चेतना से नारी के 'अपावन नारी' बिंब को उभारता है। रीतिकाल की नारी कामपरक मिथ के केंद्रीय अभिप्राय में बँधकर कामकला की पुतली मात्र बन कर रह गई है। जहाँ इससे प्रत्यक्षतः मुक्ति मिली, वहाँ भी उसके मूल में उसका कामपरक रूप ही भास्कर रहा। परिणामतः इसमें वह प्रमदा रूप में चित्रित है। मैथिली-शरण गुप्त के सामने दो स्थितियाँ थीं। एक तो इसी समय काव्य की उपेक्षित नारी को उजागर करने की चेतना विस्तार पा रही थी और दूसरी तरफ नारी केवल कामकला पुतली ही न रहकर जीवन के व्यापक क्षेत्र की पकड़ कर रही थी। इन दोनों चेतनाओं के प्रभाव ने गुप्त जी की काव्य चेतना में नारी मिथ

की कल्पना को एक नया रूप दिया। 'साकेत' की उर्मिला, यशोधरा की 'यशोधरा' इसी चेतना के परिणाम हैं।

'यशोधरा' में जिस सांस्कृतिक परिवेश को लिया गया है, उसमें नारी मातृ मिथ और पत्नी मिथ द्वारा व्यक्त है। इसप्रकार यशोधरा का मुख्य नारी-मिथ दो है :—

(१) मातृपरक मिथ।

(२) पत्नीपरक मिथ।

यह मातृ मिथ का पूरक है। संपूर्ण यशोधरा में प्रमदा या कामपरक मिथ नहीं है। यशोधरा रूपवती है। पर यह रूप लालसा उत्पन्न नहीं करता। इससे मन उद्वेलित नहीं होता। यह शामक है। इसमें वैष्णव व्यक्तित्व का औदात्य है। परिणामतः यह मदनमोहन रूप है। यह ऐसा रूप है जो पाप वृत्तियों को जगाता नहीं। यह ऐसा रूप है जो मद मोह से परे है। शुद्ध सात्विक सौंदर्य बोध पर उधृत रूप नारी के प्रमदा रूप (मिथ) को व्यक्त नहीं करता। उसके रूप में भारतीय पतिव्रता की पवित्रता है। उसके केश आगुल्फ विचुंवित हैं। उसकी कामना है सिंदूर विंदु से उसका भाल भरा रहे और हाथों में चार चूड़ियाँ रहें। यह भारत का सांस्कृतिक परिवेश है जिससे भारतीय नारी की सौभाग्य कामना और सौभाग्य की सूचना मिलती है। भारतीय लोक संस्कृति में सौभाग्यवती के सीमंत में सिंदूर और हाथों में चूड़ी का होना आवश्यक है। गुप्त जी का प्रतिपाद्य कुछ और था अतः यशोधरा का रूप संयमित है। हाँ 'पंचवटी' में शूर्पणखा नारी के प्रमदा मिथ या कामपरक मिथ की व्यंजना करती है।

यशोधरा का मातृपरक मिथ नारीत्व की परिणति मातृत्व को व्यंजित करता है। नारी की सार्थकता उसके मातृतत्व में है। समूची सृष्टि में माता और पिता का बिंब सर्जित है। वैदिक साहित्य में पृथ्वीमाता और आकाश की पिता रूप में कल्पना है। माता (द्यावा-पृथिवी) के युग्म बिंब से ही प्रजा संभव है—

होतहि विरवा भए दुइ पाता
पिता सरग औ धरती माता (जायसी)

साहित्य में उर्वशी पुरुरवा, नल दमयंती, शकुंतला दुष्यंत जैसे मिथकीय आख्यानों के रूप में इसी का प्रतिफलन है। मातृ संबंधी मिथ में धरती और आकाश का माता पिता रूप में आद्य बिंब (आर्किटाइप) निहित है। गुप्त जी ने यशोधरा के नारीत्व की सफलता उसके मातृत्व में की है। गौतम पत्नी गोपा (यशोधरा) पत्नी है, पर वह अपने एक मात्र पुत्र की माता भी है। गौतम के चले जाने पर राहुल के प्रति उसका व्यक्तित्व दोहरा हो गया है। प्रथमतः वह माता

का कर्तव्य पालन करते हुए उसका लालन पालन करती है। दूसरा पिता के अभाव में पुत्र के प्रति पितृ स्नेह अर्पित करती है।

माता पुत्र के लिये सब कुछ कर सकती है। उसका अर्पण निःस्वार्थ है। वह केवल देना जानती है। उसके दान में प्रतिदान नहीं है। राहुल की पूर्ण सुरक्षा, उसका पालन वह अपने को गलाकर करती है। उसके इस गलने में एक अप्रतिम सौंदर्य है। उसका पूरा नारीत्व उसी राहुल के लिये समर्पित है।

यशोधरा का दूसरा मिथ पत्नीपरक नारी मिथ है। यशोधरा राहुल की माता है, पर वह गौतम की पत्नी भी है। वस्तुतः मातृपरक नारी मिथ का पत्नी परक नारी मिथ पूरक है। स्त्री पुरुष का 'युगनद्ध' बिंब और 'अर्द्ध वृगल' रूपनर नारी के शाश्वत रमण का चित्र प्रस्तुत करता हैं। प्रारंभ में परम पुरुष एक था। वह एक से रमण कैसे करता। अतः उसने दूसरे की कल्पना की। यह दूसरा ही उसका अर्द्ध-वृगल है। यही आद्य बिंब पति पत्नी के रूप में प्रतिफलित है। व्यक्ति के जन्म के साथ ही उसके चारो ओर एक मडल बनता है। यही मंडल उसका आकाश है। इसमें उसकी मानस तरंगें गतिशील होती हैं। पर दूसरा छोर न मिलने से वह व्याकुल निरुद्देश्य भ्रमण करती है। उनका कहीं ठहराव नहीं है। प्रत्येक केंद्र की मंडलात्मक परिधि ही उसका आकाश है। यह पत्नी द्वारा ही रस से भरा जाता है। पति पत्नी के आपसी मिलन में यह पूर्ण होता है। 'अर्द्ध वृगल' पुरुष का आधा भाग स्त्री है। दोनों के समालिंगन से पूर्ण अंडाकृति बनती है। अब केंद्र की जो तरंगें बाहर की ओर गतिशील थीं वे आकाश में पत्नी रूप मर्यादा को पाकर पुनः केंद्र की ओर लौट आती हैं। यही तरंग की पूर्णता है। शक्ति तरंग जहाँ से उठकर बाहर की ओर चलती है और अपने ऋण विंदु को पा लेती है तो पुनः वह धन विंदु की ओर लौट आती है। इस 'एति च, प्रेति च' आती है, जाती है की संचारिणि प्रक्रिया द्वारा ही तरंग का शक्तिमय रूप बनता है। नारी का पत्नी मिथ इस अवधारणा से जुड़ा है। उसका मूल्य पुरुष को मर्यादित करने में है। उसका महत्व उसको शक्तिपूर्ण करने में है। यशोधरा कहती है कि नारी गौतम के मार्ग की बाधा नहीं है वह तो उसका अर्द्ध वृगल रूप है।

"सिद्धि मार्ग की बाधा नारी ! फिर उसकी क्या गति है।
पर उनसे पूछूं क्या जिनको मुझसे आज विरति है
अर्द्धविश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है
मैं भी नहीं अनाथ जगत में मेरा भी प्रभु पति है।"

नारी पुरुष के पूर्ण समालिंगन से ही शक्ति तरंग गतिशील होती है। गौरव की बात है कि वे सिद्धि हेतु गए, पर चोरी चोरी गए यही खलता है—

"सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात
पर चोरी चोरी गये यही बड़ा व्याघात।"

उन्होंने नारी का मूल्य नहीं जाना—

"मुझको बहुत उन्होंने माना
फिर भी क्या पूरा पहचाना।"

केंद्र से उठने वाली शक्ति तरंग आकाश में पत्नी रूप मर्यादा से ही पुनः केंद्र की ओर लौटती है। गौतम के प्रति यशोधरा की, उनकी अनुपस्थिति में भी यही कामना है कि उनका पथ निष्कलुष, निरापद बना रहे। उन्हें अप्सराओं का रूप जाल न फँसा सके, क्योंकि, वे सब सिद्धिमार्ग में बाधक हैं—

'तुम्हें अप्सरा विघ्न न व्यापे यशोधरा कर धारी॥'

पत्नी की मर्यादा से गौतम का यश वर्द्धन ही है। उन्हें वह अनुपस्थिति में भी संयमित करती है। क्योंकि केंद्र से उठनेवाली शक्तितरंग पुरुष की मंडलाकृति-परिधि आकाश में उससे मिलकर पुनः केंद्र की ओर ही तो लौटती है।

केंद्र से उठने वाली शक्ति तरंग को मर्यादित करनेवाली नारी (अर्द्धवृगल) कैसे न स्वाभिमानी हो। यशोधरा स्वाभिमानिनी है। गौतम सिद्धि प्राप्तकर लौटे हैं। सब उनके स्वागत में जाते हैं, पर वह नहीं जाती है। उसका तर्क है छोड़ा उन्होंने मुझे है, चोरी चोरी तो वे ही गए हैं और 'भक्त नहीं जाते स्वयं आते हैं भगवान,' इसलिये मैं क्यों जाऊँ। उन्हें आना है वे आवें वे आएँगे अवश्य।

यह नारी का अटूट विश्वास है। यह पत्नी या प्रेमिका की विश्रब्धता का उत्कर्ष है कि उसका प्रिय अवश्य आएगा। पुरुष केंद्र की रसमयता नारी द्वारा ही है। समालिंगन के क्षण में पत्नी पति को पूर्ण समर्पित है। वह निःशेष भाव से पुरुष को सौंप देती हैं। यशोधरा ने गौतम को अपना सब दे दिया। डब्ल्यू० बी० एट्स ने कहा है जब तक मन पूर्ण अनावृत्त होकर तदाकारिता की अनुभूति न करें तब तक तन नंगा न करो। तन मन की विवृतावस्था दोनों के एकात्मभाव को व्यक्त करती है। यशोधरा ने गौतम को तन मन दोनों अनावृत करके दिया था, पर गौतम ने उन्हें क्या पहचाना। उसका प्रश्न है वे मानते हैं— पर क्या उन्होंने उसे ठीक से पहचाना—

मुझको बहुत उन्होंने माना
फिर भी क्या पूरा पहचाना॥

उत्तर नकार का है। अगर पहचाना होता तो वे उससे छिपकर न गए होते। उसकी पहचान का अर्थ है केंद्र द्वारा उत्थित शक्ति तरंग को मर्यादित करने वाली नारी की पहचान। यशोधरा कहती है— गौतम को सिद्धि मिलेगी, पर निश्चित ही उसमें मेरा भी सहयोग होगा क्योंकि केंद्र एवं परिधि के सहयोग से ही

वृत का निर्माण होता है। यही पत्नीपरक मिथ का रहस्य है। इसी की झंकृति गुप्त जी ने यशोधरा की नारी मिथ संरचना में की है।

निष्कर्ष

(१) यशोधरा का नारी मिथ स्पष्ट और स्थिर है। वह अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जीवन मूल्यों का व्यंजक है।

(२) यशोधरा में नारी मिथ का दो रूपों में प्रयोग है।

(क) मातृपरक नारी मिथ

(ख) पत्नीपरक नारी मिथ

(३) कामपरक मिथ का यशोधरा में सर्जन नहीं है।



साकेत का नवम सर्ग और उर्मिला का विरह निवेदन

डा० निर्मला कुमारी

महान् रचनाकार अपनी रचनाओं में वस्तु संघटन इस कौशल के साथ करते हैं कि उनका वर्ण्य विषय कालजयी हो सके और उनके प्रतिपाद्य द्वारा प्रसारित संदेश युग युग तक लोक को लाभान्वित करता रहे। श्री मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार हैं और साकेत उनका प्रतिनिधि प्रबंध काव्य है। साकेत का नवम सर्ग उसका प्राण तत्व है। इसमें कवि ने लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला का विरह निवेदन प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम विश्वकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने 'काव्येतर उपेक्षिता' नामक लेख में भारतीय कवियों द्वारा उपेक्षित कुछ प्रमुख पात्रों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। तत्पश्चात् महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लक्ष्मण की भार्या उर्मिला को केंद्र बनाकर 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' नामक लेख लिखा। साकेत का प्रेरणा स्रोत यही लेख है। आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है--'साकेत की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उर्मिला काव्य की उपेक्षिता न रह जाय। पूरे दो सर्ग (९ और १०) उसके वियोग वर्णन में खप गए हैं।

आदि कवि बाल्मीकि से लेकर महाकवि तुलसीदास तक ने रामकथा का विवेचन किया है। तुलसीदास रामभक्त थे और 'रामचरित मानस' के द्वारा रामभक्ति की अजस्र धारा को प्रवाहित करना चाहते थे। अतः उन्होंने अपनी रचनाओं में उन्ही पात्रों को विशेष स्थान दिया जिनके द्वारा किसी न किसी प्रकार राम का चरित उजागर होता था। लक्ष्मण, भरत, निषाद, शबरी, हनुमान, विभीषण आदि को रामकथा में प्रमुख स्थान दिया गया। इसी कारण उन्होंने उर्मिला जैसी प्रमुख पात्र पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। परंतु बाल्मीकि आदि ने नर राम का चरित उद्घाटित करते हुए भी उर्मिला जैसी कुछ प्रमुख पात्रों पर ध्यान नहीं दिया, जिनका जीवन त्याग और करुणा की दारुण वेदना से परिपूर्ण था।

साकेत के मंदिर में उर्मिला की मूर्ति अत्यंत आकर्षक, सजीव और मनोरम है। गुप्त जी की दृष्टि में उर्मिला का त्याग सीता के त्याग से बड़ा है। उसका सारा जीवन आँसू और पीड़ा से भरा हुआ है। नवविवाहिता उर्मिला चौदह वर्ष तक प्रिय से अलग रहकर, जिस व्यथा संभार को ढोती रही, उसपर तो स्वतंत्र काव्यग्रंथ की रचना हो सकती थी। परंतु ऐसी उर्मिला

काव्य परंपरा में उपेक्षिता रही। साकेत के प्रणयन की मूल प्रेरणा उर्मिला का विषाद ही है। कवि ने साकेत के नवम सर्ग के विषय में 'निवेदन' में लिखा है—'यों तो साकेत दो वर्ष पूर्व ही पूरा हो चुका था, परंतु नवम सर्ग में तब भी कुछ शेष रह गया और मेरी भावना के अनुसार वह आज भी अधूरा है।'

शृंगार को रसराज माना गया है। इसके दो भेद हैं—संयोग और विप्रलंभ। इसमें विप्रलंभ को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। उर्मिला के विरह वर्णन के संबंध में कवि ने लिखा है—

उस रुदंती विरहिणी के रुदन रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय विरह विक्षेप से,
वर्ण वर्ण सदैव उनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के,

अर्थात् जिस प्रकार संजीवनी नामक जड़ी से रस का लेप करने से और उसे रासायनिक रीति से तपाने पर ताँबा सोना बन जाता है, जिससे अनेक रूप के आभूषण बनाकर कानों में पहने जाते हैं, उसी प्रकार रात दिन बिलखने वाली विरहिणी उर्मिला के आँसुओं के रस के लेप से और लक्ष्मण के विरह से उत्पन्न भावोन्माद के संताप से कवियों का एकएक अक्षर कानों को सुखद प्रतीत होगा और उसकी रचना स्वयमेव सरस एवं रमणीय बन जाएगी।

नवम सर्ग में उर्मिला एक सामान्य विरहिणी के साथ ही आदर्शमयी, मर्यादाप्रिय और आशावादी नारी के रूप में चित्रित है—

सामान्य विरहिणी—नवम सर्ग में उर्मिला एक सामान्य विरहिणी नारी के रूप में अपने पति के विरह में इस प्रकार जल रही है, जैसे वह स्वयं ही आरती बनी हुई है—

मानस मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप॥

विरह वेदना के कारण सारे भोग उसके लिये त्याज्य बन गए हैं। वह अपने प्रियतम में इतनी लीन रहती है कि अपनी ही सुधि भूल गई है। अपने व्यथित मन को भुलावा देने के लिये वह कभी चित्र बनाती है, कभी पुस्तक पढ़ती है और कभी वीणा बजाती है, फिर भी उसकी विरहाग्नि कम नहीं होती है।

वह इतनी व्यथित है कि रात को सो भी नहीं पाती है। वह बार बार चौंक पड़ती है। संयोग का सुख उसके लिये स्वप्न मात्र रह गया है—

हाय! हृदय को थाम, पड़ भी मैं सकती कहाँ?
दुःस्वप्नों का नाम, लेती है सखि तू वहाँ।

वियोगावस्था में संयोग सुखों का याद आना स्वाभाविक है। उर्मिला को ऐसी घटनाओं का स्मरण हो आता है जो उसकी विरहाग्नि को और अधिक प्रज्वलित कर देती हैं। प्रियतम से मिलने की इतनी उत्कट इच्छा है कि यदि वह अवधि बन सके तो स्वयं को मिटाकर प्रियतम को वन से वापिस ले आए—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ.
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।

इस प्रकार उर्मिला अवधि रूपी शिला का भारी भार अपने हृदय पर रखकर अपने आँसुओं की धारा से उसे तिल तिल करके काट रही है। इससे अधिक दयनीय दशा एक विरहिणी नारी की और क्या हो सकती है परंतु ऐसे सामान्य चित्रों की संख्या कम ही है।

आदर्शमयी एवं मर्यादाशील विरहिणी—उर्मिला आदर्शमयी और मर्यादाशील विरहिणी है। आचार्य शुक्ल ने उसके त्याग के मर्म की परख करते हुए लिखा है—'उन्माद की अवस्था में जब लक्ष्मण उसके सामने खड़े जान पड़ते हैं, तब उसकी भावना को गहरा आघात पहुँचता है और वह कहने लगती है—

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे अहो, तो गिरे गिरे।

उर्मिला एक पतिव्रता नारी है। प्रिय के न रहने पर राजभवन और मनोहारी उपवन उसके लिए वन की भाँति सूना है—

स्वामि सहित सीता ने
नंदन माना सघन ग़हन कानन भी,
वन उर्मिला वधू ने
किया उन्हीं के हितार्थ निज उपवन भी।

वह कोई भी ऐसा कार्य न स्वयं करना चाहती है और न अपने प्रियतम से कराना चाहती है, जिससे उन दोनों के जीवन की महत्ता पर कोई आँच आए। जब वह सोचती है कि लक्ष्मण उसके मोह के वशीभूत होकर अपनी साधना को बीच में ही छोड़कर आ गए हैं और द्वार पर खड़े हैं तो उसकी मर्यादा और त्याग की भावनाएँ बलवती हो उठती हैं और वह कहती है—

प्रिय, फिरो, फिरो हा ! फिरो, फिरो
न इस मोह की धूम से घिरो।
विकल मैं यहाँ, किंतु गर्विणी
न कर दो मुझे नष्टपर्विणी।

जब उसे आत्मनिष्ठ प्रेमभाव की पीड़ा होती है, तो वह प्रिय से कहती है—'आओ', पर जब त्याग और समर्पण की भावना तथा चेतना का मान होता है तो वह तुरंत कह उठती है—'जाओ'। इस दशा के द्वारा कवि ने उसके जीवन का द्वंद्व बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है--

भूल अवधि सुध प्रिय से कहती
जगती हुई कभी—आओ
किंतु कभी सोती तो उठती
वह चौंक बोलकर—जाओ।

यही 'आओ' ओर 'जाओ' का अंतर्द्वंद्व उसकी स्वाभाविकता और मानवीयता है। उर्मिला की सहानुभूति मानव तक ही नहीं है वरन् उसका विस्तार कीड़े मकोड़े और पशु पक्षी तक हुआ है। मकड़ी के जाले को भी वह नहीं हटाने देती, क्योंकि उसे लगता है कि दोनों ही उर्मिला और मकड़ी जाल में उलझे हैं और वह उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करती है—

सखि न हटा मकड़ी को, आई हैं वह सहानुभूतिवशा
जालगता में भी तो, हम दोनों की यहाँ समान दशा।

उसकी दृष्टि राजभवन के उन पक्षियों पर पड़ती है, जो पिंजड़े में बंदी होकर अपने परिजनों से अलग हो गए हैं। उन्हें देखकर उसका हृदय करुणा और दया से भर जाता है। वह उन्हें मुक्त करना चाहती है, पर तभी उसे इस यथार्थ का बोध होता है कि बहुत दिनों तक पिंजड़े में बंद रहने के कारण ये बिचारे उड़ना भी भूल गए होंगे, अतएव इन्हें मुक्त करने पर इनके प्रति और निर्दयता होगी—

विहग उड़ना भी ये हो बद्ध भूल गए, अये,
यदि अब इन्हें छोड़ूँ, तो और निर्दयता दये।

प्रायः देखा जाता है कि दुखी व्यक्ति भावात्मक परिस्थितियों में हतोत्साही और निराशावादी हो जाता है किंतु उर्मिला वियोगावस्था में भी अत्यधिक आशावान् है। उसके हृदय की विशालता का परिचय देते हुए कवि कहता है—

फटते हैं, मैले होते हैं, सभी वस्त्र व्यवहार से,
किंतु पहनते है क्या उनको, हम सब इसी विचार से?

उसका विश्वास है कि जब सबको सुख मिलेगा तो एक दिन उसके भी सुखों की वारी आएगी—

सबको सुख होगा तो,
मेरी भी आएगी वारी।

ऋतुओं के आघात को सहती हुई वह इसी विश्वास के साथ है कि शिशिर का अंत ही वसंत के आगमन का सूचक है। साकेत के नवम सर्ग की उर्मिला आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती है। इसके और विचार जीवन के शाश्वत सत्य पर आधारित हैं। हेमंत का सूनापन, पीड़ा और उदासी--शिशिर के अंत और बसंत के आगमन का सूचक है। वसंत पुनः आएगा और उसके प्रेमवंत प्रियतम भी आएँगें--

री, आएगा फिर भी वसंत
जैसे मेरे प्रिय प्रेमवंत,
दुखों का भी है एक अंत।

प्रिय मिलन की बलवती आकांक्षा को कवि बड़ी कुशलता से त्याग और आदर्श में बदल देता है और इसी त्याग और आदर्श की रक्षा हेतु वह कह उठती है—

तुम व्रती रहो, मैं सती रहूँ।

इस प्रकार उर्मिला का विरह मर्यादाशील नारी के विरह के रूप में चित्रित है। त्याग और आदर्श से परिपूर्ण उसकी विरह भावना विश्वास और आशा के दीप से प्रज्ज्वलित हैं।

विरह निवेदन : असंगतियाँ और अतिरंजना

जिन परिस्थितियों में उर्मिला को वियोग मिला, उसकी विरह वेदना में मार्मिक कसक स्वाभाविक है। पर कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि विरहिणी का रुदन उसी सीमा तक रहे, जहाँ तक वह दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करती रहे। व्यावहारिक दृष्टि से भी और कलात्मक दृष्टि से भी विरहिणी जितना ही कम रोती है और अपनी वेदना को अनकही छोड़ देती है, दूसरों से उसे उतनी ही अधिक सहानुभूति प्राप्त होती है। उर्मिला सामान्य वर्ग की विरहिणी नहीं है, जो सब कुछ भूलकर केवल विरह में ही संतप्त रहे। वह एक विशेष वर्ग की विरहिणी है, जो असीम विरह वेदना में भी अपनी मर्यादा का, अपने प्रियतम की मर्यादा का और सामाजिक संमान का निरंतर ध्यान रखती हैं। कवि ने उर्मिला के विरह निवेदन को इतना आवश्यक विस्तार दिया है कि वह भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से दोषपूर्ण है; अपेक्षित प्रभाव को उत्पन्न करने में असफल रह गया है।

कुछ स्थानों पर तो उसका चित्रण अत्यधिक अतिरंजित कर दिया गया है। नायिका की प्रमुखता के साथ ही कवि को उसकी संगति का भी ध्यान रखना आवश्यक है। कृषकों के जीवन की प्रशंसा, शांति और युद्ध आदि प्रसंग अनावश्यक हैं और विरह की प्रभावान्विति में बाधक हैं। कहीं कहीं आदर्श और

मर्यादा के मोह में वह कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग कर देती है, जैसी कुलवती और आदर्श नारी कभी नहीं कर सकती। जैसे—

> धिक! तथापि हो सामने खड़े? तुम अलज्ज से क्यों यहाँ अड़े?
> जिधर पीठ दे दीठ फेरती, उधर मैं तुम्हें ढीठ हेरती,
> तुम मिलो मुझे धर्म छोड़ के, फिर मरूँ न क्यों मुंड फोड़ के?

उर्मिला के आदर्शवादी चरित का यह अतिरंजनापूर्ण वर्णन है। उसके चरित्र की यह अलौकिक आदर्शवादिता कवि के उस अगाध स्नेह भावना का परिचायक है, जो कवि उसके प्रति अपने महाकाव्य में आदि से अंत तक संजोता रहा।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि युग युग से उपेक्षित उर्मिला के मर्माहत करनेवाले चरित को गुप्त जी ने चुना और अपनी कल्पना को हृदय के भावों में फिरोकर पाठकों के हृदय से उसका तादात्म्य कराया। उर्मिला के चरित्र चित्रण के द्वारा गुप्त जी ने नारी को भी उजागर किया है। रीतिकाल में नारी का सौंदर्य उसके अंगविन्यास और वासनात्मक हावभाव तक ही सीमित रहा। द्विवेदी युगीन कवियों ने शृंगार की इस दयनीय अवस्था का अनुभव किया और नारी को रीतिकालीन कविता की विकृत भावना तथा गर्हित वासना से मुक्त कर नई सामाजिक भावभूमि प्रदान की। उर्मिला के अतिरिक्त गुप्त जी ने यशोधरा, हिडिंबा, विष्णुप्रिया आदि पर भी इसी दृष्टि से लेखनी चलाई है।

यद्यपि कुछ स्थल ऐसे हैं जो कला और प्रभाव की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं, पर इनकी संख्या अल्प ही है। युग युग से उपेक्षित उस नारी के हृदय के तार तार को खोलकर कवि ने उसके द्वंद्वमय मोहक व्यक्तित्व को उजागर करने में सराहनीय सफलता पाई है। वियोगिनी उर्मिला के अंतर्मन की व्यथा, उसके हृदय का अनुराग और करुणा विगलित आँसू—अनेक रूपों में प्रवाहित है। अधिकाधिक प्रसंग बड़े ही स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक हैं। नारी हृदय की यथार्थ वेदना के साथ ही उसमें गौरव, मर्यादा और आदर्श की भावना भी निहित है। उर्मिला के व्यक्तित्व में सपूर्ण भारतीय नारी की गौरव और महिमा समाहित है। पूरा नवम सर्ग उर्मिला केंद्रित है और कवि की संपूर्ण भावधारा इस विरहिणी को समर्पित है।



भारत भारती में राष्ट्रीय एकता के पोषक तत्व

डा० चंद्रभान पांडेय

द्विवेदी काल के अत्यधिक लोकप्रिय कवियों में मैथिलीशरण गुप्त जी का स्थान प्रमुख है। उनकी लोकप्रियता का प्रमुख आधार है, उनकी काव्यकृति—'भारतभारती'। स्वातंत्र्यपूर्व एक ऐसा समय था जबकि यह उत्तरभारतीय आबालवृद्ध का कंठहार बनी हुई थी। यही वह रचना है जिसके कारण हिंदी भाषी जन अपनी जाति और स्वदेश के प्रति उत्कट प्रेम प्रदर्शित करने की प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं।

सर सैयद अहमद खाँ ने जो मुसलमानों के सांस्कृतिक नेतृत्व से संबद्ध हैं, कवि हाली को मुसलमानों के उत्थान पतन से संबंधित एक ऐसे काव्यग्रंथ प्रणयन की प्रेरणा दी जिससे मुसलमानों में एक संजीवनी शक्ति का संचार हो सके। मौलाना हाली ने 'मदोजज्रे इस्लाम' (इस्लाम का ज्वार भाटा) प्रदर्शित करने के लिए 'मुसद्दस' नामक काव्यग्रंथ का प्रणयन किया। कुर्री सुदौली के अधिपति राजा रामपाल सिंह ने स्व० मैथिलीशरण गुप्त को हिंदुओं के भी उद्बोधनार्थ एक काव्यग्रंथ रचना की प्रेरणा दी जो 'भारती भारती' के रूप में प्रतिफलित हुई।

राष्ट्रकवि ने भारत भारती के अतीत खंड में 'हमारे पूर्वज' शीर्षकांतर्गत पूर्वजों के धर्माचरण की प्रशंसा करके देशवासियों में धर्म के प्रति आस्था और विश्वास जगाने का स्तुत्य प्रयास किया है—

वे धर्म पर करते निछावर तृण समान शरीर थे,
उनसे वही गंभीर थे, वर वीर थे, ध्रुवधीर थे ॥ (भा. भा. पृ० ५)

समान धर्मानुयायियों में परस्पर एकता को सुदृढ़ करने तथा विभिन्न धर्मावलंबियों में अपने धर्म के प्रति सतर्क होने की प्रकृति उत्पन्न करने का कार्य निम्नलिखित पंक्तियाँ भी करती हैं—

लखते न अघ की ओर थे वे अघ न लखता था उन्हें,
वे धर्म को रखते सदा थे, धर्म रखता था उन्हें।
वे कर्म से ही कर्म का थे नाश करना जानते,
करते वही थे जिसे कर्तव्य थे वे मानते ॥ (भा० भा० पृ० ६)

पंजाब में कुछ स्वार्थी तत्व जो तांडवनृत्य कर रहे हैं उसे ईश-नियमों की प्रत्यक्ष अवहेलना की संज्ञा देना उचित ही होगा। चंद स्वार्थी तत्व पृथक् राष्ट्र निर्माण हेतु करोड़ों लोगों के हितों का हनन कर रहे हैं और अशांति

की मौत प्राप्त कर रहे हैं। इन दुष्कृत्यों से विलग रहने की प्रेरणा राष्ट्रकवि की इन पंक्तियों से प्राप्त होती हैं—

वे ईश नियमों की कभी अवहेलना करते न थे,
संमार्ग में चलते हुए वे विघ्न से डरते न थे।
अपने लिए वे दूसरों का हिय कभी हरते न थे,
चिंताप्रपूर्ण अशांति पूर्वक वे कभी मरते न थे।। (भा० भा० पृ० ६)

अपने पूर्वजों के विषय में तो राष्ट्रकवि का कथन है कि 'की दूर देशों में उन्होंने उपनिवेश स्थापना' (पृ० ७)। परंतु अधुना भारतवासी स्वदेश के बँटवारे के लिये ही अपने जान की बाजी लगा बैठे हैं।

एक हमारे पूर्वज थे जो 'पर दुःख देख दयालुता से द्रवित होते थे सदा।' परंतु आज के आंतकवादी इसके विपरीत यमदूत सिद्ध हो रहे हैं।

अगर कोई भारतवासी आंतकवादी है तो गुप्त जी के अनुसार वह आर्य-संतान की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि—

वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जीते न थे;
वे स्वार्थरत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे। (पृ० ७)

आज के आंतकवादी तो प्राणहरण कर रहे हैं और अपने को दंडाधिकारी समझते हैं न कि दंडनीय। यह भारतीयता का द्योतक नहीं है, भारतीयता तो यह है—

यदि भूलकर अनुचित किसी ने काम कर डाला कभी,
तो वह स्वयं नृप के निकट दंडार्थ जाता था तभी।। (पृ० १०)

नरपशु और नरपिशाच बहुल आज के भारत की तुलना थोड़ा प्राचीन भारत से तो कीजिए—

'नर देव थे हम और भारत देवलोक समान था।'—(पृ० २७)

यद्यपि अतुल, अगणित, हमारे ग्रंथरत्न नये नये
बहुबार अत्याचारियों से नष्ट भ्रष्ट किये गये।
पर हाय! आज रही सही भी पोथियाँ यों कह रहीं—
क्या तुम वही हो! आज तो पहचान तक पड़ते नहीं (पृ० ४३)

जिस प्रकार ग्रामीण स्त्रियाँ ब्रह्ममुहूर्त में चक्की में अन्न पीसते समय गीत गाती हैं, उसी प्रकार ईर्ष्या और द्वेष की चक्की में पिसते हुए हम उपदेशों द्वारा वैमनस्यता को मात्र भुलाने की कोशिश कर रहे हैं।

कुछ रात रहते जागकर चक्की चलाने बैठती,
हम सच कहेंगे, उस समय वे गीत गाने बैठतीं।

पर क्या कहें, उस गीत से क्या लाभ पाने बैठतीं,
वे सुख बुलाने बैठती, या दुःख भुलाने बैठतीं (पृ० ९५)

राष्ट्रकवि ने गोवध का वर्णन करते समय 'हिंदू मुस्लिम एकता' का भी आवाहन किया है—

हिंदू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ,
जो एक का होगा अहित तो दूसरे का हित कहाँ ?
सप्रेम हिलमिलकर चलो, यात्रा सुखद होगी तभी,
पीछे हुआ सो हो गया, अब सामने देखो सभी। (पृ० १०१)

यदि धर्मोपदेष्टा अधर्मियों से त्रस्त हों और शिक्षकों के लिये सच्चे शिक्षार्थी दुर्लभ हों तो उस देश की दशा कैसी होगी, सुनिए राष्ट्रकवि के शब्दों में——

अज्ञान के अनुचर वहाँ अब फिर रहे फूले हुए,
हम आज अपने आप को भी हैं स्वयं भूले हुए।। (पृ० १२०)

परंतु इसके विपरीत प्राचीन काल की दशा दयनीय है—

धर्मोपदेशक विश्व में जाते जहाँ से ये सदा,
शिक्षार्थ आते थे जहाँ संसार के जन सर्वदा। (पृ० १२०)

राष्ट्रकवि अपने पूर्ववर्ती तथा अपने समय के साहित्य से संतुष्ट नहीं थे जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है, परन्तु आज का साहित्य भी उतना राष्ट्रीय, नैतिक, उपयोगी, सामाजिक सांस्कृतिक नहीं है जितना होना चाहिए—

जिस जाति का साहित्य था स्वर्गीय भावों से भरा,
करने लगा अब बस विषय के विष विटप को हरा।
श्रुति, शास्त्र, सूत्र, पुराण, रामायण, महाभारत हटे,
वे नायिकाभेदादि उनके स्थान में हैं आ डटे। (पृ० २०)

निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होता है कि गुप्त जी के समय में तो औपन्यासिकों का एक ही दल था जो स्वशक्ति के अनुसार मात्र हलचल मचा सका; परंतु आज तो इतने दल हो गए हैं और नग्न यथार्थ का इतना विकास कर चुके हैं कि देश नैतिक ह्रास के कारण विनाश के कगार पर आ खड़ा हुआ है—

है और औपन्यासिकों का एक नूतन दल यहाँ,
फैला रहा है जो निरंतर और ही हलचल यहाँ।
दौरात्म्य ही अब लोक रुचि पर हो रहा है सब कहीं,
हा ! स्वार्थ तेरी जय, अरे तू क्या करा सकता नहीं ?

हलचल मचाने वाले उपन्यासकारों के विषय में राष्ट्रकवि का कथन है—

'वे मित्र रूपी शत्रु ही हैं देश और समाज के।' (पृ० १२२)

गुप्त जी तत्कालीन पत्रों को देशहितचिंतक नहीं मानते, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—

वीणा लिये जो देशहित का पथ हमें दिखला रहे—
हठ, पक्षपात तथा हमें कुत्सा वही सिखला रहे॥ (पृ० १२३)

उपर्युक्त पंक्तियों से आधुनिक दिग्भ्रमित पत्रकारों, संपादकों, प्रकाशकों तथा रचनाकारों को शिक्षा लेनी चाहिए।

जब भारत से अलग पाकिस्तान को एक राष्ट्र के रूप में मान्यता प्राप्त हुई तो हिंदू तथा सिख परिवार पाकिस्तान से कितनी यातनाएँ झेलते हुए पंजाब इत्यादि प्रांतों में आए, उन यातनाओं को सिखों ने पूर्णतया विस्मृत ही नहीं कर दिया वरन् नान-काना साहब (पाकिस्तान) में गैर खालिस्तानी सिख धर्मावलंबियों पर जो अत्याचार हुए उन्हें भी सिख समाज ने विस्मृत कर दिया और आज चंद लोगों के इशारों पर सरकार से आनंद पुर साहब प्रस्ताव की स्वीकृति चाहते हैं। राजनैतिक प्रेरणा और सहयोग द्वारा धार्मिक दलों में संघर्ष (जैसाकि पंजाब में हो रहा है) आज भारत की हीन दशा का ही द्योतक है –

जिसके लिए संसार अपना सर्वकाल ऋणी रहा,
उस धर्म की भी दुर्दशा हमने उठा रक्खी न हा!
जो धर्म सुख का हेतु है, भवसिंधु का जो सेतु है,
देखो, उसे हमने बनाया, अब कलह का केतु है॥ (पृ० १२६)

निम्नलिखित पंक्तियाँ आज के सुशिक्षित नवयुवकों तथा आतंकवादियों के पुनः अध्ययन मनन तथा आचरण हेतु आवश्यक हैं :—

होकर नितांत परावलंबी पशु सदृश हम जी रहे,
हा! कालकूट सभी परस्पर फूट का हैं पी रहे।
हम देखते सुनते हुए भी देखते सुनते नहीं,
पढ़ना सभी है व्यर्थ उनका जो कभी गुनते नहीं॥ (पृ० १४६)

प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होती है, परन्तु जिस समय 'भारत भारती' की रचना हुई, उस समय तक, भारत की कोई राष्ट्रभाषा नहीं थी। कवि इस उदासीन प्रवृत्ति के प्रति क्षोभ और भाषा की एकता राष्ट्रीय एकता का प्रमुख अंग जैसा महत्वपूर्ण विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं :—

है राष्ट्रभाषा भी अभी तक देश में कोई नहीं,
हम निज विचार जना सकें जिससे परस्पर सब कहीं।
इस योग्य हिंदी है तदपि अब तक न निज पद पा सकी,

भाषा बिना भावैकता अब तक न हममें आ सकी ।।
यों तो स्वभाषा सिद्धि के सब प्रांत हैं साधक यहाँ,
पर एक उर्दूदाँ अधिकतर बन रहे बाधक यहाँ ।
भगवान जानें देश में कब आयेगी अब एकता,
हठ छोड़ दो हे भाइयो ! अच्छी नहीं अविवेकता ।। (पृ० १७५)

प्राचीन काल में भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ थी, जिसके प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत हैं निम्नलिखित पंक्तियाँ :—

सर्वत्र अनुपम एकता का इस प्रकार प्रभाव था,
थी एक भाषा, एक मन था, एक सबका भाव था ।
संपूर्ण भारतवर्ष मानो एक नगरी थी बड़ी,
पुर और ग्राम समूह संस्था थी मुहल्लों की लड़ी ।। (पृ० २७)

धार्मिक सद्भाव और सहिष्णुता ही अनेकता में एकता को लाने के साधन हैं, यथा—

सबसे हमारे धर्म का ऊँचा यही तो लक्ष्य है,
होती असीम अनेकता में एकता प्रत्यक्ष है ।
मति की चरमता या परमता है वही अविभिन्नता.
बस छा रही सर्वत्र प्रभु को एक निरवच्छिन्नता ।। (पृ० १६५)

निम्नलिखित पंक्तियो में कवि का दृष्टिकोण अत्यंत कठोर हो गया है और यही कारण है कि ये पंक्तियाँ उद्बोधन का कार्य करती हैं :—

है ज्ञात क्या तुमको नहीं तुम तीस करोड़ हो,
यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो ?
उत्साह-जल से सींचकर हित का अखाड़ा गोड़ दो,
गर्दन अमित्र अधः पतन की ताल ठोंक मरोड़ दो ।। (पृ० १५६)
सब वैर और विरोध का बल-बोध से वारण करो,
है भिन्नता में खिन्नता ही, एकता धारण करो ।
है एकता ही मुक्ति ईश्वर-जीव के सम्बन्ध में,
वर्णैकता ही अर्थ देती इस निकृष्ट निबन्ध में ।। (पृ० १५७)

हिंदू जाति की दुरवस्था की ओर संकेत करते हुए कवि उसे संबोधित करते हैं :—

बीती अनेक शताब्दियाँ पर हाय ! तू जागी नहीं;
यह कुम्भकर्णी नींद तूने तनिक भी त्यागी नहीं ।
देखें कहीं पूर्वज हमारे स्वर्ग से आकर हमें—
आँसू बहावें शोक से, इस वेश में पाकर हमें ।। (पृ० १५१)

अंततः देशप्रेम को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है :—

समझो न भारत भक्ति केवल भूमि के ही प्रेम को,
चाहो सदा निज देशवासी बंधुओं के क्षेम को।
यों तो सभी जड़जंतु भी स्वस्थान के अतिभक्त हैं;
कृमि, कीट, खग, मृग मीन भी हमसे अधिक अनुरक्त हैं ॥ (पृ० १६५)

धार्मिक कट्टरता के वजाय आज भारत राष्ट्र की एकता हेतु धार्मिक उदारता की आवश्यकता है राष्ट्रीय एकता के लिये धर्म से भी आवश्यक तत्व है—राजनैतिक एकता। उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भारत भारती में राष्ट्रीय एकता विधायक पर्याप्त तत्व विद्यमान हैं।



गुप्त जी एवं दिनकर के काव्यों में भारतीय संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन

दादूराम शर्मा

गुप्त जी और दिनकर का काव्य जीवन के प्रति संपूर्ण समर्पण और जगत् के प्रति अनन्य आस्था का काव्य है। मानव जीवन के सतत समुन्नयन द्वारा जगत् का अलंकरण उनके काव्य का लक्ष्य है। जीवन के समुन्नयन का आधार संस्कृति है। संस्कृति मानव को विकृतियों (स्वार्थपरता, अति लोलुपता, कामांधता आदि) से बचाती है तो उसकी प्रकृति (काम, युयुत्सा, पुत्रैषणा आदि) का परिष्कार भी करती है। काव्य संस्कृति का सबलतम माध्यम है क्योंकि काव्य के दो प्रमुख उद्देश्य—'शिवेतरक्षति' (आत्म कल्याण एवं विश्वकल्याण) और 'सद्यः परनिर्वृति' (अनिर्वचनीय या लोकोत्तर आनंद, साधारणीकरण द्वारा चित्तवृत्ति का परिष्कार और प्रकृति का ऊर्ध्वीकरण) संस्कृति से ही संबद्ध है। संस्कृति की जीवनधारा हमारे दोनों आलोच्य कवियों के काव्यों में सर्वत्र अविरल प्रवाहित हो रही है।

उनके काव्य में धरा के प्रति अनन्य आस्था है तो उसके स्वर्गीकरण की चेष्टा भी है, भौतिकवाद का स्वीकार है तो अध्यात्म का जयकार भी है, भारत भक्ति है तो विश्वमानवता का बोध भी विद्यमान है, अतीत के प्रति अनुराग है तो वर्तमान की चुनौतियाँ और भविष्य की आशाएँ भी हैं, मानव की उद्दाम जिजीविषा, उसका अमोघ संकल्प और अप्रतिहत उत्साह से भरा पृथुल वक्ष है, अविरत कर्मरत पुष्ट बाहु हैं और सतत गतिशील चरण हैं तो गर्वोन्नत किंतु विनयावनत ललाट भी है; आततायियों के उन्मूलन के लिये एक हाथ में खरतर शस्त्र है तो दूसरा शोषितों और दीनदलितों की ओर अभयदान की मुद्रा में उठा हुआ है। उसमें विज्ञान की शक्तियों और उपलब्धियों का स्वागत है तो उसकी सीमाओं और विकृतियों का आकलन भी है, वैयक्तिक अनुराग की उच्छल धारा है तो समष्टि के लिये अशेष भाव से समर्पित हो जाने का संकल्प भी है। संक्षेप में मानवता के शाश्वत कल्याण के लिये सर्वकाल में वांछनीय जो कुछ भी जहाँ कहीं से भी मिला, हमारे इन मनीषी कवियों ने उसे मुक्त हृदय से ग्रहण किया है और काव्य के सरस आकर्षक परिधान में उसे प्रस्तुत करके जनग्राह्य बनाया है। इस

लिये हम भारतीय संस्कृति ही नहीं, विश्व संस्कृति की कसौटी पर इनकी रचनाओं को यहाँ कसने का प्रयास करेंगे।

प्रवृत्ति भी, निवृत्ति भी

'प्रवृत्ति' की अतिशयता से व्यक्तिवाद का विकृत रूप जन्म लेता है और समाज में शोषण, अनाचार, उत्पीड़न और हिंसा के कारण पारस्परिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे उसकी शांति और व्यवस्था भंग होने लगती है अथवा मनुष्य मानवता के उच्च धरातल से च्युत होकर पशुवत् शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही अपने पुरुषार्थ की सार्थकता मानने लगता है, तो 'निवृत्ति' की एकांतोपासना व्यक्तियों में अकर्मण्यता को जन्म देकर समाज के विकास पथ को अवरुद्ध ही नहीं कर देती; उसे कमजोर बनाकर अरक्षणीयता की स्थिति भी उत्पन्न कर देती है। प्रवृत्ति का एकांत आराधक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों का शोषक और उत्पीड़क बन जाता है तो एकमेव निवृत्ति के साधक राष्ट्र के हाथों से स्वत्व और स्वाधीनता सब कुछ छिन जाते हैं प्रवृत्ति निवृत्ति के इस समन्वय को गीता में कर्मयोग की संज्ञा दी गई है। 'कर्मयोग' संसार से भागने का नहीं, संसार में रहकर पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वाह करते हुए आत्मकल्याण के साथ साथ समष्टि कल्याण का भी मार्ग है, कर्म और ज्ञान के समन्वय का मार्ग है। कर्मयोग ज्ञानमय कर्म और कर्ममय ज्ञान का नाम है, प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का नाम है। 'कुरुक्षेत्र' का कवि इसी कर्मयोग का पुजारी है और कर्म संन्यास की उसने बड़े ही सशक्त शब्दों में विगर्हणा की है—

'जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर, जो इससे डरते हैं
वह उनका, जो चरण रोप, निर्भय होकर लड़ते हैं'।

यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन का यह कुत्सित क्रम है

भीष्म युधिष्ठिर को आदेश दे रहे हैं—

'पोंछो अश्रु, उठो, द्रुत जाओ वन में नहीं, भुवन में'।—

गुप्त जी का आस्तिक कवि मायावाद को खुली चुनौती दे रहा है—

"जुड़ा जगत् का मेला है, क्या यह सभी झमेला है ?
खेल कौन यह खेल रहा ? क्यों इतना श्रम झेल रहा है ?—वैतालिक पृ० १४।

हमें प्रेय भी चाहिए और श्रेय भी[1], अनुराग भी चाहिए और त्याग

---

(१) प्रेम छोड़कर श्रेय लिया। तो भी क्या कर्तृत्व किया ?—वैतालिक, पृ० १७।

भी[1], विज्ञान भी चाहिए और अध्यात्म भी[2], समष्टि के भौतिक उत्कर्ष के लिये पश्चिमी यांत्रिकता का हम स्वागत करते हैं अवश्य, किंतु आध्यात्मिकता को साथ लेकर। 'भोग' हमें चाहिए तो, किंतु 'योग' के साथ--'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।'[3]

(क) प्रवृत्ति की विकसित विकृति के सहज परिणाम

अनियंत्रित भोगवाद और जड़ विध्वंसक विज्ञान

(१) **अनियंत्रित भोगवाद**—अनियंत्रित भोगवाद की अट्टालिका, हिंसा और शोषण की नींव पर खड़ी होती है।[4] आज का मानवता विरोधी वणिग्वाद (महाजनी सभ्यता)[5] उसी की कुक्षि से जन्मा है। यह वर्तमान सामाजिक संघर्ष का कारण है।[6] इसी की समाप्ति पर विश्वशांति निर्भर है।[7] नहुष के स्वर्ग से पतन का कारण यही अनियंत्रित भोगवाद है।

(२) **जड़ और विध्वंसक विज्ञान**--आधुनिक मानव की शुष्क निरंकुश बुद्धि ने हृदय की, अनुपयोगी किंवा मानवीय प्रगति में बाधक समझकर उपेक्षा कर दी और जड़ विज्ञान को लेकर आगे बढ़ गई।[8] प्रकृति पर तो सर्वत्र विजयी पुरुष आसीन हो गया किंतु, यांत्रिकता उसपर सवार हो गई, वह स्वयं एक यंत्र-चालित पुतला बनकर रह गया। उसने भौतिक समृद्धि तो पा ली, किंतु मनः-

(१) त्याग और अनुराग चाहिए बस यही।--साकेत।

(२) एक हाथ में कमल एक में धर्मदीप्त विज्ञान।
लेकर उठनेवाला है धरती पर हिंदुस्तान॥--मृत्ति तिलक पृ० २।

(३) हृदय और मस्तिष्क खिलें, ज्ञान और विज्ञान मिलें।
उनका सा उद्योग करो, किंतु भोग में योग भरो।—वैतालिक, पृ०२१।

(४) बनता नहीं ईंट गारे से यह साम्राज्य विशाल,
सुनो चुने जाते हैं उसमें, रुधिरा प्लुत कंकाल॥—द्वापर [कंस]।

(५) श्वानों को मिलते दूध।—हुंकार (विपथगा)।

(६) इस वैयक्ति भोगवाद से फूटी विष की धारा।—कुरुक्षेत्र सर्ग ७।

(७) जबतक मनुज मनुज का यह दुखभाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल संघर्ष नहीं कम होगा—वही।

(८) किंतु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष।
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश। वही।
तथा, बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान।--नील कुसुम (हिमालय का संदेश)

शांति, अनुराग और मनुष्यता की बलि चढ़ाकर[1] विध्वंसक विज्ञान की विनाश लीला का दारुण और लोमहर्षक दृश्य गुप्त जी की 'विश्व वेदना' में दिखाया गया है।[2] दिनकर भी कहते हैं—विज्ञान काम कर चुका, हाथ उसका रोको, 'आगे आने दो गुणी; कला कल्याणी को'।—धूप और धुआँ।

त्याग और मनःप्रसाद—मानवीय समस्याओं का समाधान मन की उच्छृंखलता में नहीं, संयम में है; लोभ में नहीं, अलोलुपता में है; परिग्रह में नहीं, त्याग में निहित है और सामाजिक संघर्षों की समाप्ति मनःप्रसाद पर निर्भर है—

मन का होगा आधिपत्य, जिस दिन मनुष्य के तन पर
होगा त्याग अधिष्ठित जिस दिन भोगलिप्त जीवन पर
कंचन को नर साध्य नहीं, साधन जिस दिन जानेगा,
उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य उदय का।—कुरुक्षेत्र, सर्ग ७।

इसीलिये 'पंचवटी' के लक्ष्मण कहते हैं—

मनःप्रसाद चाहिए केवल, क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद ?
भाभी का आह्लाद अतुल है, मंझली माँ का विपुल विषाद।

और काननवासिनी सीता को अपनी कुटिया में ही राजभवन का सुख मिल जाता है। संतोष का धनी सुदामा सभी अनर्थों की जड़ स्वर्ण को हेय ठहराते हुए इसीलिये अपनी पत्नी को समझाता है—

"सोना पाकर भी क्या सुख से तू सोने पाएगी ?
बढ़ती हुई लालसा तुझको कहाँ न ले जाएगी ?"' द्वापर' (सुदामा)

'वैतालिक' में भोगवादी पश्चिमी जगत् की विडंबना का जीता जागता चित्र भी कवि ने खींचा है।[3]

[ग] अपरिग्रह एवं अस्तेय—'मा गृधः कस्यस्विद् धनं' का आदर्श लेकर चलने वाला भारत 'परदारेषु मातृवत्' एवं परद्रव्येषु लोष्टवत्' दृष्टि

(१) चलाते हैं सबको अब यंत्र।—विश्ववेदना पृ० ७।
मैं तो देखती हूँ लाख लाख गुना तुझ में, विकसित गृध्र वही साधनों के साथ है।—पृ० पुत्र, ६१।
नहीं स्त्री-बच्चों का ध्यान, पड़ोसी की किसको पहचान ?—विश्वेदना पृ० १३।

(२) विश्ववेदना, पृ० ३६।३७।

(३) देखें—वैतालिक, पृ० २५, साकेत पृ० २३, पंचवटी, पृ० २३, रश्मिरथी, सर्ग ४।

रखता है। 'गीता' का स्थितप्रज्ञ [कर्मयोगी] 'समलोष्टाश्मकांचन' है तो 'रघुवंश' के रघुवंशी 'त्यागाय संभृतार्थाः' [लोक कल्याणकारी कार्यों के लिये अर्थ संचय करने वाले] । अतः भारतीय संस्कृति में 'स्तेय'—परद्रव्यापहार या परशोषण—और 'परिग्रह' को गर्हित माना गया है। 'साकेत' की उर्मिला कितने सशक्त शब्दों में अपने सैनिकों की शत्रुपुरी लंका को लूटने की दुरिच्छा का निवारण कर रही है—

गरज उठी वह—'नहीं, नहीं पापी का सोना,
यहाँ न लाना भले सिंधु में वहीं डुबोना,
तुम्हें तुम्हारी मातृ भूमि ही देगी दूना—— 'साकेत पृ० ४७४।

तो चंद्रगुप्त मौर्य कहता है—

मैं न चाहता हरण करें हम किसी देश का गौरव,
किसी जाति को जीत उसे फिर अपना दास बनाएँ
— इतिहास के आँसू (मगध महिमा—दृश्य ५)

उक्त पंक्तियों में अस्तेय का कैसा उज्ज्वल भाव है, साम्राज्य लिप्सा की कितनी सशक्त अस्वीकृति है।

परिग्रह सामाजिक अनर्थ का कारण है। शोषणपरक आधुनिक सभ्यता की विशाल अट्टालिका दीन दलितों के रुधिराप्लुत कंकालों पर ही खड़ी होती है और मानवीय शोषण की यह अति 'विपथगा' क्रांति को जन्म देती है जो—'झंझा सी पकड़ झकोर हिला दंभी का सिंहासन।—हुंकार' तभी तो गुप्त जी का कुणाल कहता है—

'हे जन अर्जन से मुँह न मोड़, मिल जाय जहाँ जितना न छोड़
भर भर ले सब कुछ जोड़ जोड़, पर यह तो कह किस हेतु हाय !
—कुणाल गीत, पृ० १३६

(घ) नियति की वर्जना, भाग्यवाद की विगर्हणा और पौरुष की उपासना

'पंचवटी' के लक्ष्मण और 'रश्मिरथी' के कर्ण भाग्यवाद के कट्टर विरोधी और पौरुष के एकनिष्ठ उपासक हैं। रश्मिरथी कर्ण का अदम्य पुरुषार्थ स्वर्ग को भी धरा पर याचना हेतु आने के लिये बाध्य कर देता है तो नहुष द्वारा स्वर्ग भुक्तोज्झित हो जाता है। वह हारकर भी हार नहीं मानता, गिरकर भी उठना जानता है—

"फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ, चढ़के रहूँगा मैं"—जयभारत, पृ०२२।

दिवोदास तो स्वर्ग को भी उद्दाम पुरुषार्थ से दास बना लेता है। मानव को निकम्मा बनानेवाली देवावलंबता [दूसरे शब्दों में भाग्यवादिता] को नकार कर वह घोषणा करता है—

'कल तक नाम जपा है हमने, आज करेंगे काम'—'पृथिवीपुत्र' पृ० २३। साथ ही मृत्ति पुत्र' के शारीरिक श्रम की यह अभ्यर्थना देखिए--

बहा स्वेद कण फोड़ निकाली धारा अगम अतल से
छककर दूध पिया मिट्टी का मैंने निज भुज बल से
—प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ, पृ० १०७.

'कुरुक्षेत्र' में मानवीय पुरुषार्थ की प्रशस्ति अनवरत गूँज रही है और परशुराम की 'प्रतीक्षा' में राम बनकर जीने का आह्वान है। जीवन के यथार्थ काव्य का प्रणेता तो यही मानवीय पुरुषार्थ है जो गौरवगंध से अपने जीवन सुमन को सुरभित करना चाहते हैं, उन्हें मानवीय पुरुषार्थ का यह कंटक किरीट धारण करना ही होगा। पुरुषार्थी बाधाओं और विपत्तियों का सदैव स्वागत करता है।

गुप्त जी द्वारा चंद्रहास में नियति का समावेश और उर्वशी में नियति की वर्जना पर पुरुरवा का पुरुषार्थ से विरत होकर 'संन्यासी' बन जाना, स्पष्ट ही, पलायनवाद है। 'चन्द्रहास' गुप्त जी की प्रारंभिक कृति [सन् १६१६ में रचित] है। उनकी परवर्ती कृतियों में नियति वाद का यह चक्कर नहीं है। किंतु जीवन भर पौरुष का सिंहनाद करने वाला दिनकर प्रौढ़ावस्था में पौरुष का अपलापी बन कर नियतिवादी बन जाय तो उसे कैसे क्षमा किया जा सकता है?

(ङ) धरा के प्रति अनन्य आस्था—दोनों राष्ट्रकवियों के काव्य धरा के लिये समर्पित हैं। 'साकेत' के राम भूतल को ही स्वर्ग बनाने के लिये अवतरित होते हैं[1] तो दिनकर कवि कल्पना को उसी के शृंगार के लिये आमंत्रित करता है। उसकी दृष्टि में—'बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुंदर बनाती है।[2] दोनों राष्ट्र-कवियों के काव्यों में धरती की सोंधी गंध उच्छ्वसित हो रही है। दिवोदास सुर समुदाय को धरा से निष्कासित कर उसका समग्र भार अपने बलिष्ठ कंधों पर ले लेता है—और उसे 'सुजला-सुफला' बनाने में जुट जाता है[3]। दिनकर का भुजबल जीवी 'मृत्तिपुत्र' भी यही उद्घोषणा कर रहा है[4] और उसके 'हुंकार' में तो धरा के प्रति संपूर्ण समर्पण का स्वर निनादित हो रहा है—

---

१. संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।—साकेत

२. 'नील कुसुम' [स्वप्न और सत्य कविता]।

३. पृथिवीपुत्र, पृ० २३।

४. 'प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ'—पृ० १०।

'मृत्तिका पुत्र मैंने मिट्टी का पिया क्षीर,
मिट्टी में मिल जाने वाला मेरा शरीर।

और 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म स्पष्ट घोषणा कर देते हैं--

'ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में
धर्मराज जो कुछ है, वह है मिट्टी में जीवन में।'

इसीलिये वे युधिष्ठिर को आदेश देते हैं—

'मिट्टी का यह भार सँभालो बन कर्मठ संन्यासी' सर्ग ७।

प्रकृत जीवन की ओर प्रत्यावर्तन :--वर्तमान नगर जीवन के कोलाहल, एकरसता और विरसता तथा यांत्रिक सभ्यता के संघर्ष और संत्रास से अशांत मानव की सुख शांति और जगत् के वर्तमान संघर्षों के समाधान को हमारे इन मनीषी कवियों ने पश्चिम के वर्ड्स्वर्थ प्रभृति स्वच्छंदतावादी कवियों की तरह प्रकृति की गोद में अथवा प्रकृत (सहज) जीवन की ओर प्रत्यावर्तन में खोजा है। 'पंचवटी' के लक्ष्मण को 'सीधे सच्चे पूर्वभाव ही भाते हैं', 'साकेत' की सीता की पर्णकुटी में राजप्रासाद उतर आता है तो 'अनघ' की रानी पति से राज्य छोड़कर प्रकृति की गोद में बस जाने का अनुरोध करती है। यही हमारी संस्कृति का सुचिंतित 'वान्प्रस्थ आश्रम' है। 'रेणुका' की 'कस्मै देवाय' कविता में दिनकर ने इसी शांतिमय प्रकृत जीवन की आराधना की है। इसीलिये उसकी कविता भुवन स्वर्ग धूसर ग्रामों में विहार करने की आकांक्षिणी है और मन के मटीले ग्राम में ही कवि को 'गृह सुख' मिलता है[१]।

गार्हस्थ्य—भारतीय संस्कृति का मूल आधार जीवन का नकार नहीं, सम्यक् स्वीकार है और जीवन का मेरुदंड है गार्हस्थ्य। समाज का झुकाव जब प्रवृत्ति की ओर होता है तब उसके महत्व और संमान बढ़ जाते हैं। निवृत्ति का वर्चस्व होने पर भी गार्हस्थ्य का संमान भले ही घट जाय, किंतु उसका महत्व तो अक्षुण्ण ही बना रहता है। क्योंकि जीवन और जगत् का सातत्य, समाज की जीविका, संसार का आकर्षण और अलंकरण सब कुछ उसी पर निर्भर है। संन्यास भी उसका मुखापेक्षी है। तभी तो यशोधरा पुकार कर कहती है—

''अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भोजन मेरे हाथ।

—बोलो संन्यासी, क्या भोजन के बिना तुम्हारा काम चल जाएगा? क्या तुम जन्म मूल मातृत्व को मिटा सकते हो? यदि कदाचित् ऐसा कर सको तो अपने 'बोध' का उपयोग तुम जनविहीन विश्व में कहाँ करोगे! मेरी गोद के लाल के सहयोग के बिना तुम्हारा धर्माभियान कैसे पूरा हो पाएगा[२]।

---

१. 'वे:रला और वदिरव' [गृह सुख' कविता]।

२. हरिस्मरण भी कौन करेगा यदि अपुत्र ही लोक मरेगा।—विष्णुप्रिया पृ०८।

(१) दांपत्य प्रणय—शक्ति का वरण करके शिव 'अर्धनारीश्वर' कहलाते हैं और जगत् के माता पिता बनकर समष्टि हित में संलग्न होते हैं तो महर्षि च्यवन तप:सिद्धि के रूप में सुकन्या को पाकर कृतार्थ हो जाते हैं। दांपत्य की सहज अनुराग धारा में ही जीवन की सरसता तरलित होती है, बुढ़ापे में भी जो म्रियमाण हृदय तरु को संजीवन रस से सींचती रहती है—

हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है।—उर्वशी पृ०१०४

और, रसमय चुंबन की चाह तो वृद्ध हृदय में भी उमड़ा करती है।[1]

गुप्त जी का काव्य 'गेह गौरव' से पूर्ण है। दांपत्य के सुखद सर्वांग-पूर्ण सुंदर चित्र उसमें यत्र तत्र अंकित हुए हैं! पारस्परिक विनोद के चटक रंग ने उन्हें और भी नयनाभिराम और आकर्षक बना दिया है। 'शकुंतला', 'पंचवटी' और 'साकेत' से लेकर 'पृथिवी पुत्र' की 'जयिनी' में भी हमें उसकी मनोहर झाँकी मिलती है और दिनकर की 'उर्वशी' के च्यवन सुकन्या के दांपत्य में उसकी दिव्य आभा विद्यमान है।

भारतीय दांपत्य प्रणय की आधार शिला सर्वस्व समर्पण है। उर्मिला अपने प्रणय को प्रिय पथ का विघ्न नहीं बनने देना चाहती है, तो राधा कहती है—'अपनी राह चले जाना तू, मुझे अलं सुधि सुधा हरे' पति की कीर्ति—अट्टालिका प्रणयिनी पत्नी के आत्म बलिदान की नींव पर निर्मित होती है। वह अपने दृगंबु से समष्टि के संताप का शमन करती है[2]। पातिव्रत की महिमा तो सदैव सर्वत्र गाई गई है किंतु रामायणीय संस्कृत का यह 'एक पत्नी व्रत' कितना स्पृहणीय और अभिनंदनीय है, जब विजन वन में वरमाला लेकर संमुख खड़ी सर्वांग सुंदरी शूर्पणखा से लक्ष्मण कहते हैं—

'पाप शांत हो, पाप शांत हो, कि मैं विवाहित हूँ बाले'

इंद्रजीत के संहार के लिए शर संधान करते समय लक्ष्मण अपने इसी एक पत्नी व्रत की दुहाई देते हैं[3]। एक दूसरे की प्राण रक्षा

---

१. जब ये केश श्वेत हो जाएँ और गाल मुरझाए हों।
बड़ी बात हो रसमय चुंबन से तब भी सत्कार करो।

२. विष्णुप्रिया, पृ० ८, ४७।

३. यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना आदि [साकेत]।

१९

के लिये आत्मबलिदान के प्रतिस्पर्धी 'बक संहार' के ब्राह्मण-दंपती की अन्य अलभ्य यशोगाथा तो अविस्मरणीय है।

(२) अपत्य स्नेह--नारी का नारीत्व ही मातृत्व से महिमामंडित और पूर्ण नहीं होता, पुरुष का अंतर भी अपत्य स्नेह के लिये आकुल रहता है। पुत्र आयु को दीर्घकाल के पश्चात् अकस्मात् पाकर पुरुरवा का वात्सल्य उद्दाम वेग से उच्छ्वसित होने लगता है--

पुत्र ! अरे ओ अमृत स्पर्श आनंद कंद नयनों के,
प्राणों के आलोक हाय, तुम अब तक कहाँ छिपे थे ?--उर्वशी, पृ०१३५

किंतु उसके वात्सल्य सूत्र को निर्ममता से तोड़ डालना स्पृहणीय नहीं बन पाया है। 'साकेत' में दशरथ का अनन्य पुत्र स्नेह यथाविधि प्रकट हुआ है। दिनकर की उर्वशी भी मातृत्व की महिमा से मंडित नहीं हो पाई है, उसके प्रमदात्व ने उसके मातृत्व को कुचल डाला है। 'रसवंती' की नारी में सद्यःप्रसूता के मातृत्व की बड़ी ही मनोहर व्यंजना उन्होंने की है।[1]

(३) आतिथ्य--भारतीय गृहस्थ को धर्मशास्त्र आदेश देते हैं--अतिथि देवो भव। अतिथि पूजन को गृहस्थ द्वारा संपन्न किए जानेवाले पंच महायज्ञों में 'नृयज्ञ' या 'मानव यज्ञ' की संज्ञा की गई है। 'बक संहार' में आतिथ्य का बड़ा ही भव्य दृश्य उपस्थित किया गया है। कुंती ने जब ब्राह्मण गृहस्थ के द्वार पर पुकारा--

'गृहनाथ हैं ? मैं अतिथि हूँ, सुत साथ हैं।'

तो--ब्राह्मणी चौंकी चली, कहकर मधुर वचनावली--
'आओ, अहा ! हम सब विशेष सनाथ हैं।

'अहा' शब्द द्वारा अतिथियों के स्वागत के लिये प्रस्तुत उस गृहस्थ रमणी का हार्दिक उल्लास जैसे छलका पड़ रहा है।

भारत की यह प्राचीन संस्कृति आज भी ग्रामों में जीवित है।

व्यष्टि और समष्टि

महाकवि दिनकर ने 'नील कुसुम' के 'हिमालय का संदेश' ध्वनिरूपक में व्यष्टि और समष्टि का समन्वय किया है।

---

१. अंचल के सुकुमार फूल को वह यों देख रही है।
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यों भरे नयन से......आदि।

व्यष्टि समष्टि विवाद व्यर्थ है झगड़ा मनमाना है,
है समष्टि ही हार, व्यष्टि तो मोती का दाना है।
जहाँ समष्टि स्वाधीन अधिक है, नाश वहाँ छाएगा,
अनुशासन के बिना व्यष्टि कुछ प्राप्त न कर पाएगा।
झुक समष्टि के संमुख जिस दिन व्यष्टि दान देती है,
तभी व्यक्ति के भीतर करुणा विनय जन्म लेती है।

'साकेत' में गुप्त जी का भी यहीं स्वर है 'हम बनें समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।' और 'पृथिवी पुत्र' में माता भूमि की अपने पुत्र [पृथिवी पुत्र] से यही अपेक्षा है[1]।

उठ, बढ़, ऊँचा चढ़, संग लिए सबको।
सबके लिये तू और तेरे लिये सब हों,
नाश में लगी जो बुद्धि विलसे विकास में।

और 'जय भारत' के महामानव युधिष्ठिर तो स्वर्ग और अपवर्ग को भी तिलांजलि देकर समष्टि कल्याण के लिये स्वयं को अशेष भाव से अर्पित कर देते हैं। यहाँ समष्टि कल्याण विश्व कल्याण का बोधक है।[2]

व्यष्टि परक : चार्वाक दर्शन, वणिग्वाद, वैज्ञानिक यांत्रिकता और मायावाद

चार्वाक दर्शन की शिक्षा है—उन्मुक्त भोगवाद और स्वकेंद्रित व्यक्तिवाद। चार्वाक परलोक को नहीं मानता, रागात्मक पारिवारिक संबंधों और लौकिक बंधनों को नहीं स्वीकारता। जो मानव की सुखप्राप्ति में, देहेंद्रिय परायणता में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, उन सब को वह नकार देता है।

वणिग्वाद भी समाज को शोषण का साधन मानता है। भाग्यवाद[3] का ढिंढोरा पीटकर और भगवान् की दुहाई देकर यह बहुसंख्यक जन समुदाय का

१. पृथिवी पुत्र, ६४
कामना नहीं हैं मुझे राज्य की या स्वर्ग की
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही—
२. सब सुख भोगें सब रोग से रहित हों,
सब शुभ पाएँ न हो दुःखी कहीं कोई भी—जयभारत, पृ० ४१०।
३. कुरुक्षेत्र, सर्ग ७। पृथिवीपुत्र, पृ० ४०, ४४।

शोषण भी करता जाता है और उसके सशस्त्र विद्रोह से बचने के लिये राजकीय शक्ति का शांति और व्यवस्था के नाम पर अथवा दाम के बल पर प्रश्रय भी पा लेता हैं। आज विश्व में रक्तरंजित वणिक् सभ्यता नंगी नाच रही हैं।[1] यह वैयक्तिक भोगवाद सभी अनर्थों की जड़ है।[2] 'द्वापर' के कंस में उसका मूर्त रूप देखने को मिलता है।

यांत्रिक सभ्यता ने मानव को हृदयहीन कर डाला है। मनुष्य ने स्वयं को धन कमाने की मशीन मान लिया है और इतर कार्मिक या श्रमजीवी भी उसकी दृष्टि में यंत्रमात्र या यों कहिए कि उनसे भी कम कीमती रह गए हैं।[3]

मायावादी जगत् को माया का प्रपंच मानकर औरों की चिंता नहीं करता। वह अपनी मुक्ति की साधना में ही लगा रहता है।[4] अतः वह भी व्यक्तिवादी ही है।

समष्टि परक : मार्क्स का भौतिकवादी दर्शन और भारतीय अध्यात्मवाद

(१) मार्क्स का भौतिकवादी दर्शन :— दलित और शोषित वर्ग की पीड़ा से आकुल महामानव मार्क्स के विशाल मानस से वैचारिक क्रांति की एक उद्दाम धारा फूटी, जिसने शोषण के दुर्भेद्य दुर्ग की प्राचीरें ढहा दीं और उसकी नींव को झकझोर डाला! उसने घोषणा की कि भूमि किसी की क्रीत दासी नहीं है, उस पर जन्म लेने वाले सब व्यक्ति समान हैं। प्राकृतिक संपदा पर सबका समान अधिकार है, भाग्यवाद बकवास है, वह शोषण का शस्त्र मात्र है, श्रम ही मनुष्य का भाग्य है। पूँजी को उसने लूट कहा, श्रम को धन का स्रोत माना।

दिनकर की 'कस्मै देवाय', 'विपथगा', 'हाहाकार' आदि कविताओं में तथा 'कुरुक्षेत्र' और 'दिल्ली' में एवं गुप्त जी की 'किसान' 'अनघ' और 'पृथिवी पुत्र' आदि कृतियों में मार्क्स के चिंतन का उन्मेष है।

भारतीय अध्यात्मवाद--भारतीय अध्यात्मवाद में व्यष्टि और समष्टि का समन्वय है। 'गीता' का 'निष्काम कर्मयोग' उसका आदर्श है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' उसका मार्ग है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इसे "भागवतीय मानवतावाद" कहते हैं।

---

१. 'हुंकार' [हाहाकार]
२. कुरुक्षेत्र सर्ग, ७।
३. 'किसान्'—पृ० ३६।
४. कुरुक्षेत्र, सर्ग ७।

भागवतीय मानवता की इस उच्चतम भूमि पर खड़ा मानव रंतिदेव की तरह समग्र विश्व के संताप को आत्मसात् करने के लिये कृत संकल्प है तो 'जयभारत' के युधिष्ठिर वेदना विकल समष्टि को छोड़कर स्वर्ग जाने के लिये भी तैयार नहीं हैं—

'हे दूत' सँभलकर बोले वे—'तुम जाओ, यहीं रहूँगा मैं,
इन आत्मीयों के साथ सदा, स्वर्गाधिक नरक सहूँगा मैं।—पृ ४५।

मानवता बोध—नव्य मानवतावाद ने मानवीय मूल्यांकन की एक नई कसौटी दी और चिरकाल से उपेक्षित, तिरस्कृत और लांछित पात्रों का पुनर्मूल्यांकन प्रारंभ हुआ जिसे भारतीय शब्दावली में 'असत् में सत् का संधान' कहा जा सकता है।

"मानवीय दुर्बलता के प्रति गहरी सहानुभूति और उदार दृष्टि" नव्य मानवतावाद की कसोटी है जिसमें हमारे 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' की उद्घोषणा करने वाले भागवतीय मानवतावाद का भी समावेश है जो मनुष्य की दुर्बलता के प्रति सहिष्णु, उदार और क्षमाशील है; और उन्नत, उत्थानशील अथवा पतित होकर भी उत्थान कामी मानव के अभिनंदन के लिये भी सदैव प्रस्तुत है।

(क) अंतर्ग्लानि और पश्चात्ताप— 'साकेत' की कैकेयी—अपनी गर्हणीय स्वार्थपरता के कारण अयोध्या के सुख स्वप्न को भंग कर देने वाली चिरलांछिता कैकेयी का अनुताप 'साकेत' की विभूति है। उसका मोहमुग्ध मातृत्व अंतर्ग्लानि और पश्चात्ताप के आँसुओं से गल गलकर बह गया है, धो-धोकर बहा दिया गया है।

'इतिहास के आँसू' का अशोक—अशोक का कलिंग युद्ध उसकी घृणित साम्राज्य लिप्सा का और उसमें किया गया भीषण नर संहार उसकी वीभत्स बर्बरता का परिचायक है। उसके युद्धोत्तर करुणा विगलित उद्‌गार उसके हृदय परिवर्तन के ही सूचक नहीं हैं, मानवता का जयघोष भी कर रहे हैं—

'जय की वासने उद्दाम, देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य के परिणाम। रुंड मुंडों के लुंठन में नृत्य करती मीच, देख ले भर आँख धरती पर रुधिर की कीच। रण का एक फल संहार, मातृमुख की वेदना, वैधव्य की चीत्कार[1]।"

और अशोक हीन बंध को तोड़कर देश काल की सीमा का अतिक्रमण करके त्रिभुवन के हो गए, विश्वमानव बन गए।

---

१. इतिहास के आँसू—मगधमहिमा, पद्मनाटिका, दृश्य ७।

(ख) युधिष्ठिर : युद्धोत्तर पश्चात्ताप

कुरुक्षेत्रकार ने 'महाभारत' के भीषण नर संहार से उत्पन्न युधिष्ठिर के हृद्गत पश्चात्ताप को बड़े ही मार्मिक शब्दों में प्रस्तुत किया है।[1]

—यही युद्धोत्तर करुणा विजेता को सत्ता मद और आततायी होने से बचा लेती है। यही मानवता की वह प्रकृत भूमि है जहाँ पहुँचकर करुणाशील मानव समष्टि हित के लिये सब कुछ समर्पित कर देता है।

युद्ध में कूदना युधिष्ठिर की अनिवार्य विवशता थी, उसके लिये तो जिमेवार था दुर्योधन अतः इस अंतर्ग्लानि और पश्चात्ताप ने उनके व्यक्तित्व को और भी महान् और भास्वर बना दिया है।

(ग) नहुष: ऊपर उठने का दृढ़ संकल्प

नहुष अपने दुर्धर्ष पुरुषार्थ से स्वर्ग को भी भुक्तोज्झित कर देता है किंतु उसकी सहजात मानवीय दुर्बलता—उद्दाम विषयैषणा उसके अधःपतन का कारण बनती है। किंतु वह गिरकर भी गिरना नहीं जानता, हारकर भी हार नहीं मानता और इसी लिये उसका पतन भी विगर्हणीय न बनकर अभिनंदनीय बन जाता है। कुरुक्षेत्रकार के शब्दों में—

जय हो अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की,—
हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी।

यही भारतीय कर्ममय मनीषा के मंथन से उद्भूत अमृत है—'चरैवेति, चरैवेति'—चलते रहो, चलते ही रहो, निरंतर लक्ष्य की ओर बढ़ते रहो।' क्योंकि—'कर्म ही है जीवन, विराम मृत्यु, मोह पतन।

(घ) कर्ण : वंशगत श्रेष्ठता को चुनौती

मानव की श्रेष्ठता का मापदंड उसका वंश नहीं, उसके मानवीय गुण और श्रेष्ठ कर्म हैं। जनता भी स्वभावतः गुणपूजक होती है। किंतु जब समाज में वैचारिक जड़ता आ जाती है अथवा एक वर्ग [तथाकथित उच्च वर्ग] समाज में अपना वर्चस्व स्थापित करके अपनी वंशगत श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटने लगता है, तो गुण और कर्म उपेक्षित हो जाते हैं, तब मानव के मूल्यांकन की कसौटी वंश या जाति बन जाती है।

जाति जाति रटते जिनकी पूँजी केवल पाखंड

---

१. देखें— कुरुक्षेत्र, द्वितीय सर्ग।

मैं क्या जानूँ जाति ? जाति हैं ये मेरे भुजदंड ![1]—और विगर्हणीय माना जाने वाला दुर्योधन भी उस महामानव का सही मूल्यांकन करके गुणग्राही और आदरास्पद बन जाता है।

दिनकर ने कर्ण के मृत्युकालीन पश्चात्ताप द्वारा द्रौपदी के चीरहरण-प्रसंग में दुर्योधन मौन समर्थन के कल्मष को प्रक्षालित करने का प्रयत्न किया है—

'वधूजन को नहीं रक्षण दिया क्यों ? समर्थन पाप का उस दिन किया क्यों ? न कोई योग्य निष्कृति पा रहा हूँ, लिए यह दाह मन में जा रहा हूँ।'

मानव में विद्यमान 'पुनीत अनल' और बल की दिनकर और गुप्त जी दोनों ने अभ्यर्थना की है।

हिंसा अहिंसा बनाम शूरत्व और संतत्व

अकारण किसी को सताना, अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये औरों का हक (स्वत्व) छीनना अथवा उनकी हत्या करना हिंसा है। कटु शब्दों द्वारा अथवा अपने दुर्व्यवहार से किसी के हृदय को चोट पहुँचाना भी हिंसा है। भारत में आर्थिक और शारीरिक ही नहीं. मानसिक हिंसा से भी बचने का आदेश दिया गया है। बौद्ध और जैन धर्मों की शिक्षा का सार है—अहिंसा। कौटिल्य ने भी अहिंसालक्षणो धर्मः' माना है। मूलतः भारतीय संस्कृति अहिंसापरक है। गुप्त जी के शब्दों में—

"हमारी असि न रुधिर रत हो, न कोई कहीं हताहत हो !—स्वदेश संगीत, पृ० ९४।

किंतु कोई आततायी किसी दीन दुर्बल को अकारण सता रहा हो, किसी अबला का शीलहरण करने के लिये संनद्ध हो अथवा हमारा स्वत्व छीन रहा हो, तब हमें क्या करना चाहिए ? गीता में भगवान् कहते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्—जो हमसे जैसा व्यवहार करे, हमें उनसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।"

दिनकर आततायी, उत्पीड़क और स्वत्वापहारी के विरुद्ध हिंसा का समर्थन करते हैं क्योंकि मनुष्यता वहाँ पर हार जाती है।[2]

छीनता हो स्वत्व कोई और तू, त्याग तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे बढ़ रहा तेरी तरफ़ जो हाथ हो।

शोषक या 'अन्यायी ही हिंसा के लिये उत्तरदायी है। गुप्त जी समाज में शांति और

---

१. रश्मिरथी, सर्ग।
२. कुरुक्षेत्र, सर्ग २

व्यवस्था (झंकार) के लिये शस्त्र (सैन्यबल टंकार) को अनिवार्य मानते है। दुष्टों के हृदय परिवर्तन पर उन्हें गाँधीवादी विश्वास नहीं। दिनकर विशुद्ध अहिंसा को व्यष्टिधर्म मानते हैं, समष्टि धर्म नहीं। अहिंसा शोषितों की क्रांति से डरे हुए शोषकों का भी मुखौटा है।

क्षमा—अपराधी को अपराध का समुचित दंड न देना और हृदय में भी उसके दुष्यकृत्य की कोई प्रतिक्रिया न होना 'क्षमा' है। 'क्षमा' शक्तिशाली का ही शस्त्र हो सकता है। दुर्बल व्यक्ति की क्षमा, क्षमा नहीं विवशता है, क्योंकि अपराधी के शक्तिशाली होने के कारण वह चाहते हुए भी उसका प्रतिकार करने का साहस कैसे कर सकता है ?

क्षमा का व्यावहारिक निदर्शन हमें मिलता है गुप्त जी के 'अनघ' में अथवा 'जय भारत' के अजात शत्रु युधिष्ठिर में। 'था जिन्हें द्वेष उनके प्रति भी उन सक्षम को कुछ द्रोह न था।'—पृ० ४४३।

दिनकर ने 'बापू' में राष्ट्रपिता को इसी रूप में देखा है—

सबने देखे विद्वेष गरल, तूने देखा अमृत प्रवाह—पृ० १०।

शूरता—आततायियों और उत्पीड़कों की हिंसा नहीं, प्रतिहिंसा है और प्रतिहिंसा को ही हम शूरता के नाम से पुकारते हैं।

"निसिचर हीन करौं महि, भुज उठाइ प्रन कीन्ह।"

यही शूरत्व और संतत्व का समन्वय है, दीनहीनों पर जिसके नेत्र शीतल करुणा जल बरसाते हैं तो आततायियों को कराल कोपानल से दग्ध कर डालते हैं। शूरत्व और संतत्व का मणि कांचन समन्वय दिनकर ने परशुराम के व्यक्तित्व में और गुप्त जी ने छठे सिक्ख गुरु हरगोविंद में देखा है। गुरु गोविंद सिंह तो संतत्व और शूरत्व के मूर्त विग्रह थे। दिनकर चीन के आक्रमण में गाँधीवाद की पराजय देख चुके थे अतः उन्होंने परशुराम को ही भारत का भाग्य पुरुष माना है। 'गीता', त्रिपिटक निकाय पढ़ना, तलवार गलाकर तकली गढ़ना तथा अजाधर्म का ग्लानिविहीन प्रवर्तन उन्हें सह्य नहीं! वे क्रांतिवादी जो ठहरे! उनका तो बस यही स्वर है—

"जो पुण्य पुण्य बक रहे, उन्हें बकने दो
वे पिएँ शीत, तुम आतप घाम पियो रे
वे जपें राम, तुम बनकर राम जियो रे।—परशुराम की प्रतीक्षा खंड—५।

शूरता शारीरिक शौर्य का ही नहीं, आत्मिक शक्ति का भी नाम है। वह शत्रुओं के दलन में ही नहीं, किसी उच्च आदर्श के लिये व्यक्ति के आत्म-बलिदान में भी प्रकट होती है—

शूरता नहीं मात्र अंगार,
शूरता नहीं मात्र रण में प्रकोप से धुँधुआती तलवार
शूरता स्वस्थ जाति का चिर अनिद्र जागृत स्वभाव
शूरत्व मृत्यु के वरण का निर्भीक भाव
शूरत्व त्याग, शूरत्व बुद्धि का प्रखर भाग
शूरत्व मनुज का द्विधा मुक्त चिंतन है ।—परशुराम की प्रतीक्षा ।

इसी आत्म बलिदानपरक शूरता का मनोहर उन्मेष 'गुरुकुल' के गुरु हरगोविंद एवं गुरु गोविंद सिंह के पुत्रों के द्वारा मृत्यु के निर्भय वरण में हुआ है ।

मूलतः मानव समाज शांति कामी है और शांति का मूल है—अहिंसा । हमारे दोनों कवि अशोकत्व के पुजारी हैं, अहिंसा उनका अंतिम ध्येय है । वे तन के जेता का नहीं, हृदय जेता का अभिनंदन करते हैं ।

दोनों कवियों ने मानवीय समस्याओं के सार्वकालिक और वर्तमान स्वरूपों को सभी कोणों से देखा, परखा और विश्लेषित किया है एवं अपने युगानुरूप स्वस्थ और गंभीर चिंतन द्वारा उनका सांस्कृतिक समाधान भी प्रस्तुत किया है । उनकी सांस्कृतिक दृष्टि आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है । व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व सभी उसकी परिधि में आ जाते हैं ।

इनके काव्य में प्राचीन भारतीय संस्कृति का अवांछनीय मोह या पिष्टपेषण नहीं है. अपितु उसे युगानुरूप स्वरूप देकर स्वीकारा गया है इन्होंने भारतीय संस्कृति को अखंड रूप में स्वीकारा है, आर्य समाजियों की तरह खंड रूप में नहीं और उसमें पाश्चात्य संस्कृति के बहुमूल्य तथ्यों को भी समाहित किया है । तथापि गुप्त जी के काव्यों में भारतीय संस्कृति की भव्यता और दिव्यता का जितना व्यापक आख्यान हुआ है, जिस परिमाण में उसके सर्वांगपूर्ण विराट् चित्र अंकित हुए हैं, वह सब दिनकर के काव्य में नहीं । मूलतः मुक्तककार होने के कारण दिनकर को उसके लिये उतना अवसर नहीं मिल पाया है ।



भारतेंदु युगीन राजनीतिक चेतना और मैथिलीशरण गुप्त

डा० ओमप्रकाश सिंह

भारतेंदु युगीन राजनीतिक चेतना से मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य का संबंध बहुत ही गहरा और प्रगाढ़ है। बहुत सी समस्याएँ दोनों ही जगहों पर एक ही रूप से विद्यमान दिखलाई देती हैं। भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य में लगभग २५ (पच्चीस) वर्षों का अंतराल है, किंतु राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिवर्तन की दृष्टि से किन्हीं भी रूपों में कोई बड़ा परिवर्तन इन २५ (पच्चीस) वर्षों में कहीं भी नहीं दिखलाई देता। कहने को तो इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि इस बीच भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, लेकिन कांग्रेस इस अवधि में अंगरेजी सरकार के समक्ष याचना भरी दरख्वास्तें और अपीलें भेजने के अतिरिक्त और कुछ सोचने लायक भी नहीं हुई थी। कांग्रेस को लोकवादी स्वरूप देने वाले महात्मा गांधी का प्रवेश भारतीय राजनीति में प्रभावकारी रूपों में अभी नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में विदेशी साम्राज्यवाद और स्वदेश के संबंधों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन न हो सका था। समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई थीं। अतः भारतेंदु युग के साहित्यकार सामाजिक बदलाव के संदर्भ में जिन उत्तरदायित्वों का अनुभव कर रहे थे, बहुत कुछ वही मैथिलीशरण गुप्त को भी विरासत के रूप में प्राप्त हुआ।

अर्थ तंत्र, भाषा, शिक्षा पद्धति, सामाजिक प्रगति आदि के संदर्भों में भारतेंदु युगीन साहित्यकारों ने संघर्ष का जो पथ प्रशस्त किया था उसके विकास की शर्त यह थी कि अंगरेजी राज की पेचीदगियों को भली भाँति खोलकर जनता के सामने रखा जाय। भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने अंगरेजी राज को भारत के विकास के लिये हर तरह से बाधक बतलाया था। राजभक्ति की ढाल की आड़ में खड़े होकर निर्भीक योद्धा भारतेंदु हरिश्चंद्र ने देशभक्ति की तलवार से अंगरेजी साम्राज्यवाद की जड़पर गहरे और करारे प्रहार किए थे। वही लिख सकते थे कि—

अंगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥

यहाँ साधारण पाठक को भी यह समझने में कठिनाई न होगी कि कवि का उद्देश्य अंगरेजी राज की नियामतों का बखान नहीं बल्कि देश की दरिद्रता के कारणों का उद्घाटन करना है। मुकरी की व्यंग्य विनोद कला के पार्श्व में खड़े

होकर कुशल कलाकार भारतेंदु ने परम सभ्य अंगरेजों की मनोवृत्ति और स्वभाव निरूपण इन शब्दों में किया था—

भीतर भीतर सब रस चूसैं, हँसि हँसि के तन मन धन मूसैं।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन? नहिं अंगरेज।।

भारतेंदु के व्यंग्य बाणों के प्रहार से सूदखोर, मुनाफाखोर लाला, महाजन, कानून का गला रेतनेवाली पुलिस, चाटुकारिता जीवी पत्रकार और संपादक कोई भी बचकर निकल न सका।

चूरन खाते लाला लोग, जिनके अकिल अजीरन रोग।
चूरन खावे एडीटर जात, जिनके पेट पचे नहिं बात।
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर।।

आज देश में अंगरेजी का समर्थन करने वालों का एक शक्तिशाली संगठित वर्ग है। हिंदी विरोध और अंगरेजी के समर्थन के नाम पर कई बार दंगे भी हो चुके हैं। भारत में प्रतिक्रियावाद की मजबूती का अंदाज भाषा के मैदान में आसानी से लगाया जा सकता है। भारतेंदु के समय में भी इस वर्ग की शक्ति न्यून और सीमा संकुचित नहीं थी, लेकिन उन्होंने विरोधियों को ललकारते हुए कहा था—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को सूल।।

ऊपर प्रथमतः उद्धृत पंक्तियों में हम देखते हैं कि भारतेंदु ने देश के धन के विदेश गमन को सबसे बड़ी हानि बताया है। भारतीय इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये यह सुविदित तथ्य है कि साम्राज्यवाद ने यहाँ के उद्योग धंधों के विकास को रोककर, यहाँ से विदेश जाने वाले माल पर भारी चुंगी लगाकर, इंगलैंड से आने वाले माल को कर मुक्तकर इस देश को पिछड़ा हुआ खेतिहर देश बनाकर रखा। उनका उद्देश्य केवल इसे कच्चे माल का गोदाम बनाए रखना था। भारतेंदु के स्वर में स्वर मिलाते हुए मैथिलीशरण गुप्त ने इस तथ्य की ओर 'भारत भारती' के माध्यम से जनता का ध्यान आकृष्ट किया—

जो देश कच्चा माल ही उत्पन्न करके शांत है,
उसका पतन एकांत है, सिद्धांत यह निर्भ्रांत है।[1]

× × × ×

जिस भाँति भारतवर्ष का व्यापार नष्ट किया गया,
कर से तथा प्रतिरोध से जिस भाँति भ्रष्ट किया गया।

---

१. भारत भारती, पृ० १०४ : संस्करण २६ वाँ।

वर्णन वृथा है उस विषय का सोचना है अब यही—
किस भाँति उसकी वृद्धि हो, जैसी कि पहले थी रही[1] ।।

भारतेंदु के 'रोवहु सब मिलि कै, आवहु भारत भाई' का संवादी स्वर भी मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में सुना जा सकता है—

केवल विदेशी वस्तु ही क्यों, अब स्वदेशी है कहाँ,
वह वेश भूषा और भाषा सब विदेशी है यहाँ ।
जो वस्तु देखें मेड इन इंगलैंड इटली जर्मनी,
जापान फ्रांस अमेरिका वा अन्य देशों की बनी ।
होकर सजीव मनुष्य हम निर्जीव से हैं हो रहे,
घर में लगाकर आग अपने वेखबर हैं सो रहे[2] ।।

देश का व्यापार चौपट होने और विदेशी वस्तुओं पर निर्भर रहने के परिणामों के विषय में गुप्त जी कहते हैं—

आती विदेशों से यहाँ सब वस्तुएँ व्यवहार की,
धन धान्य जाता है यहाँ से यह दशा व्यापार की ।
कैसे न फैले दीनता कैसे न हम भूखों मरें,
ऐसी दशा में देश की भगवान ही रक्षा करें[3] ।।

कहना न होगा कि साम्राज्यवाद अर्थात् विदेशी पूँजि के दबाव में पिछले दशकों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है. अतः उससे संघर्ष की आवश्यकता भी स्वयमेव बढ़ गई है। इस संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त का साहित्य हमारे लिये विविध रूपों में आज भी प्रासंगिक बना हुआ है।

लार्ड मैकाले ने साम्राज्यवाद के लिये व्यापक स्तर पर कर्मचारी वर्ग मुहैया कराने के उद्देश्य से देश दशा से उदासीन शिक्षितों और बुद्धिजीवियों के निर्माण के लिये जिस शिक्षा नीति की व्यवस्था की थी उसपर निर्भीक कशाघात करते हुए तरुण कवि मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था—

वह सांप्रदायिक शिक्षा हमारे सर्वथा प्रतिकूल है,
हममें हमारे देश के प्रति द्वेष मति की भूल है।
हममें विदेशी भाव भर के वह भुलाती है हमें,
सब स्वास्थ का संहार करके वह रुलाती है हमें[4] ।

---

१. भारती भारती, पृ० ११०
२. वही, पृ० १०३
३. वही, पृ० १०४
४. वही, पृ० ११८

उनकी स्पष्ट घोषणा है कि—'है व्यर्थ वह शिक्षा कि जिससे देश की उन्नति न हो'।

भारतेंदु युग के साहित्यकारों ने प्रहसनों, हास्य निबंधों और कविता की विभिन्न भंगिमाओं द्वारा धार्मिक सामाजिक पाखंड का जो पर्दाफाश किया था उसकी अगली कड़ी हमें मैथिलीशरण गुप्त की सहज, सीधी यथातथ्य अंकन वाली शैली में दिखलाई देती है—

> धर्मोपदेश सभा भवन की भित्ति में टकरा रहा,
> आडंबरों को देखकर आकाश भी चकरा रहा।[1]
>
> × × ×
>
> वे तीर्थ पंडे हैं जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया,
> है निंद्य कर्म न एक ऐसा हो न जो उनका किया।
> वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य हैं,
> लड़ना झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य हैं।[2]
> भूखों मरे कि जटा रखकर साधु कहलाने लगे,
> चिमटा लिया, भस्मी रमाई माँगने खाने लगे।[3]

आश्चर्य की बात नहीं है कि हिंदी के वरिष्ठ समीक्षकों एवं लेखकों ने मैथिलीशरण गुप्त के महत्त्व की एक स्वर से घोषणा की थी। अगर आश्चर्य है तो इस बात का है कि प्रगतिशील कहे जानेवाले समीक्षकों साहित्यकारों को वह 'साम्राज्यवाद के पृष्ठ पोषक', प्रतिक्रियावादी और 'विक्टोरियायुगीन रूढ़िवादी' नजर आए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वांछित रूपों में मैथिलीशरण गुप्त का संबंध भारतेंदु युग से जोड़ते हुए लिखा था कि 'भारतेंदु के समय में स्वदेश प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास भारत भारती में मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है।[4] माखन लाल चतुर्वेदी ने 'भारत-भारती, का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—'जिस समय भारत-भारती निकली उस समय तो लगा जैसे राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा में तूफान आ गया।[5] आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, भारत-भारती ने उस

---

१. भारत भारती, पृ० १२५
२. वही, पृ० १२७
३. वही, पृ० १२९।
४. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१८, सं० २०३ चवा।
५. मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ४, कलकत्ता सं० १९५९।

समय विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी।......भारत भारती सही अर्थों में भारत भारती हो सकती थी।[1]

किंतु शिवदान सिंह चौहान और शमशेर बहादुर सिंह जैसे प्रगतिशील विचारकों का मत है कि मैथिलीशरण गुप्त अपने समय में ही काफी पीछे छूट गए थे। मार्च १९३७ ई० के 'विशाल भारत' में शिवदान सिंह चौहान का लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने यह मत स्थिर किया था कि भारत भारती "न साम्राज्यवाद विरोधी है और न दलित श्रेणी की भावनाओं की रक्षक। वह अगर कुछ है तो साम्राज्यवाद की पृष्ठपोषक और ब्रिटिश साम्राज्यशाही की चाटुकार। श्री शमशेर बहादुर सिंह ने 'मुसद्दस और भारत भारती की सांस्कृतिक भूमिका' नाम के लेख में लिखा था कि, 'भारत भारती का कवि ब्रिटिश शासन संबंधी धारणाओं को नहीं छोड़ सका था और दूसरी ओर उसका चतुर्वर्ण व्यवस्था के प्रति रुढ़िवादी मोह था, जबकि भारत भारती का युग इन प्रवृत्तियों को पीछे छोड़ता जा रहा था।[2] और भी—'वह (मैथिलीशरण गुप्त) अपने समय की प्रगति से कुछ पीछे पड़ गए से जान पड़ते हैं।[3]

ऊपर उद्धृत पंक्तियों को पढ़कर पाठक ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति मैथिलीशरण गुप्त की धारणाओं का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसी संदर्भ में वे भारत के राजनीतिक क्षितिज पर दृष्टिपात करके मैथिलीशरण गुप्त के युग की स्थिति का अवलोकन भी कर सकते हैं और युगीन संदर्भों में उनकी प्रगति या अगति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। विचार करने की बात यह है कि सन् १९११ ई० में जब भारत भारती की पंक्तियाँ लिखी जा रही थीं तब यहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में कौन से ऐसे सिद्धांतों से संचालित कोई सशक्त राजनितिक आंदोलन चलाया जा रहा था, जिसका साथ मैथिलीशरण गुप्त नहीं दे पाए? अंगरेजी राज के शोषणतंत्र की पेचीदगी का जो खुला पर्दाफाश मैथिलीशरण गुप्त ने किया है, क्या कोई तत्कालीन राजनीतिक आंदोलन उससे आगे की मंजिल में था? महात्मा गांधी का स्वदेशी आंदोलन क्या तब तक प्रारंभ हो सका था? 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' के उद्घोषक तिलक का आंदोलन कुचलकर उन्हें जेल में नहीं डाला जा चुका था? और क्या वे भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही की आलोचना में 'भारत भारती' से बढ़कर कुछ कह सके थे?

शिवदान सिंह और शमशेर बहादुर सिंह जैसे समीक्षकों के असंतुलन का

---

१. हिंदी साहित्य उद्भव और विकास, पृ० २५४, सं० १९५२।
२. दोआब, पृ० २२, सं० १९४८ ई० काशी।
३. वही, पृ० २१।

कारण केवल तथ्यों की अनदेखी करना ही नहीं है, अपितु साहित्य की एक विशेष दोषपूर्ण पद्धति का एकांगी अभ्यास भी है। किसी कृति की संपूर्ण अंतर्यात्रा न करके मात्र ऊपर ऊपर मँडराते हुए कुछ पंक्तियों को कवि की दृष्टि का पर्याय मान लेने की प्रवृत्ति प्रायः ऐसे तथ्यहीन, असंतुलित वक्तव्य की ओर समीक्षक को खींच ले जाती है। शमशेर बहादुर सिंह ने 'भारत भारती' की निम्न पंक्तियाँ पढ़ीं—

'देते हुए भी कर्मफल हम पर हुई उसकी दया,
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया।'

और उन्होंने यह घोषित कर दिया कि मैथिलीशरल गुप्त अपने युग की चेतना से पिछड़े रहकर अंगरेजों का गुणगान कर रहे हैं। अंगरेजी अर्थतंत्र की बुनावट और बनावट पर गुप्त जी द्वारा की गई अनवरत चोटों की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। वह राजभक्ति की आड़ में देशभक्ति का उद्घोष करनेवाली भारतेंदु युगीन कला का विकास पथ भी न पहचान सके। अतः उन्हें उलझाव का शिकार होना पड़ा। इसी उलझाव के कारण 'मुसद्दस' और 'भारत भारती' का संबंध इस्लामी और हिंदू संस्कृतियों से जोड़ने को विवश थे। लेकिन हिंदी के अन्य वरिष्ठ समीक्षकों ने ऐसे अतिवादों और उलझावों से बचते हुए मैथिलीशरण गुप्त का भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के संबंध में जो महत्व और मूल्य प्रतिपादित किया है, वह सर्वथा निर्भ्रांत और संतुलित है।

इस प्रकार संक्षेप में भारतेंदु युगीन साहित्य की राजनीतिक चेतना से मैथिलीशरण गुप्त के संबंधों की पहचान करते हुए हमने देखा कि दोनों की चिंतना और दृष्टिकोण में परस्पर विकासशील साम्य की मात्रा ही अधिक है। साम्राज्यवाद, रूढ़ि पाखंड आदि के संबंध में दोनों की लेखन दशा एक है। देश की निर्धनता, अशिक्षा आदि के लिये दोनों ही जगहों पर साम्राज्यवाद और उसके भयावह शोषणकारी रूप को जिमेदार ठहराया गया है। जातीय संमान की दृष्टि से प्राचीन गौरवबोध भी उभय पक्षों में विद्यमान है। राजभक्ति की आड़ में देशभक्ति का उद्घोष और गायन दोनों का ही व्यावर्तक गुण है।

इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त भारतेंदु युगीन साहित्यकारों से अत्यंत सूक्ष्म स्तरों पर विशदतर रूपों में संवद्ध हैं। उनके साहित्य में व्याप्त राजनीतिक चेतना भारतेंदु युगीन राजनीतिक चेतना की ही विकसित अनुगूँज है।



हिंदी के राम काव्य और 'साकेत'

डा० सुधाकरमणि त्रिपाठी

हिंदी काव्य परंपरा में रामकथा का अपना विशिष्ट पक्ष है। यह पक्ष लोक-तात्विक दृष्टि से इतना समृद्ध और सशक्त है कि यदि यह कहा जाय कि हिंदी काव्य की मूल पूँजी रामकथा है तो कुछ सीमाओं के बावजूद यह सत्य होगा। क्योंकि हिंदी भाषा का साहित्यिक गौरव रामकथा के कारण ही है। तुलसी पूर्व हिंदी भाषा की जो स्थिति थी कदाचित् अभी कितने वर्षों तक वह बनी रहती यदि उसे 'रामचरित मानस' की प्राप्ति नहीं हो गई होती कहना कठिन है। ठीक उसी प्रकार खड़ी बोली के विकास में 'साकेत' की स्थिति है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की हिंदी यज्ञशाला में सिद्धिदेव का अवतरण 'साकेत' के रूप में ही हुआ। राम काव्य अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर प्रकट होते हैं। तुलसी बाबा का 'मानस' संपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं से संघर्ष करता 'भली भारत भूमि' को तो संगठित किया ही, भाषा आंदोलन के साथ ही साथ उसने विश्व मानस को आत्म निर्वासन से आत्ममुक्ति का आलोक भी दिया—'स्वान्तस्तमः शान्तये' 'साकेत' ने भी इसी तरह अपनी ऐतिहासिक पहचान बनाई। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हिंदी आंदोलन, स्वामी विवेकानंद के भारतीय पुनर्जागरण और बालगंगाधर तिलक के 'स्वराज्य और स्वतंत्रता के जन्म सिद्ध अधिकार' की घोषणा का शंखनाद बनकर अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व लिए उदित हुआ। इस काव्य की सर्वाधिक कृति है—हिंदी भाषा का प्रचार और नारी पुनर्जागरण को दिशा प्रदान। भारतेंदु के अस्त होने के बाद किसी सशक्त कवि नेतृत्व की आवश्यकता थी और यह कार्य साकेतकार ने सफलता पूर्वक किया।

संपूर्ण रामकाव्य परंपरा में एक रासायनिक संरचना का सा रूप दिखाई पड़ता है। एक कृति संरचना केंद्र होती है और कई कृतियाँ उसकी संरचना इकाइयाँ बनकर उसे घेरे रहती हैं। हिंदी में भी यह प्रकृति स्पष्टतः दिखाई देती है। जैसे 'रामचरित मानस' एक संरचना केंद्र है। और इसकी कई संरचना इकाइयाँ हैं—'कुंडलियाँ रामायण और 'ध्यान मंजरी' (अग्रदास), रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान), हनुमान नाटक (हृदय राम), अवध विलास (लालदास), रामचंद्रिका (केशव)। दूसरा केंद्र रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह का 'रामस्वयंवर' और 'आनंद रघुनंदन' है, इसकी भी कई संरचना इकाईयाँ हैं—कवितावली रामायण (रामचरण दास), रामचरित रसमालिका और मधुरोपासन रचनाएँ। तीसरा केंद्र—'साकेत' है,

और इसकी रचना इकाइयाँ हैं—'रामचरित चिंतामणि (रामचरित उपाध्याय), श्रीराम चंद्रोदय (रमानाथ ज्योतिषी), वैदेही वनवास (हरिऔध), साकेत संत (बलदेवप्रसाद मिश्र), उर्मिला (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'), कैकेयी (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ।

चौथा केंद्र—'राम की शक्तिपूजा' (निराला) का है, लेकिन अभी इसकी संरचना इकाइयाँ निर्माणाधीन हैं—'संशय की एक रात' (श्री नरेश मेहता), और नरेंद्र कोहली के कई खंडों में विभक्त रामकथा पर आधारित उपन्यास ।

इन संरचना केंद्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रामकथा के भीतर एक नई कथा जन्म लेती है जो अपने भीतर समस्त युगीन चेतना को लेकर आलोड़ित होती रहती है । शेष संरचना इकाइयाँ उसे सुरक्षा कवच प्रदान करती हैं । यहाँ हम केवल 'साकेत' की चर्चा करेंगे ।

रामकथा की परंपरा में 'साकेत' की अपनी पहचान है । यह आद्योपांत राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत है । यह काव्य अपने पूर्ववर्ती कृतियों से इस अर्थ में मिला है कि अपनी युगीन चेतना—परतंत्रता से मुक्ति की कामना—को अपनी मूल चेतना बनाकर चलने के साथ ही साथ अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों द्वारा उपेक्षित पात्रों, स्थलों और कथासूत्रों को ही अपना आधार बनाया । जैसे उर्मिला से संबद्ध समस्त दृश्यविधान कवि की अपनी उद्भावनाएँ हैं, चित्रकूट में कैकेयी डिफेंस का रूप कवि की सूझ है :—

'पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई ।'

इसके साथ ही कथाक्रम के विकास में सर्वाधिक मौलिकता दिखाई पड़ती है । कवि ने अपने काव्य के नामकरण की सार्थकता के लिये संभवतः यह पद्धति अपनाई है । कवि आरंभ में लक्ष्मण उर्मिला को एक साथ दिखाकर लक्ष्मण के वनगमन के बाद अयोध्या में ही रहता है । क्योंकि उसकी नायिका उर्मिला देवी वहीं हैं । लेकिन राम की यात्रालीला गायन के विना उर्मिला का चरित्र अधूरा न रह जाय संभवतः इसी लिये रामायण की शेषकथा के गायन का आयोजन अयोध्या में ही होता है । बालकांड की कथा स्वयं उर्मिला कहती हैं, आरण्य की कथा शत्रुघ्न तथा किष्किधा और लंका की कथा हनुमान कहते हैं । युद्धकांड की कथा के दृश्य गुरुवर वसिष्ठ योगबल से साकेतवासियों को दिखा देते हैं । यह सब कुछ साकेत में रामकथा के बीच उर्मिला के जीने का उपक्रम है । एक सशक्त विशेषता इस काव्य के कथानक की यह है कि हनुमान जी से लक्ष्मण के घायल होने का समाचार सुनकर समस्त अयोध्यावासी युद्ध

में चलने की तैयारी में लग जाते हैं। हनुमान जी को संजीवनी बूटी भरत से ही अयोध्या में प्राप्त हो जाती है। साकेतवासियों के रणनद्ध होने की उमंग को लेकर कुछ आलोचकों को यह भ्रम हुआ है कि 'यह कवि की भावुकता नहीं', यही कवि की कथाशिल्प की मौलिकता है। उसका उच्छल राष्ट्रप्रेम उमड़ पड़ा है। गुप्त जी की दूसरी मौलिक उद्‌भावना लंका के युद्ध प्रसंग में है। लक्ष्मण के आहत होने पर राम चिल्लाते नहीं, रोते नहीं बल्कि उनका पौरुष दुर्दम हुँकार के साथ रणक्षेत्र में पहुँच जाता है और कुंभकर्ण का संहार कर देता है। उसके बाद जब वे रावण की ओर बढ़ते हैं तो देखते क्या हैं कि बंधुवध को देख रावण मूर्च्छित हो गया है। यहाँ वे रावण की इस विशेषता को देख उसके समक्ष श्रद्धा से अवनत हो जाते हैं। साकेत की चौथी महत्वपूर्ण संरचनात्मक विशेषता है--चरित्रों का मनोवैज्ञानिक निर्माण। कथाक्रम में अधिक से अधिक स्वाभाविकता के लिये कवि ने उर्मिला और कैकेयी को अधिक कोमलता और संवेदनाओं से जोड़ा है।

मेरी दृष्टि में 'साकेत' की मूल चेतना राष्ट्रभक्ति है, जिसकी स्थापना रामभक्ति के माध्यम से करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ कवि ने सीधे तुलसी बाबा से प्रेरणा ली है। तुलसी की रामकथा का भी उद्देश्य यही है :—

'भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै,
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम मारूत घाम सदा सहि कै,
जो भजै भगवान सयान सोई, तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै,
न तु और सबै विष बीज बये हर हाटक काम गुहा नहि कै।'
(कवि० उत्त० ३३)

गुप्त जी को एक ऐसे राम की आवश्यकता थी जो युगीन बौद्धिक चेतना का संवहन कर सके। इसी के अनुरूप उन्होंने अपने राम को अधिक से अधिक समाजशास्त्रीय और नव्य अध्यात्मवादी के रूप में रखने का प्रयत्न किया। उनके राम पर सामंतशाह होने का आरोप न लगे इसलिये उन्हें साधारण जन कहलाना अधिक उचित लगा। चित्रकूट में गुप्त जी के राम कोल किरातों के बंधु बन जाते हैं। सीता तकली और चर्खा कातती हैं, भीलों की स्त्रियों को शिक्षित करती हैं। यह सब तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन के पक्ष थे। उनके राम अपने जीवन का आदर्श घोषित करते हैं--

'संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।'

और इसी उद्देश्य के प्रजातंत्रात्मक प्रशासक की नियुक्ति भी चाहते हैं '
'विगत हों नरपति, रहें नर मात्र।'

यह शुद्ध लोकतंत्र की ध्वनि है जिसके लिये गुप्त जी की पीढ़ी संघर्ष कर रही थी—

'निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किंतु शासन को।'

यहाँ कवि प्राचीन भारतीय प्रशासन के मूल्यों की पुनः स्थापना करना चाहता है तथा नवीन जीवन मूल्यों को ग्रहण भी करता है। 'साकेत' के राम समाजशास्त्रीय अधिक हैं—आध्यात्मिक या पुरुषोत्तम कम। जीवन संघर्ष का ही नाम है। इसी लिये वे एक व्यावहारिक जीवन दर्शन स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं—

'व्यथा रहे पर साथ-साथ ही
समाधान भरपूर.......।'

वस्तुतः 'साकेत' रामकाव्य परंपरा में कोई धार्मिक या आध्यात्मिक नवीनता लेकर नहीं प्रकट हुआ है या तुलसीदास की तरह सांस्कृतिक क्रांति का शंखनाद करने नहीं चला है। वरन् यह एक सामयिक बौद्धिक काव्य है। २० वीं शताब्दी की बौद्धिक चेतना ने धर्म और दर्शन के घेरे में अवतारवादी प्रभु कथाओं को ठोस युगीन परिवेश में देखने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने में कवि ने एक बहुत बड़ा खतरा भी मोल ले लिया है। इसी लिये उसके राम धार्मिक या आध्यात्मिक सीमा की विश्वसनीयता तक नहीं पहुँच पाए। इस काव्य की सीमा है दार्शनिक सिद्धांतों को सामयिक भौतिक सीमा में व्याख्यायित करने का प्रयत्न। कवि यथासंभव इस कार्य में प्रयत्नशील रहा है। लेकिन कवि कर्म में वह चूक गया है, हाँ समाजशास्त्री अवश्य रह गया है। साकेत में राम का स्वरूप हृदय को नहीं छूता, बुद्धि की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ अवश्य साकेत के सिंहासन पर चढ़ जाता है। यही कारण है कि राम अनुभूत पात्र होने के बजाय बौद्धिक इतिहास पुरुष हो गए हैं। हाँ, बौद्धिक सीमा में भी वे उतने विश्वसनीय नहीं लगते जितने आधुनिक जीवन की चुनौतियों के बीच 'निराला' के राम या नरेश मेहता के राम अधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय बनकर सामने आते हैं और अपने पौराणिक कवच को फेंककर भी वे अपने संघर्षशील सांस्कृतिक व्यक्तित्व से पाठक को मोह लेते हैं। उनमें परिवेश को पकड़ने की अपूर्व आभा है। लेकिन गुप्त जी के राम के व्यक्तित्व पर नीरस बौद्धिक चिंदियाँ अधिक चिपक गई हैं। इसी लिये वे न तो पूर्णरूप से पौराणिक वीर चरित्र ही बन पाए हैं और न तुलसी बाबा के राम की तरह शुद्ध मनोवैज्ञानिक भक्तवत्सल ही। वे राजनीतिक और समाजशास्त्रीय छवि बनाने के प्रयत्न में एक अति सामान्य ऐतिहासिक पात्र बन गए हैं। यही कारण है कि गुप्त जी के राम हृदय को उतना नहीं छूते जितना बुद्धि को छूते हैं। उनके संवादों में या तो दार्शनिक रूक्षता है या आधुनिक बौद्धिक समाजशास्त्रीय

आदर्श। लेकिन शुद्ध बौद्धिक भी वे नहीं बन पाए। यद्यपि कवि ने राम को व्यापक पौराणिक चरित्र बनाने का प्रयत्न भरपूर किया है—

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे
वे, भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।
पर, जो मेरा गुण कर्म, स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार, पार उतरेंगे।

साकेत पृ० २३५।

लेकिन इतने के बावजूद तुलसी बाबा की एक व्यक्ति के बराबर भी इस लंबे भाषण में विश्वसनीयता नहीं आ पाई :—

'नामलेत भवसिंधु सुखाहीं।
करहु विचार सुजन मन माहीं।

यहाँ जितनी आस्था और विश्वास की स्थिति पैदा होती है, उतनी 'साकेत' की उपर्युक्त पक्तियाँ नहीं कर पातीं। अतः हम 'साकेत' को न तो दार्शनिक आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक श्रेणी का ही काव्य मान सकते हैं और न शुद्ध बौद्धिकतावादी काव्य 'राम की शक्तिपूजा' या 'संशय की एक रात' की भाँति। वरन् यह आधुनिक समाज को समुन्नत बनाने के कुछ नैतिक मूल्यों को पौराणिक मंच से उद्घोषित करनेवाला काव्य है, फलतः 'साकेत' जहाँ एक ओर चिंतन और अनुभूतिपरकता की दृष्टि से कमजोर काव्य है, वही काव्य-कौशल की दृष्टि से भी लचर और नीरस। इतना सब कुछ होने के बावजूद 'साकेत' का अपना ऐतिहासिक महत्व है। इसने हिंदी भाषा के प्रचार में विशेष योगदान किया है। इसकी प्रसिद्धि का कारण इसकी भाषा की सहजता और कथा की ऋजुता है। इसका जीवन नवम सर्ग है। इस में कुछ हृदय-स्पर्शीय गीतों की मधुधारा सहज ही मन को आकर्षित कर लेती है। इस प्रकार साकेत की अपनी सीमा है, जिसमें इसकी अपनी निजी छवि है।



राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त : एक सिंहावलोकन

महेश पाठक 'प्रमोद'

हिंदी खड़ी बोली अभिव्यक्ति के गद्यात्मक स्वरूप को लेकर एक बहुत बड़े भूभाग के बीच फ़ैले जन सामान्य के कंठ कलम से उतरी, आगे बढ़ी और अंत में उन सभी भाषाओं की शाखा प्रशाखाओं को समेटती भारत के अन्यान्य प्रदेशों के निवासियों का मन मोहती स्थायित्व ग्रहण करने लगी। अब तक खड़ी बोली अपनी खड़खड़ाहटपूर्ण ध्वनि में कोमलता मधुरता समाहित कर चुकी थी। खड़ी बोली की खड़खड़ाहट की उलाहना भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के मानस में रही है। उनके मंडल के अधिकांश कवियों को उसकी खड़खड़ाहट उन्हीं की भाँति सालती थी। इसी से उसके पद्यात्मक स्वरूप की परिकल्पना तक उस समय नहीं की जा सकती थी। खड़ी बोली में अभिव्यक्ति के गद्यात्मक स्वरूप का अवतरण भारतेंदु बाबू के भी बहुत पहले हो चुका था। आज के लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' नाम का गद्य ग्रंथ बहुत साफ सुथरी खड़ी बोली में लिखा। × × × अब तक पाई गई पुस्तकों में यह 'योग वाशिष्ठ' ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है। इस क्रम में शुक्ल जी ने इस पुस्तक से जो उद्धरण दिए हैं उनमें से कुछ देखिए—

'अगस्त जी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया ··· ··· ··· ··· मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं।'

'मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्व पाया है वह जैसे स्थित हो वैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्व को देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म मरण के बंधन में न आवोगे।'[1]

खड़ी बोली के संबंध में प्रसिद्ध हिंदी वैयाकरण पं० किशोरीदास वाजपेयी का मत है—

"कुरु जनपद (उत्तर प्रदेश के मेरठ डिवीजन) की बोली को 'खड़ी बोली'

१–हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल। सं० १९, पृ० २८१।

नाम भाषाशास्त्रियों ने नहीं, साधारण साहित्यिकों ने दिया। प्रारंभ में तो खड़ी बोली नाम इसलिए पड़ा कि इस में कवियों को मधुरता न जान पड़ी। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी इसमें खड़ाखड़ाहट पाई! × × × आगे चलकर कवियों ने ही इसे लोचदार और कोमल बना लिया।"[1]

इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' एवं लल्लू जी लाल के प्रेमसागर में वर्णित खड़ी बोली से बहुत अधिक स्वच्छ, व्याकरण संमत एवं माधुर्यभाव युक्त खड़ी बोली का दिग्दर्शन रामप्रसाद निरंजनी की खड़ी बोली में दिखा आए हैं किंतु संभवतः खड़ी बोली अपनी उक्त 'खड़ेपन' के कारण उस गति से विकसित न हो पा रही थी जिसकी इसे अपेक्षा थी। इस चिंता की अकुलाहट हिंदी जगत् के कोने कोने में उत्पन्न करती खड़ी बोली भारतेंदु के खेमे तक आ पहुँची। यद्यपि आरंभ में इसके 'खड़ापन' से नाक भौं सिकोड़े गए फिर भी इसको लेखन में अपनाने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ने लगी। इसी क्रम में इसके 'खड़ापन' को दूरकर मधुर मसृण बनाने के प्रति उत्सुकता जागी। यह तभी संभव था जब खड़ी बोली की चलती चली आ रही गद्यात्मक धारा में पद्यात्मक प्रवाह का अधिष्ठान हो। काव्य जगत् में इसको उतारने और उसके प्रयोग में एक लोच, शब्दों में माधुर्य और अभिव्यक्ति में कलात्मक उन्मेष का श्रीगणेश इसी काल में हुआ। भारतेंदु बाबू यदि अल्पायु में अस्तंगत न हो जाते तो संभवतः महावीरप्रसाद द्विवेदी तक आने में, एवं अपनी प्राणप्रतिष्ठा प्राप्त करने में खड़ी बोली का जो समय और दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा वह न करना पड़ता। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद से अपमानित न होना पड़ता। 'गँवारी बोली' होने का उपालंभ सुनने को न मिलता। वे इसे उसका वह प्रकृत रूप प्रदान कर जाते जिसको अपनाने की ललक बाद के कवियों लेखकों में आई। भारतेंदु मंडल के अन्य लेखक कवि खड़ी बोली में लेख, विनोदपूर्ण प्रहसन, मौलिक नाटक आदि लिखते आ रहे थे किंतु इन सबमें खड़ी बोली के गद्य का ही विस्तार हो रहा था। पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह प्रभृति विद्वान् हिंदी खड़ी बोली को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम समझ रहे थे, पर अब तक भी उसके काव्य सृजन में उपयोग की बात अटकी पड़ी थी। किंतु इसी समय में नागरीदास, नजीर अकबराबादी, शाह कुंदनलाल और फुंदन लाल, पं चंद्रशेखर मिश्र, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' प्रभृति कवि इसके पद्यात्मक स्वरूप के गठन चलन की दिशा में प्राणप्रण से जुटे हुए थे। फिर भी संवत् १९५०-६० तक हिंदी खड़ी बोली का प्रसार निबंधों, कहानियों, उपन्यासों नाटकों में जिस गति

१. हिंदी शब्दानुशासन, पं० किशोरीदास वाजपेयी। सं० ३, पृ० १४-१५।

के साथ रहा उस गति से पद्य रचना में नहीं मिलता। उपर्युक्त पद्य रचना की ओर प्रवृत्त कवियों के बीच एक नाम पं० श्रीधर पाठक का आता है। ये महानुभाव अपनी एकांत साधना के द्वारा खड़ी बोली को पद्यरचना में सशक्त स्वीकृति प्रदान करने में लगे थे। संवत् १९४३ में 'एकांतवासी योगी' खड़ी बोली में लिखा और उसमें हिंदी की बोलचाल की भाषा और सरल सुकोमल वर्ण विन्यास देकर खड़ी बोली को काव्योपयोगी प्रतिष्ठा दिलाने में स्तुत्य कार्य किया। इनके विषय में शुक्ल जी का कहना है—"उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिये सुंदर लय और चढ़ाव उतार के कई नए ढाँचे भी निकाले।" × × छंद, पदविन्यास, वाक्यविन्यास आदि के संबंध में नई नई बंदिशें इन्हें खूब सूझा करती थीं। अपनी रुचि के अनुसार कई नए ढाँचे के छंद इन्होंने निकाले जो पढ़ने में बहुत मधुर लय पर चलते थे।[1]"

अंत्यानुप्रासरहित जिस छंद में पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी ने अपना प्रिय प्रवास नामक बहुत बड़ा काव्य निकाला उसकी झलक भी पाठक जी की कविताओं में पहले पहल दिखाई दी। 'हरिऔध' जी ने उस काव्य ग्रंथ के अतिरिक्त खड़ी बोली में और भी कई ग्रंथ लिखे—'चौखे चौपदे' 'पद्यप्रसून' 'वैदेही वनवास'। यहाँ तक आते आते खड़ी बोली के प्रति यह उलाहना कि यह काव्यसृजन में प्रयुक्त नहीं हो सकती, दूर हो चली थी और उपर्युक्त रचनाओं के कारण अब तक दूसरे शब्द भंडार और पद विन्यासादि के ढाँचे में पर्याप्त वृद्धि हो चली थी और शनैः शनैः कवियों की लेखनी से निसृत भावों की मुख्य संवाहिका के रूप में प्रतिष्ठित हो चली थी। इन सब में अब तक भारतेंदु बाबू और उनके समय के कवियों का उद्योग ही काम आ रहा था।

ऊपर दिखा आए हैं कि शुरू शुरू में खड़ी बोली में कविता की धाक किसी की जमी तो वे थे श्रीधर पाठक। उस समय के साहित्य महारथी, नवीन दृष्टि संपन्न आलोचक जिनमें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्र बंधु, बालमुकुंद गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा प्रमुख थे, पाठक जी की कविताओं से कुछ कुछ आश्वस्त हो चले थे किंतु उनकी प्राचीन परंपरा विरुद्ध स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति एवं तदनुरूप उपमानों, प्रतीकों, प्रतिमानों और मूल्यों से चिढ़े भी दिखाई देते हैं। कवि जब अपने युग की माँग को अपनी रचनाओं में समेटने के अतिरिक्त विविध अवांतर विषयों पर काव्य रचना करने लगता है तो वह गुणवंतों की दृष्टि से ओझल होने लगता है। तत्कालीन युग की माँग थी, दुर्भिक्ष, दरिद्रता और दैन्यभाव से पीड़ित, दलित, वस्त्रहीन, शिक्षा दीक्षा, संस्कारहीन, दीन दुःखियों, अंगरेजों के कोप से आक्रांत, भयग्रस्त अस्तित्वविहीन जनसमुदाय की दुर्दशा को सही दिशा में लाने, उनमें आत्म-

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४११, १९ वाँ संस्करण।

बोध और निजबोध की शक्ति जागृत करने, इनके लिये मार्ग निर्देश करने वाली रचनाओं की। उपर्युक्त महानुभावों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को छोड़ अन्य सभी आलोचकों के मन में ब्रजभाषा और रीतिकालीन भावव्यंजना-पूर्ण कविताओं के प्रति प्रशंसाभाव विद्यमान था। द्विवेदी जी की विचार-धारा इन सबसे भिन्न थी और वे काव्य में शुद्ध खड़ी बोली के प्रयोग, नवीन उद्भावनाओं के समावेश, समस्यापूर्ति, यमक, श्लेषयुक्त चमत्कारिक एवं रीतिकालीन शृंगारी कविताओं के स्थान पर काव्य में देश-काल-परिस्थिति की यथातथ्यतापूर्ण युग सापेक्ष वास्तविक और यथार्थ अनुभूतिपूर्ण कविताओं को प्रतिष्ठित होते देखना चाहते थे। उनकी दृष्टि में साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाए और आत्मगौरव की उद्भावना लेकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय।[1] जिस काव्य अथवा रचना से चारित्रिक पतन का अंदेशा रहता था उसके प्रति द्विवेदी जी के मन में घोर आक्रोश भरा रहता था। अपने विचारों भावों के अनुरूप मंतव्य प्रकट करने के माध्यम के रूप में उन्हें 'सरस्वती' पत्रिका तो मिल गई किंतु अब वे एक ऐसे सच्चे, देश-काल-परिस्थिति के प्रति चिंतित समुत्सुक और हिंदी खड़ी बोली में काव्य रचना करने के प्रति अंतःकरण से समर्पित कवि की खोज में थे जो समग्र रूप से उनके विचारों को अपनी लेखनी से मूर्तमंत करता जाय। संयोगात् 'सरस्वती' के हाथ में लेने के तीन वर्ष बाद संवत् १६६३ में 'हेमंत' शीर्षक से खड़ी बोली की एक रचना उन्हें प्रकाशनार्थ प्राप्त हुई। यह रचना मैथिलीशरण गुप्त जी की थी। यह कविता उन्होंने २२-२३ वर्ष की उम्र में लिखा था। इसके पहले १८-२० वर्ष तक ये अपनी निसर्गजात कवि प्रतिभा को ठिकाने बैठाने में लगे हुए थे। तत्कालीन ब्रजी में काव्य रचना का मोह उनके मानस पर भी चढ़ा था और ब्रजभाषा की अपनी रचनाएँ 'वैश्योपकारक' में छपवाते रहे। किंतु इससे उन्हें संतोष नहीं था। उनके हृदय की संपूर्ण अकुलाहट अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिये एक ऐसे माध्यम को ढूँढ रही थी जिसके सहारे वे उसका हूबहू चित्रण प्रस्तुत कर पाते। द्विवेदी जी योग्य शिष्य और गुप्त जी योग्य गुरु की तलाश में थे। संयोग ने दोनों को मिलाया। इसकी कथा यों है—

"झाँसी के रेलवे दफ्तर में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी काम करते थे और सोपारी बाजार में रहते थे। वहीं से वे 'सरस्वती' नामक पत्रिका जो इलाहाबाद में छपती थी, उसका संपादन करते थे। एक दिन मैथिलीशरण जी उनके घर

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, नवम भाग। सं० प्रथम, पृ० १८०।

जाकर उनसे मिले। इसके बाद ब्रजभाषा में लिखना छोड़कर वे खड़ी बोली में लिखने लगे।"[1]

आगे चलकर द्विवेदी जी की छत्रछाया में वे लिखने लगे और खूब लिखे। उन्होंने खड़ी बोली में प्रचुर कविताएँ लिखीं। उनके प्रोत्साहन के फलस्वरूप २९-३० की अवस्था तक आते आते उन्होंने अपनी खड़ी बोली में काव्यरचना की साधना में सिद्धासन की स्थिति तक पहुँच प्राप्त की। खड़ी बोली में काव्यरचना के दौरान वे अपनी साधना के क्रम में 'लिख फाड़े पुनि पुनि लिखे' की युक्ति को चरितार्थ करते थे। वे लिखकर फाड़ते तो नहीं थे हाँ, तुकबंदी मिलाने, भावपुष्ट करने के पक्ष में एक कविता की कई कई पंक्तियाँ स्लेट पर लिखकर बैठाते, मिटाते, फिर बैठाते और मिटाते थे। अंत में जिस पंक्ति से उन्हें मनस्तोष होता उसे अपनी कविता की पंक्ति में स्थान देते थे। इस साधना से उन्होंने अपनी आरंभिक दो रचनाएँ 'रंग में भंग' तथा 'जयद्रथ वध' प्रस्तुत कीं। इन दोनों रचनाओं को देखकर उनके काव्यगुरु द्विवेदी जी को यह तो आश्वस्ति मिल सकी कि यह मेरा अनुयायी अब कुछ खड़ी बोली में काव्य दे सकता है, खड़ी बोली की पद्यानुकूल अग्राह्यता को दूर कर सकता है किंतु इनसे उनका अभी पूरा पूरा समाधान न हो पाया था। कारण स्पष्ट था, द्विवेदी जी लेखन में विचारात्मक उन्मेष के पक्षधर थे। कोई बँधी हुई कथा जो किसी एक भाव की परिपुष्टि में पद्यरचना में प्रवृत्त की गई हो, उन्हें रास नहीं आता था। वे पंक्ति पंक्ति में विचारों के नवोन्मेष के कायल थे। 'रंग में भंग' चित्तौड़ और बूंदी के राजघरानों से संबंध रखनेवाली राजपूती आन बान की एक कथा को लेकर चली तथा 'जयद्रथ वध' पांडवों की करुणापूर्ण और अभिमन्यु की वीरतापूर्ण तथा उत्तरा का त्यागपूर्ण उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से रचा गया। इनमें प्रयुक्त शब्द संस्कृतनिष्ठ और कथा पुराने ख्यालों को लेकर चली। 'जयद्रथ वध' का एक उदाहरण देखिए—

संसार में सब प्राणियों का देह तक संबंध है
पड़ मोह बंधन में मनुज बनता स्वयं ही अंध है।
तनु धारियों का बस यहाँ पर चार दिन का मेल है,
इस मेल के ही मोह से जाता बिगड़ सब खेल है।

द्विवेदी जी कविता में बोलचाल की भाषा के प्रयोग पर बल देते थे। इनकी आशा के अनुकूल गुप्त जी ने उनकी सलाह पर नए सिरे से सोच में परिवर्तन करके एवं समाज के परिवेश को दृष्टिपथ में रखते हुए एक ऐसी रचना

---

१. मैथिलीशरणगुप्त, डा० प्रभाकर माचवे। सं० प्रथम, पृ० २३।

प्रस्तुत की जो उनके काव्य गुरु द्विवेदी जी को खूब जँची। यह रचना एक दो दिन में नहीं पूरे एक वर्ष से कुछ अधिक माह में पूरी हुई। इस कृति ने न केवल खड़ी बोली काव्य के रूप में साहित्यकों का ध्यान आकृष्ट किया अपितु तत्कालीन परिवेश के अनुकूल राष्ट्रभक्तों, देशप्रेमियों के मानस को भी आंदोलित करने में सर्वथा समर्थ रही। इस युगांतरकारी रचना के प्रकाशन से अब तक चलती आ रही काव्यधारा की दिशा एकदम बदल गई। इसका नाम 'भारत भारती' और इसका सर्वप्रथम प्रकाशन संवत् १९६९ में हुआ। इसकी प्रस्तावना में गुप्त जी ने इसके प्रणयन के उद्देश्य के पीछे काम आने वाली विचारधारा का उल्लेख करते हुए कहा है—

"हम लोगों के लिये हिंदी में अभी तक इस ढंग की कोई कविता पुस्तक नहीं लिखी गई जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति और अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिये प्रोत्साहन भी, परंतु देशवत्सल सज्जनों को यह त्रुटि बहुत खटक रही है। ऐसे ही महानुभावों में कुर्रीसुदौली के अधिपति माननीय श्रीमान् राजा रामपाल सिंह जी के० सी० आई० ई० महोदय हैं।"[1]

सर्वथा नवीन उद्भावनाओं, विचारात्मक संबोधनों और यथातथ्यपूर्ण भावाभिव्यंजनाओं के उन्मेष के कारण इस कृति में जहाँ तहाँ कटूक्तियों, समाज के बीच फैली बुराइयों की ओर अंगुल्यानिर्देश भी बेधड़क किया गया। यदि ऐसा न किया गया होता तो यह कृति भी पूर्ववर्ती खड़ी बोली की पिटीपिटाई पद्धति पर रचित काव्य ग्रंथों की श्रेणी में ही आती। इसकी उपर्युक्त वर्णनशैली विचारबद्धतापूर्ण उक्तियों के परिणामस्वरूप यह सर्वथा नवीन धरातल पर निर्मित हुई। इसकी भूरि भूरि प्रशंसा में लिखे द्विवेदी जी के कथन का उदाहरण देखिए—

"यह काव्य (भारत भारती) वर्तमान हिंदी साहित्य में युगांतर उत्पन्न करनेवाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिये यह आदर्श का काम देगा। यह सोतो हुओं को जगाने वाला है, आत्म विस्मृतों को पूर्वस्मृति दिलाने वाला है, निरुत्साहित को उत्साहित करनेवाला है × × इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिंदी के और किसी भी काव्य मे नहीं हो सकती।[2]

'भारत भारती' तीन खंडों में विभक्त है। अतीत खंड, वर्तमान खंड और भविष्यत् खंड। इन तीनों खंडों से एक एक उदाहरण देखते चलिए—

प्राचीन भारत भूमि के निवासियों के मानसिक, शारीरिक आध्यात्मिक, बुद्धि-विज्ञान वैभव की पहुँच को उद्घाटित करते हुए लिखा है—

---

१. भारत भारती, प्रस्तावना, पृ० ४।

२. पद्म पराग, पहला भाग, पृ० ३२३।

"पुरुष प्रवर उस काल के कैसे सदाशय हैं अहा।
संसार को उनका सुयश कैसा समुज्वल कर रहा।
तन में अलौकिक कांति है, मन में महासुख शांति हैं,
देखो न, उनको देखकर होती सुरों की भ्रांति है।।
मस्तिष्क उनका ज्ञान का, विज्ञान का भांडार है,
है सूक्ष्म बुद्धि विचार उनका विपुल बल विस्तार है
नव नव कलाओं का कभी लोकार्थ आविष्कार है,
अध्यात्म तत्वों का कभी उद्गार और प्रचार है।।[1]

चारो ओर अपकर्म फलतः अपकर्ष को देखकर 'भारत भारती' के वर्तमान खंड में गुप्त जी ने अपनी वैष्णवी वृत्ति के अनुकूल करुणामिश्रित किंतु किंचत् सखेद और सरोषपूर्ण व्यंजना में जिन वर्तमान गतिविधियों को सत्यशः यथार्थतः वर्णन प्रस्तुत किया उन पर उस काल में शायद ही कोई कवि साहसपूर्वक लिख सकता था। गौरांग महाप्रभुओं का भारत को ज्ञान से, धनसे, बुद्धि बल से रिक्त करने का अभियान जोर शोर से था और वे एक न एक दारुण दुःख और दुःसह विपत्ति में भारतीयों को डालने में निर्दयतापूर्वक लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति के बीच रहकर रोज अमानवीय बर्बरता की शिकार होकर भी भारतीय जनता अपनी पुरानी राजभक्ति के मोहक प्राप्तव्य के पीछे हाथ बाँधें सब कुछ सह रही थी। गुप्त जी ने उनकी यथास्थिति का वर्णन करके जिनमें कृषक, रईस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, साहित्य, संगीत, सभा, समाज पर यथातथ्यपूर्ण किंतु 'सत्य कठोर होता है' की उक्ति चरितार्थ करती हुई पंक्तियाँ रचकर उन्होंने जिस तत्व का मर्मोद्घाटन किया वह राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभाषा, राष्ट्ररक्षा के प्रति सश्रद्ध प्रयत्न जगाने के काम आया। अपनी हीनदशा पर विचारणा की प्रेरणा जागी। संभवतः इसी खंड में वर्णित कटूक्तियों के कारण खेद प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा कि—

"मुझे दुःख है कि इस पुस्तक में कहीं कहीं मुझे कुछ कड़ी बातें लिखनी पड़ी हैं, परंतु मैंने किसी की निंदा करने के विचार से कोई बात नहीं लिखी। अपनी सामाजिक दुरवस्था ने वैसा लिखने के लिये मुझे विवश किया।"[2]
इस खंड से एक पद—

बिगड़े हमारे अब सभी स्वाधीन वे व्यवसाय हैं,
भिक्षा तथा यस भृत्वता ही आज शेष उपाय हैं।

---

१. भारत भारती : अतीत खंड, १५०, १६० वाँ पद्य।
२. भारत भारती : प्रस्तावना, पृ० ५–६।

पर हाय दुर्लभ हो रही है प्राप्ति इसकी भी यहाँ,
यह कौन जाने इस पतन का अंत अब होगा कहाँ[1]।

भविष्यत् खंड में गुप्त जी की उद्बोधनपरक रचनाएँ संग्रहीत हैं। देशवासियों को जगाने निश्चेष्टता, निरुद्यमता को दूरकर 'अब और कब तक इस तरह सोते रहोगे मृत हुए' का संदेश सुनाने के उद्देश्य से इस खंड की परिकल्पना की गई है—इसका भी एक उदाहरण देखिए—

"मुख से न होकर चित्त से देशानुरागी हो सदा,
हैं सब स्वदेशी बंधु उनके दुःख भागी हो सदा।
देकर उन्हें साहाय्य भरसक सब विपत्ति व्यथा हरो,
निज दुःख से ही दूसरों के दुःख का अनुभव करो।"

बोलचाल की भाषा में शुद्ध विचारात्मक धरातल पर निर्मित यह खड़ी बोली का काव्य एकमेव कृति होने के कारण सत्साहित्यिकों के बीच समादृत हुई सो हुई ही, सरकारी कोप की शिकार यह कृति अपनी जब्त प्रतियों के कारण देशानुरागी चित्तवालों (जिनकी उस समय कोई कमी नहीं थी) के लिये विशेष आकर्षक और प्रेरणादायिनी बन सकी। यह इतनी प्रख्यात हुई कि तत्कालीन प्राइमरी पाठ्य पुस्तकों में उद्धृत की जाने लगी। सूर, तुलसी के साथ साथ यदि कोई दूसरा कवि, जिसकी कविताओं की पुनरावृत्ति कई कंठ से होती हो, गुप्त जी ही थे।

भारत भारती के प्रकाशन के २० वर्ष बाद गुप्त जी की दूसरी सर्वाधिक चर्चित कृति 'साकेत' आई। इसका प्रकाशन संवत् १९८८ में हुआ। इस बीच छोटे मोटे कई काव्य आए किंतु गुप्त जी की प्रतिभा के प्रांजल स्वरूप की जैसी अभिव्यक्ति भारत भारती में हुई उससे कहीं अधिक प्रगाढ़ चिंतन, गांभीर्य ज्ञान, विविध छंदों का संकलन साकेत में प्रकट हुआ है। द्वादश सर्गों में विभक्त यह महाकाव्य अपने गुण धर्म के कारण फुरसत के क्षणों में पढ़ने की चीज बनी। किंतु प्रेरणादायिनी संजीवनी शक्ति फूँकने का काम जितना भारत भारती से बन सका उतना उनकी अन्य कृतियों में किसी और को प्राप्त है, तो 'साकेत' को। भारत भारती और साकेत के प्रकाशन के बीच गुप्त जी की निम्नांकित १६ काव्य और प्रकाशित हो चुके थे—

तिलोत्तमा, चंद्रहास, किसान, वैतालिक, पत्रावली, शकुंतला, लीला, पंचवटी, आर्य, स्वदेश संगीत, हिंदू, त्रिपथगा (बक संहार, वन वैभव, सैरंध्री), शक्ति, विकट भट, गुरुकुल और झंकार।

---

१. भारत भारती वर्तमान खंड १४७ वाँ पद।
२. वही : भविष्यत् खंड ६० वाँ पद।

'साकेत' के बाद गुप्त जी ने जिन काव्यों में खड़ी बोली में पद्य रचना का अपार भंडार हिंदी जगत् को अर्पित किया उनके नाम इस प्रकार हैं—

यशोधरा, उच्छ्वास, सिद्धराज, द्वापर, मंगलघट, नहुष, कुणालगीत, अर्जन विसर्जन, विश्व वेदना, काबा और कर्बला, अजित, प्रदक्षिणा, पृथ्वी पुत्र, हिडिंबा, अंजलि और अर्घ्य, जय भारत, भूमि भाग राजा प्रजा, विष्णुप्रिया और रत्नावली।

इनके अतिरिक्त इन्होंने कई पद्यानुवाद भी दिए। किंतु उपर्युक्त कृतियों में 'साकेत' के बाद कोई और चर्चित हो सकीं तो उनमें यशोधरा, द्वापर, विष्णु-प्रिया रही हैं। इस क्रम में संभवतः सांप्रदायिक भाव से पृथक् उनका सर्व-धर्म-समन्वय वाला रूप दिखाने की दलील में 'काबा और कर्बला' कृति भी चर्चित रही है। वस्तुतः गुप्त जी की काव्य रचना देखने पर उनके कवि मन की जो परख उतरती है उसके अनुसार वे "न काहू सो दोस्ती ना काहू सो बैर" भाव में विचरने वाले 'सबकर हित' के सिद्धांत पर चलने वाले थे। ऐसे व्यक्ति में अनुशासन प्रियता, बाह्य कठोरता सुरुचि संपन्नता, स्पष्ट वक्तृता रहती ही है और वह सबसे इसकी अपेक्षा करता है। कवि भावुक तो होता ही है उस पर से सभी काव्य साधकों को प्रकृति की मार भी कम नहीं सहनी पड़ती। गुप्त जी को दो दो पत्नियों का वियोग दुःख, कई संतानों का मरण, कर्ज काठी का भार सहना पड़ा था किंतु उनकी आत्मा बलिष्ठ, विचार बड़े दृढ़ थे। वे अपने और परिवार सबसे ऊपर उठकर संपूर्ण भारत के हो गए थे। इसके भविष्य की चिंता, वर्तमान को सुसंस्कृत देखने की चेष्टा इनमें बराबर बनी रही उन्होंने अपनी संपूर्ण कृतियों में देशानुराग जगानेवाले प्रेरक तत्वों का समावेश अवश्य किया है। उस काल में सर्वाधिक दयनीय तिरस्कृत और उपेक्षित नारी ही रही है। समभुच आँखों में पानी के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं था। गुप्त जी के परदुखकातर मन में इनके प्रति अपार पीड़ा थी। जहाँ कहीं अवसर मिला है अपनी काव्य कृतियों में इन्होंने नारी को पूज्य भाव प्रदान करने वाली उक्तियों की रचना अवश्य की है। नारियों के प्रति किए जा रहे अत्याचार को उद्घाटित करने के उद्देश्य से इन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ पौराणिक, ऐताहिसक, नारियों के चरित्र के बहाने उनके प्रति पुरुष समाज में पूज्य, दया, दाक्षिण्य, करुणा और संमानभाव प्रादुर्भूत करने के लिये कीं। कहते हैं, साकेत की रचना उर्मिला के प्रति हुए अन्याय एवं उसकी पीड़ा के अनुभव का परिणाम है। तिलोत्तमा शकुंतला, यशोधरा, विष्णुप्रिया रत्नावली आदि इनके उदाहरण स्वरूप हैं ही। अन्य रचनाओं में भी नारियों के उत्कर्ष के क्षणों को रूपायित करने का अवसर छोड़ा नहीं है। मातृ, मातृभूमि, मातृभाषा के प्रति उनका जीवन, उनका कवि मन समर्पित था। इनकी रचनाओं से तत्कालीन नारियों में भी एक आत्मविश्वास

जागृत हुआ। देश की स्वतंत्रता संग्राम में पुरुषों की भाँति नारियाँ भी कूदने लगी थीं। राष्ट्रभक्ति में बलिदान तक होने लगी थीं।

गुप्त जी ने देश की स्वतंत्रता के लिये प्रेरणादायिनी रचनाएँ नहीं दीं बल्कि इसके लिए वे जेल भी गए। महात्मा गांधी के आह्वान पर अन्य देश-प्रेमियों की तरह वे भी अग्रसर हुए। इसके दौरान भारत भारती, स्वदेश संगीत, गुरुकुल की राष्ट्रीयतावादी रचनाएँ बराबर इन्हें एवं देशानुरागियों को अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती रहीं। इनकी इन्हीं उपलब्धियों से प्रभावित होकर महात्मा गांधी ने इन्हें 'राष्ट्रकवि' से विभूषित किया। इसके बाद स्वतंत्र भारत ने संमानपूर्वक अपने संसद सदस्य के रूप में सन् १९५२ से जीवन के अंतिम काल तक प्रतिष्ठित रखा। गुप्त जी का जन्म ३ अगस्त, सन् १८८६ और निधन १२ दिसंबर, १९६४ को हुआ। अपनी ७८ वर्ष की लंबी आयु में उन्होंने पूरे ६० वर्ष से कुछ ऊपर समय खड़ी बोली काव्य के सृजन में लगाया। जब तक पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी के हाथ में 'सरस्वती' पत्रिका रही तब तक गुप्त जी की रचनाएँ उसमें छपती रहीं और उनका वरदहस्त और प्रशंसाभाव बराबर उनको मिलता रहा। सन् १९३८ में द्विवेदी जी के देहावसान के पीछे वे 'सरस्वती' से हटकर भी उनके बताए रास्ते का अनुसरण करते रहे। फलतः अपनी खड़ी बोली की काव्य रचना का क्रम बराबर बनाए रखा। द्विवेदी जी के देहावसान के पीछे सन् १९४० में 'नहुष' नामक उनका काव्य प्रकाशित हुआ और अंतिम रचना रत्नावली (१९६०) के प्रकाशन के बीच में कई और रचनाएँ उन्होंने दीं। इनमें विष्णुप्रिया को छोड़ कोई और रचना चर्चा में कम दिखाई पड़ती है। यहाँ उनके ऐसे ५ काव्यों पर विशेष रूप से विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जो अपनी विषयवस्तु, वर्णन शैली, रोचकता और प्रेरक कथा वार्ता के बावजूद चर्चित न हो सकीं अथवा भारत भारती, साकेत, यशोधरा, विष्णुप्रिया की भाँति शिष्टजन को आकर्षित न कर सकीं। इस प्रकार की घटना केवल गुप्त जी के साथ ही हुई हो, सो ऐसी बात नहीं है, गोस्वामी तुलसीदास के मानस के बाद उनकी अन्य प्रौढ़ कृतियों को स्मरण रखना कोई जरूरी नहीं समझा गया। शुक्ल जी के इतिहास, विचारात्मक निबंधों के संग्रहों के अतिरिक्त 'श्रीराधाकृष्णदास' विश्व-प्रपंच', 'आदर्श जीवन' आदि पोथियाँ भी सारस्वत जगत् से विस्मृत हो उठीं। गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी के अतिरिक्त 'सुखमय जीवन' 'बुद्धू का काँटा' को कौन याद करता है। इसीप्रकार 'साकेत' के बाद 'यशोधरा' को छोड़ अन्य रचनाओं के चर्चा में न आने के पीछे एक और घटना काम कर रही थी और वह थी हिंदी जगत् में एक दूसरी परिष्कृत, लय, छंद, शब्द प्रयोग, काव्योचित गुणों से संपन्न कृति 'कामायनी' का प्रकाशन। सन् १९३५ में प्रकाशित यह कृति अपनी प्रौढ़ अभिव्यक्ति के साथ हिंदी के चिंतकों, आलोचकों, अनुसंधित्सुओं काव्यरसिकों को विशेष आकर्षित करने लगी थी। एकांतवासी योगी, भारतभारती

प्रिय प्रवास, साकेत को खड़ी बोली काव्य के रूप में क्रमशः जो प्रतिष्ठा प्रशंसा प्राप्त हुई थी समय चक्र के संयोग से 'कामायनी' को वे ही चीजें और भी ससंमान प्राप्त हुईं। अब तक खड़ी बोली की खड़खड़ाहट दूर हो चली थी, गुप्त जी की प्रचुर रचनाओं से अब वह असहाय नहीं रह गई थी। अन्य कवियों की इस क्षेत्र में भरमार हो चली थी। खड़ी बोली 'गँवारी' न होकर सत्साहित्यकों, शिष्टजनों, विद्वानों, नेताओं सबकी अभिव्यक्ति की सशक्त माध्यम हो गई थी। पहले जिनसे अपमानित होती थी अब उन्हीं से प्रशंसित और अपने विस्तार गुण के कारण संमाननीय हो चली थी। गुप्त जी और बाद में किशोरीदास वाजपेयी जी तक सब लोग यह सोचने लगे थे कि यदि अन्य प्रांतों की भाषाएँ भी देवनागरी लिपि में लिखी जाएँ तो समग्र देश की भाषा हिंदी अपने आप हो जायगी। खड़ी बोली में ही एकमेव वह शक्ति है जो समग्र प्रांतीय भाषाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने में सक्षम है। खड़ी बोली इतनी आदरास्पद हो सकी इसमें गुप्त जी का ही अवदान काम कर रहा था। गुप्त जी के पहले और बाद में भी इतनी प्रचुर मात्रा में खड़ी बोली की छंद रचना किसी अन्य कवि में नहीं मिलती। इनकी जिन पाँच कृतियाँ सुधीजनों के बीच अचर्चित रह गईं उनमें सन् ४० में प्रकाशित नहुष है। इसकी मूल कथा महाभारत से ली गई है। रामायण से लेकर भागवत तक नहुष राजा के विषय में कथा मिलती है। नहुष मर्त्यभूमि पर अपने तप-तेज-बल के कारण प्रशंसित और लोकपूजित हो गया था। वह मानव होकर भी इंद्रासन पर बैठने का अधिकारी हो गया था। मानव की इस ऊँचाई तक पहुँच देखकर गुप्त जी के मन को जहाँ उसके प्रति पूर्ण संतोष मिलता है वहीं उसकी दुर्बलताएँ देखकर और परिणामतः घोरतर अधःपतन देख विषण्ण हो उठता है। 'नहुष' के 'निवेदन' में वे कहते हैं—

"मनुष्य बार बार ऊँचे उठने का प्रयास करता है और मानवीय दुर्बलताएँ बार बार उसे नीचे ले आती हैं। मनुष्य को उनपर विजय पानी ही होगी। इसके लिये उसे साहसपूर्वक फिर फिर उठ खड़ा होना होगा।"[1]

उपर्युक्त उदाहरण के परवर्ती वाक्यों के संदेश को उद्घाटित करने के उद्देश्य से नहुष सामने आया। इसे गुप्त जी ने अपने बाल बंधु मुंशी अजमेरी जी की स्मृति में रचा है। और उन्हीं को समर्पित भी किया है। नहुष में आरंभ में सिंहासनच्युत इंद्र के वियोग से दुःखी शची दिखाई पड़ती है। उसकी चिंता व्याकुलता इस पद में देखिए—

---

१. नहुष; निवेदन, पृष्ठ ४।

'क्या थी अब कौन हूँ, कहाँ थी, अब मैं कहाँ,
क्या न था, परंतु अब मेरा क्या रहा यहाँ ?
आज मैं विदेशिनी हूँ अपने ही देश में
वंदिनी सी आप निज निर्मम निवेश में।"

यह काव्य शची, नहुष, उर्वशी, स्वर्गभोग, संदेश, मंत्रणा, पतन शीर्षकों में विभक्त है। स्वर्गभोग भोगते भोगते नहुष शची को भोगने की इच्छा ले कामी की भाँति उसके आगे डोलने लगे। इंद्रसभा हुँकार कर रह गई। अंत में इंद्राणी की ओर से यह प्रस्ताव भेजने पर कि यदि नहुष ऋषियों के द्वारा ढोई गई पालकी में बैठकर शची को लेने आए तो शची उनके लिये प्रस्तुत मिलेगी। नहुष द्वारा यह करने पर उसका ऋषियों के शाप से अधःपतन होता है। वह सर्पयोनि में गिराया जाता है। पतन यानी मनुष्य का पतन उसकी मनोगत दुर्बलताओं के कारण होता है इसका यथार्थ चित्रण इसमें मिलेगा। और काव्य के वास्तविक संदेश की झलक मिलेगी—

गिरना क्या उसका उठा हो नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ, चढ़के रहूँगा मैं।

इस कोटि की दूसरी रचना 'कुणालगीत' है। राज बंदी बनाकर जेल में डाल दिए जाने के समय की यह रचना है। इसका प्रसंग बड़ा मार्मिक और प्रेरणास्पद है। कारागार जीवन में गुप्त जी ने एक कारा नामक काव्य का भी श्रीगणेश किया था किंतु कुणालगीत के गीत उनके मानस को अधिक प्रभावित कर रहे थे। कुणाल मगध सम्राट अशोक का पितृभक्त पुत्र था। वह सर्वांग सुंदर था। उनमें उसकी दोनों आँखें और भी सुंदर थीं। उसकी आँखों पर मोहित प्रेमांध विमाता ने उसकी प्राप्ति अशक्य जान उसकी समाप्ति के षड्यंत्र से सुखी होने के लिये आँखों को ही नष्ट करा दिया। आँखों को नष्ट कराने की आज्ञा पाकर भी वह सहर्ष इसके लिये प्रस्तुत हो जाता है और ऐसी अवस्था में भी वह अपनी विमाता से यही याचना करता है -

'करो माँ, करुणा की ही दृष्टि,

"तुम प्रेमांध न हो, प्रस्तुत है, लो यह मेरी दृष्टि !" गीतात्मक शैली में रचित यह कृति अपने विषय की मार्मिकता के कारण उच्च कोटि की बन पड़ी है। इसकी रचनाएँ प्रसाद गुण संपन्न हैं।

कुणाल का यह कथन कितना मार्मिक है—

ज्योति नहीं, पर इन आँखों में,

शेष आज भी जल है ।
और प्रफुल्ल उल्लसित उसमें
मेरा हृदय कमल है ।

काल क्रम से इसके बाद इनकी 'प्रदक्षिणा' प्रकाशित होती है। गुप्त जी राम के चरित्र, आदर्श, मर्यादा पुरुषोत्तम वाले रूप से प्रभावित थे । साकेत की रचना के बाद उसकी प्रदक्षिणा के रूप में रामचरित का सार संक्षेप समेटते हुए बड़े ही मनोहारी छंदों में इसकी रचना हुई है।

इस क्रम में हिडिंबा इनकी चौथी रचना है जिसकी प्रसिद्धि या यों कहें जिसकी चर्चा कम ही हो पाई है। किंतु इसकी कथा बड़ी रोचक है। भाषा सरल और शैली माधुर्य गुण संपन्न । गंगापार गहन वन में पांडव अपनी माता कुंती के साथ खिन्न उदास बैठे अपनी गति पर चर्चा करते करते सो गए । भीम पहरेदारी के लिये बैठे रहे। थोड़ी देर बाद एक वनवासिनी के नूपुरों की ध्वनि उनके कानों में औचक सुनाई पड़ी। वे चकपका गए। यही हिडिंबा है। इसके रूप की चर्चा में गुप्त जी ने लिखा कि--

"उत्थित वसुंधरा से रत्नों की शलाका थी,
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमंती राका थी ।"

उसकी इस श्यामली छाया पर मुग्ध भीम ने उसका परिचय पूछा । परिचय फिर घनिष्ठता और अंत में प्रेम की देहरी तक जा पहुंचा। हिडिंबा के यह कहने पर कि उसका सहोदर भाई हिडिंब मनुष्य जाति से घृणा करता है और वह दोनों को एक दूसरे के साथ प्रेम करते देखकर जल भुन उठेगा। युद्ध होगा और उसमें भगवान् जाने क्या हो ? फिर भी भीम का हिडिंब के साथ युद्ध होता है और हिडिंब मारा जाता है। हिडिंबा कुंती के समक्ष लाई जाती है। दोनों का संलाप बड़े मोहक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। हिडिंबा की इच्छा है कि यदि तुम आर्य हो तो 'हमें भी दो आर्यता'' । उसके शील स्वभाव से कुंती प्रसन्न हो उठती है और अंत में भीम के साथ उसका पाणिग्रहण करा देती हैं। इस काव्य के सृजन के पीछे भी गुप्त जी की राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीय एकता और सुदूर गहन वनों में निवास करने वाले प्राणियों वनवासियों को भी शिष्ट नागर जन बनाने की प्रेरणा काम दे रही थी। साकेत के राम इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने, वनवासियों को (अनार्यों को) आर्यत्व दिलाने, असुरों को सन्मार्ग पर लाने की बात कहते हैं । कहने का अभिप्राय यह कि गुप्त जी ने राष्ट्रीय भावना, देश प्रेम की उद्भावना के प्रति जो धारणा आरंभ में बनाई उसे यावज्जीवन अपनाए रखा ।

गुप्त जी की अंतिम रचना रत्नावली है । त्यागमयी नारियों के चरित्र चित्रण में गुप्त जी का मन अधिक रमा है। रत्नावली के त्याग की वे इसलिये प्रशंसा

करते हैं कि उससे हिंदी जगत् को गोस्वामी तुलसीदास मिले। वैसे तो बुद्ध के बुद्धत्व महावीर के महावीरत्व और लक्ष्मण के लक्ष्मणत्व के पीछे वे तद् तद् महानुभावों का नहीं बल्कि यशोधरा, विष्णुप्रिया और उर्मिला के त्याग, तप धैर्य, का ही पुण्य प्रताप समझते हैं।

हिडिंबा की भाँति रत्नावली की भी पद्य रचना बड़ी सरस, सहज और बोलचाल की खड़ी बोली में हुई है। रत्नावली की विचारधारा जिस सहजता के साथ रखी गई है और उसकी मनः स्थितियों का जैसा मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है वह किसी भी सहृदय पाठक का चित्त अनुरंजित बनाए रखने में पूर्णतः सक्षम है। रत्नावली चाहती है कि चाहे उसका वियोग में विलाप बंद हो चाहे न हो किंतु उसका पति अब जब निकल ही गया है तो वह सन्मार्ग पर रहे, सत्य का अनुसरण करके यथार्थ की उपासना करे और वह जो कुछ भी कहे वह आप्त हो। उसका विश्वास है कि यदि उसके पति यह छोटा सा स्थान छोड़ गए हैं तो वे अब अपना आत्म विकास करके विश्व बंधुत्व को प्राप्त करेंगे। पहले जो काम के चेरे थे अब वे राम के चेरे होंगे।

"छोड़ गए प्रिय यह लघु वास,
तो वे विश्वकुटुंबी होंगे करके आत्म विकास।"

इसके कई गीत बड़े सुंदर बन पड़े हैं। एक उदाहरण देखिए—

"मन, आर्त न हो तुम ऐसे,
क्या जाने, कितने जन कितना सहते हैं क्या कैसे?
अनुभव करो दूसरों का तो अपना दुःख घटेगा,
नहीं एक के ही माथे यह आकाश फटेगा,
कट जाएँगे कुदिन तुम्हारे भी औरों के जैसे।"
मन, आर्त न हो तुम ऐसे।"

अपने प्रियतम तुलसी की प्रसिद्धि सुन समझ वह पुलकित हो उठती है और गदगद कंठ से कह उठती है—

प्रियतम तप हो सफल तुम्हारा,
× × ×
सबको निर्मल करे तुम्हारे मानस की रस धारा।

निराला ने गोस्वामी तुलसीदास की रचना १९३८ में की थी इसमें रत्नावली का चरित्रोद्घाटन जिस धरातल पर किया गया है उससे सर्वथा भिन्न कथात्मक शैली में गुप्त जी ने रत्नावली का चरित्र-चित्रण किया है। द्विवेदी युग के अंत के बाद की गुप्त जी की खड़ी बोली की रचनाएँ उतनी चर्चित न हो पाईं इसके कारण की ओर संकेत पीछे कर आए हैं। रत्नावली की रचना तक आते आते हिंदी खड़ी बोली का काव्य संमृद्ध हो चला था। हिंदी काव्य क्षेत्र में विभिन्न वादों यथा छायावाद,

रहस्यवाद आदि का बोलबाला था और प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी की कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। सर्वथा नवीन उद्भावनाओं के साथ खड़ी बोली की कविताएँ प्रस्तुत की जा रही थीं। किंतु देखा गया कि सन्' ६० तक रत्नावली की रचना तक गुप्त जी अपनी पूर्व कल्पित काव्य सिद्धांतों, पद्य रचना के विधानों, मानव, देश, भाषा, राष्ट्रप्रेम को परिपुष्ट करने वाले तथ्यों विचारों के परिपोषण में, उनके अनुरक्षण, विस्तारण में ही जुटे रहे। काव्य एवं जीवन के क्षेत्र में 'कथनी' के समान 'करनी' भी प्रकट करने के अपने स्वभाव के कारण वे अधिक मित्र बनाने के फेर में नहीं पड़े। 'सब मम प्रिय' की धारणा बनाए रखे। बाल्य बंधु के रूप में मुंशी अजमेरी जी, काव्यगुरु के रूप में महावीरप्रसाद द्विवेदी जी, सखा के रूप में सियारामशरण गुप्त जी, मित्रों के रूप में वार्हस्पत्य जी, राय कृष्णदास जी, प्रसाद जी प्रभृति रहे। अपनी उदारवृत्ति, वैष्णवी स्वभाव, सात्विकता और राष्ट्रीयता के लिये वे अपने शताब्दी वर्ष में ही क्यों आगे की शताब्दियों में भी बराबर स्मरणीय बने रहेंगे। उन्होंने खड़ी बोली काव्य को समृद्ध कर रीतिकालीन साम्राज्य-वादी, नायक नायिका भेद वाली शृंगारिक कविताओं के स्थान पर शुद्ध बोल-चाल की भाषा में सर्वथा नवीन वैचारिक पृष्ठभूमि पर अनेक कविताएँ रचीं। हिंदी जगत् युगांतरकारी रचनाकार के रूप में उनकी सदैव अभ्यर्थना करता रहेगा।



राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का काव्यमूल्य और रचनादृष्टि

डा० रामप्रकाश कुशवाह

अपने जातीय राष्ट्रीय इतिहास की साहित्यिक पुन:रचना के साथ साथ ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक पुराकथाओं के संवेद्य मानवीय संदर्भों की समकालीन आधुनिक दृष्टि से खोज गुप्त जी के रचनाकार की प्रमुख मूल्य चिंता है। यह आवश्यक नहीं है कि पुन:रचना की प्रक्रिया उनमें नवीनता के अतिरेकी और व्यक्त आग्रह के साथ ही उपस्थित हुई हो, यह खड़ी बोली हिंदी साहित्य की समृद्धि और उपलब्धि की चिंता के साथ भाषिक पुनर्निर्माण के रूप में भी उपस्थित रह सकती है। प्राय: इसी लिये उनका 'साकेत' कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता से उर्मिला का उद्धार करने के लिये लिखा गया है उतना ही रामकथा को खड़ी बोली हिंदी काव्य में भी लोक के लिये पुन: पाने की युगीन अभिलाषा के रूप में भी। कवि की ऐसी रचनात्मक चिंता उनके 'जयभारत' जैसे अपरिवर्तित कथानकों वाले प्रबंध काव्यों में सरलता से लक्षित की जा सकती है। अपनी इसी चिंता से परिचालित होकर लोक परिचित और प्रचलित गाथाओं की काव्यात्मक प्रस्तुति अथवा उनका काव्यानुवाद सरीखा प्रबंधात्मक रचनाकार्य गुप्त जी अत्यंत मनोयोग से करते हैं। उनकी इसी चिंता की उपज है उनका विपुल बहुसंख्यक प्रबंध काव्य साहित्य।

'सिद्धराज' की भूमिका 'निवेदन' में वे लिखते हैं—'अपने मध्यकालीन वीरों की एक झलक पाने के लिये पाठक सिद्धराज पढ़ेंगे तो संभवत: उन्हें निराश न होना पड़ेगा।[1] आगे वे सूचित करते हैं कि पुस्तक की सामग्री के लिये लेखक 'मान्यवर महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा' के निकट विशेष रूप से ऋणी हैं। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने सिद्धराज संबंधी अपना उपन्यास भेजकर लेखक को सहायता दी है।'[2]

उनका इस प्रकार ज्ञात कथानकों पर काव्यानुवाद जैसा प्रतीति देने वाला रचनात्मक कार्य भी, वस्तुत: खड़ी बोली काव्यभाषा में भूत, वर्तमान और भविष्य से संदर्भित अपनी संपूर्ण मानवीय स्मृति का निर्माण कर रहा होता है। उन्हीं की पंक्ति 'हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी' ही उनकी संपूर्ण रचना चिंता की सही व्याख्या है। नैतिक मूल्यों की संस्थापक उनकी मानवतावादी दृष्टि कला को सिर्फ कला के लिये नहीं जीवन के लिये देखना चाहती है। इस प्रकार वे मूलत: उपयोगितावादी साहित्यकार हैं—

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।"[३]

और,

"संसार में कविता अनेकों क्रांतियां है कर चुकी,
मुरझे मनों में वेग की विद्युत्प्रभाएं भर चुकी।
है अंध सा अंतर्जगत् कविरूप सविता के बिना
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना
मृत जाति को कवि ही जिलाते रस सुधा के योग से,
पर मारते हो तुम हमें उलटे विषय के रोग से।
कवियो ! उठो, अब तो अहो ! कवि कर्म की रक्षा करो
सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो।"[४]

अपने समष्टिगत काव्यमूल्य और रचनादृष्टि के कारण ही प्रगतिशील यथार्थ का भी साक्षात्कार करते हुए गुप्त जी 'भारत-भारती' के पश्चात् 'किसान' और 'जयिनी' जैसे मार्क्सवादी अपेक्षाओं को पूरा करनेवाली कृतियाँ भी रचते हैं। यदि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में कहें तो 'गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने वाले कवि नहीं हैं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें है।'[५] गुप्त जी के इसी समन्यवादी दृष्टिकोण का परिणाम है उनकी ऐसी पंक्तियाँ—

'परम पिता के पुत्र सभी सम,
कोई नहीं घृणा के योग्य,
भातृ भाव पूर्वक रहकर सब
पाओ सौख्य शांति आरोग्य।"[६]

और,

'हिंदू हो या मुसलमान, नीच रहेगा फिर भी नीच,
मनुष्यत्व सबके ऊपर है, मान्य मही मंडल के बीच"[७]

सिक्ख गुरुओं पर लिखा गया उनका प्रबंध काव्य 'गुरुकुल' और इस्लामी इतिहास के नायक मुहम्मदशाह और इमाम हुसैन पर लिखा हुआ उनका काव्य 'काबा और कर्बला' उनकी रचनात्मक इतिहास दृष्टि को विश्वमानवता के चयनकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है। वर्तमान सांप्रदायिक और संकीर्ण परिस्थितियों में उनका मुक्त रचनात्मक कार्य अविश्वसनीय महत्वपूर्ण साहित्यिक

घटना ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार उनका 'अजित' शीर्षक काव्य भी आधुनिक युग की कटु सत्य समस्या पुलिस भ्रष्टाचार और उसके दुष्परिणामों को रेखांकित करता है।

कुछ लोगों ने गुप्त जी के वैष्णव संस्कारों वाले हिंदू परिवार का होने के कारण उनको हिंदूवादी और वैष्णव कवि होने जैसी उपाधियाँ दी हैं। इसके प्रत्युत्तर में यदि उन्हीं की यह पंक्तियाँ उद्धृत करें तो अंतर्निहित आशय और चेतना को पकड़ने पर भ्रम का स्वतः ही निराकरण हो जाता है—

आर्यभूमि अंत में रहेगी आर्य भूमि ही
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियाँ सबकी,
होगा एक विश्वतीर्थ भारत ही भूमि का।[८]

अपनी मातृभूमि को विकसित करने का यह सपना, क्या संपूर्ण धरती को ही मातृभूमि में बदल देने का भी सपना नहीं है? राष्ट्रकवि की पूरी दृष्टि अपनी प्राचीन आर्यभूमि पर वर्तमान में अन्य संस्कृतियों की उपस्थिति और उनके संमिलन को ही तो व्यक्त कर रही है! वस्तुतः वे भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता थे। किंतु अंधानुकरण की प्रवृत्ति इनमें नहीं थी— कालांतर में आ जाने वाली विकृतियों से इनके साहित्य का सांस्कृतिक पृष्ठाधार एकदम मुक्त है। दूसरे अपनी सांस्कृतिक परंपराओं में आस्था रखने पर भी उन्होंने युगधर्म की कभी उपेक्षा नहीं की।[९]

गुप्त जी मूलतः विचारक कवि हैं। अपनी विचार की अपेक्षाओं के अनुरूप ही वे उपेक्षिता किंतु संघर्षशील प्रसिद्ध नारी पात्रों में भी विचारक व्यक्तित्व एवं स्वातंत्र्य की खोज में उनके 'अर्जन और विसर्जन' काव्य की इउडोसिया कायर और देशद्रोही बन चुके अपने भूतपूर्व प्रेम और प्रेमी को अंतर्द्वंद्वजनित निर्मम निष्कर्ष से ठुकराकर आत्महत्या द्वारा उन्नत मूल्याकांक्षाओं के प्रति प्रतिबद्धता और समर्थन ही व्यक्त करती है—

कैसे करूँ? अर्पित है देह, लो यही,
आओ वीर! पूरी करो तुम निज वासना।[१०]
निज गौरव का नित ज्ञान रहे,
हम भी कुछ हैं यह ध्यान रहे[११]
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे।[१२]

'सहानुभूति चाहिए, महाविभूति है यही'।[१३] तथा 'मनुष्यमात्र बंधु है, यही बड़ा विवेक है'—[१४] जैसी अमर मानवतावादी पंक्तियों के रचयिता गुप्त जी 'हमें अपने जीवन के प्रत्येक क्षण के लिये प्रेरणाप्रद वाणी प्रदान करते हैं। उनकी वाणी में मंत्रों जैसी अद्भूत सामर्थ्य है।[१५] वस्तुतः वे तरल मानवीय संवेदनाओं के कवि हैं। सहानुभूति और संवेदना का यह अजस्र प्रवाह केवल मनुष्य के प्रति

ही नहीं है। उनकी चयन शीर्षक कविता का सुमन भी अपने साथी के तोड़ लिये जाने पर आर्त्तनाद करता है—

चुन ले चला हमारा साथी सुमन कहाँ तू,
माली कठोर माली।[१६]

गुप्त जी भारतीय साहित्यिक सांस्कृतिक विरासत के सच्चे उत्तराधिकारी कवि हैं। पौराणिक विजय तथा पात्रों को लेकर रचा गया उनका 'शक्ति' शीर्षक खंड काव्य गौड़ी रीति, वीप्सा अलंकार, वीर और भयानक रस जैसी काव्यशास्त्रीय कोटियों का भी संरक्षण करता है। इसी प्रकार राजपूत राजाओं के इतिहास पर आधारित उनका 'सिद्धराज,' 'रंग में भंग' तथा 'विकट भट' जैसे काव्य भी।

कलात्मक अन्वेषणप्रियता और आवश्यकता ने परवर्ती गुप्त जी को बहु-आयामी कलाकार कवि बना दिया है। मुक्त गेय पदावली तथा छायावादी शिल्प का वैभव उनके 'कुणाल गीत' शीर्षक प्रबंध मुक्तक काव्य में देखा जा सकता है। उनके 'सिद्धराज' शीर्षक प्रबंधकाव्य की शैली उनकी पूर्ववर्ती कविताओं की तरह तुकांत न होकर नई कविता की तरह अतुकांत मुक्त छंद में है फिर भी अभिव्यक्ति में लय और मात्राओं की प्रायः समान आवृत्ति छंदबद्ध कविता की तरह प्रभाव पैदा करती है। यह प्रमाणित करती हुई कि क़विता सिर्फ छंद ही नहीं कल्पना, रस, संवेदना और भावानुभूति भी है। यही कारण है कि गद्य से अलग टूटी हुई पंक्तियों में लिखी उसकी समस्त अभिव्यक्तियाँ सिर्फ कथा नहीं कविता हैं—

"सार्थक वसंत काल मधु था रसाल था—
बौरे महुए थे वहाँ और आम मौरे थे।
फूले थे असंख्य फूल भौरे सुध भूले थे,
आ गयी थी उष्णता खगों के कलकंठों में,
गंध छा गया था मंद शीतल समीर में," [१७]

विश्व बंधुत्व और करुणा तो गुप्त जी का मूलभाव है ही—

मैत्री करुणा में कल्याण
विश्व बंधुता में ही त्राण[१८]

और,

अर्पित हो मेरा मनुज काय
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय[१९]

सच तो यह है कि मूल्यचेतना के अभाव में गुप्त जी कुछ भी नहीं लिखते। यहाँ तक कि मध्ययुगीन राजपूत इतिहास पर आधारित उनके 'रंग में भंग' तथा 'विकट भट' जैसे काव्य भी किसी न किसी बृहत्तर मानव मूल्य को समर्पित हैं। इसके साथ ही गुप्त जी खड़ी बोली हिंदी कविता में राजनीतिक चेतना के संस्थापक कवि हैं। इस क्षेत्र में परवर्ती राष्ट्रकवि दिनकर जैसी सघनता, अपनी द्विवेदीयुगीन विवरणात्मक शैली की पृष्ठभूमि, संस्कार या

सोहसीमा के कारण वे भले ही न दे सके, अपनी विषय व्याप्ति से वे निश्चय ही उन्हें पीछे छोड़ देते हैं।

अंत में, हिंदी जनमानस में ब्रजभाषा के समानांतर खड़ी बोली काव्य को प्रतिष्ठित करने के रचनात्मक प्रयास के रूप में, महाभारत की कथाओं—उपकथाओं पर लिखे हुए गुप्त जी के अनेक प्रबंधकाव्यों—'हिडिंबा', 'सैरंध्री', 'वनवैभव', 'बक संहार', 'नहुष', 'युद्ध' तथा 'जयद्रथ वध' आदि को देखा जा सकता है। इनके महाकाव्य 'जयभारत' और महाकवि सूरदास के ब्रजकाव्य 'सूरसागर' की तुलना की जा सकती है। जहाँ सूरदास जी ब्रजभाषा के पदों में समकालीन जनता के लिये श्रीमद्‌भागवत को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं वहाँ गुप्त जी संस्कृत काव्य 'महाभारत' को खड़ी बोली कविता में। यद्यपि उनकी बहुत सी रचनाएँ निरा काव्यानुवादक के कार्य जैसी प्रतीति दे सकती हैं, लेकिन अपनी विरासत को समकालीन लोकभाषा में पुनः प्रस्तुत करने और उसे जनमानसगम्य रूप में प्रस्तुत करने के युगीन प्रयास की भूमिका में उनके ऐसे समस्त रचनात्मक कर्म खड़ी बोली को लोकभाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान करने का ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण दायित्व और प्रयास भी प्रस्तुत करते हैं।

संदर्भ—

१. सिद्धराज' १३ वाँ सं०, साहित्य प्रेस, चिरगांव झांसी।
२. वही, 'निवेदन'।
३. भारत भारती पृ० १७१।
४. वही, पृ० १७२।
५. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१८।
६. गुरुकुल पृ० ४३।
७. वही, पृ० ३।
८. सिद्धराज; पृ० १३६।
९. डा० नगेंद्र संपादित, 'हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०७।
१०. अर्जन और विसर्जन, पृ० १८।
११. 'स्वर्गीय संगीत' शीर्षक कविता मंगलघट, पृ० २८६।
१२. वही पृ० २८८।
१३. व १४ वही' पृ० २८९।
१५. 'अतएव' प्रवेशांक, विश्वनाथ मिश्र का लेख, "सुभाषित जैसी शक्ति, पृ० २६८।
१६. 'मंगलघट', पृ० २४५।
१७. सिद्धराज, पृ० ११८।
१८. कुणाल गीत, पृ० ११२।
१९. वही।



क्या गुप्त जी सांप्रदायिक हैं ?

डा० सुरेंद्र तिवारी

गुप्त जी वैयक्तिक स्तर पर भले ही हिंदू हों लेकिन उनका सामाजिक पक्ष मानवता की उच्चभूमि पर स्थित है जिसमें जाति, धर्म और संप्रदाय की संकुचित सीमा टूटकर सर्वधर्म समभाव की भावना समाहित है। धर्म निरपेक्ष कवि हैं जिनके काव्य में सांप्रदायिकता की झलक लेश मात्र नहीं है। वे मानवता के सच्चे अर्थों में पुजारी हैं जो आत्मप्रसार को विश्वप्रसार से जोड़ना चाहते हैं। चित्रकूट की पर्णकुटी में राम सीता से कहते हैं—

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित हैं।

× ×

भव में नर वैभव भरने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया !
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

—साकेत: अष्टम सर्ग

जो कवि इस भूतल को स्वर्ग में तब्दील करने की कामना करता हो उसे सांप्रदायिक कैसे कहा जा सकता है ? 'भव में नर वैभव भरना', 'नर को ईश्वरता प्राप्त कराना',—ऐसी अभिनव दृष्टि से संपन्न कवि को रूढ़िवादी कैसे कहा जा सकता है ? यह पृथ्वी स्वर्ग तभी बन सकती है जब हम पहले अपनी प्राचीन मान्यताओं एवं आदर्शों का अनुशीलन करें। अपने अंदर छिपे हुए असामाजिक तत्वों का सर्वथा परित्याग करें। तत्पश्चात् सुंदर परिवेश के निर्माण की ओर ध्यान दें, फिर स्वदेश की ओर दृष्टि दौड़ाएँ और अंत में अखिल विश्व से प्रेम करें। तात्पर्य यह कि हमारा मिशन एक ठोस कार्यक्रम के तहत रचनात्मकता की ओर अग्रसर हो। युगधर्म का संदेश जिस ज्वलंत रूप में गुप्त जी की रचनाओं में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। साकेत में उर्मिला का चरित्र चित्रण और वह भी एक नायिका के रूप में, गुप्त जी की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

यदि यह मान लिया जाय कि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में हिंदू और हिंदूवाद पूरी तरह व्यक्त हुआ है तो भी क्या हिंदू शब्द अपने आप में सांप्रदा-

यिकता का द्योतक है ? गुप्त जी का हिंदूवाद क्या है, इसे हमें देखना है। हिंदू की परिभाषा ही भारतीय के अर्थ में मनीषियों द्वारा की गई है—जो भारत को मातृभू, पितृभू और पुण्यभू माने वह हिंदू है—

आसिंधु सिंधु पर्यंता यस्य भारत भूमिका
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिंदूरिति स्मृतः।

डा० एनी बेसेंट ने भारत और हिंदुत्व की व्यापकता को इस तरह व्यक्त किया है—'भारत और हिंदुत्व एक हैं। कोई गलती न करो, बिना हिंदुत्व भारत का भविष्य नहीं है। हिंदुत्व की भूमि में ही भारत की जड़ें हैं।' हिंदुत्व वह धागा है जो आर्य द्रविड़, उत्तर दक्षिण, पूर्व पश्चिम को बाँधता है। कुलार्णव तंत्र में भी हिंदू की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'हिमालय से लेकर इंदु सरोवर (कन्याकुमारी) तक, हिमालय का आदि अक्षर (हि) और इंदु के अंतिम अक्षर (दु) हिंदुस्तान का वाचक है।' इसी प्रकार बार्हस्पत्य शास्त्र, विष्णुपुराण आदि में भी हिंदू शब्द की असांप्रदायिक एवं मानवता से जुड़ी हुई व्याख्या की गई है। स्वामी विवेकानंद ने हिंदू धर्म पर बहुत कुछ कहा है। महात्मा गांधी ने भी अपने को हिंदू स्वीकार किया है। तो क्या इन दोनों महान् विभूतियों को सांप्रदायिकता फैलाने वाला कहा जा सकता है। गांधी जी के अनुयायी मैथिलीशरण गुप्त का हिंदूवाद विवेकानंद और गाँधी के हिंदूवाद से पृथक् नहीं है। गुप्त जी को सांप्रदायिक सोचना सर्वथा संकुचित दृष्टि का परिणाम है। इनकी दृष्टि में हिंदू का अर्थ हिंदुस्तान की जनता से, मातृभूमि के प्रति तन-मन-धन से सेवा करने से है। इसी लिए उन्होंने कहा है—'जिए हमारा हिंदुस्तान'।

मैथिलीशरण गुप्त ने भारत भारती में भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य का व्यापक चित्रण किया है। यहीं से विवाद की जड़ शुरू हो जाती है और कुछ लोग उन्हें कट्टर हिंदू करार देते हैं। भारत भारती में वे जिस हिंदू की बात करते हैं वह अपने देश में, इतिहास में, परंपरा में, संस्कृति और सभ्यता में, साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्र में प्रगतिशील विश्वास और आस्था रखनेवाला भारतीय है। गुप्त जी ने उस हिंदुत्व की बात की है जिसका स्वर है—

'वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाणे रे।'

अर्थात् उनका हिंदुत्व रूढ़िवादी नही वरन् प्रगतिशील है। भारत भारती में उन्होंने इस विषय पर गहन चिंतन किया है—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।
यद्यपि हमें इतिहास अपना प्राप्त पूरा है नहीं,
हम कौन थे, इस ज्ञान को, फिर भी अधूरा है नहीं।

(—अतीत खंड : उपक्रमणिका)

'पीछे हुआ सो हो गया अब सामने देखो सभी' कहकर गुप्त जी केवल अतीत की ही बात नहीं करते वरन् भविष्य के पथ की ओर संकेत भी करते हैं। विजयिनी मानवता के लिये समन्वय की जरूरत है। इसमें केवल हिंदू से ही नहीं अपितु सभी धर्म, सभी संप्रदाय के लोगों से आगे देखने का आग्रह किया गया है। इनका 'सभी' शब्द इस आरोप का खंडन करता है कि गुप्त जी केवल हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के पक्षधर हैं। गुप्त जी ने अतीत पर काफी विचार किया है इसके मायने यह नहीं कि वे अतीत की कट्टर सांप्रदायिक प्रवृत्तियों का पुनरुत्थान करना चाहते हैं जो मुसलमानों, अँगरेजों एवं धर्म के तथाकथित ठेकेदारों द्वारा फैलाई गई थीं। वे अतीत के माध्यम से उन प्रवृत्तियों को तीव्र गति से प्रवाहित करना चाहते हैं जिनमें सर्व-धर्म-समभाव की भावना हो। वे उस भारतीय मृत्युंजयिनी संस्कृति का गुणगान करते हैं जिसमें वीर मरकर भी जीवित रहते हैं। वे कहना चाहते हैं कि भारत का उत्थान तभी होगा जब हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई परस्पर हिलमिल कर रहेंगे। एक नौका का प्रतीक यह साफ बताता है कि रास्ता भी एक है और सोच भी एक होनी चाहिए। उन्हीं के शब्दों में —

हिंदू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ,
जो एक का होगा अहित तो दूसरे का हित कहाँ ?
सप्रेम हिलमिल कर चलो, यात्रा सुखद होगी तभी;
पीछे हुआ सो हो गया; अब सामने देखो सभी।
(— भारत भारती वर्तमान खण्ड,३)

वर्तमान समय में व्याप्त सभी तरह की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक अन्य कुरीतियों का स्पष्ट चित्रण भारत भारती में किया गया है।

भारत का भविष्य किस तरह उज्ज्वल हो इसके लिये गुप्त जी सर सयाजी राव जैसे आदर्श नृप, भीष्म तुल्य महात्मा, लोकमान्य तिलक, राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, ईश्वरचंद्र, विद्यासागर, देवेंद्र नाथ, राजेंद्र लाल, जगदीश एवं प्रफुल्ल चंद्र के समान विज्ञान वेत्ता, भांडारकर, बापूदेव आदि महापुरुषों के आदर्शों का अनुकरण करने के लिये प्रेरणा देते हैं। वे 'वसुधैव कुटुंबकम्' के सच्चे हिमायती हैं—

आओ, मिलें सब देशबांधव हार बनकर देश के,
साधक बनें सब प्रेम से सुखशांतिमय उद्देश के।
क्या सांप्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो !
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो ?
रक्खो परस्पर मेल मन से छोड़कर अविवेकता,
मन का मिलन ही मिलन है, होती उसी से एकता।

तन मात्र के ही मेल से है मन भला मिलता कहीं,
है बाह्य बातों से कभी अंतःकरण खिलता नहीं।
है कार्य ऐसा कौन-सा साधे न जिसको एकता ?
देती नहीं अद्भुत अलौकिक शक्ति किसको एकता ?
दो एक एकादश हुए, किसने नहीं देखे सुने ?
हाँ, शून्य के भी योग से हैं अंक होते दश गुने।
(—भारत-भारती भविष्यत् खंड)

'काबा और कर्बला' गुप्त जी का मुस्लिम दर्शन संबंधी काव्य है। काबा मुहम्मद साहब की पवित्र भूमि है और कर्बला बलिदान की कहानी से जुड़ी है। अतः गुप्त जी ने मुसलमानों के त्याग और बलिदान की भावना पर गहन चिंतन किया है। इसी तरह गुप्त जी ने गौतम बुद्ध, ईसामसीह, आदि महापुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। भारत विभाजन की टीस गुप्त जी के मन में आजीवन बनी रही। स्पष्ट है—

एक बार बँट चुका, इसे अब और न बाँटों,
अपने हाथों अंग आप अपने मत काटो।
भारतीय क्या यथापूर्व हम नहीं रहेंगे ?
कितने पाकिस्तान भला अब और सहेंगे ?
(—काबा और कर्बला)

कितना मार्मिक एवं प्रासंगिक है राष्ट्रकवि का यह हार्दिक संदेश कि सांप्रदायिकता, जातीयता, क्षेत्रीयता तथा अन्य संकुचित प्रवृत्तियों को छोड़कर हम सर्वप्रथम अपने को भारतीय मानें। गुप्त जी के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता अनेकता में एकता की भावना है। सबके प्रति अपना संमान व्यक्त करते हुए उन्होंने अपनी 'मातृ मंदिर' शीर्षक कविता में कहा है—

जाति, धर्म या संप्रदाय का, नहीं भेद व्यवधान यहाँ,
सबका स्वागत, सबका आदर, सबका सम संमान यहाँ,
राम, रहीम, बुद्ध, ईसा का सुलभ एक सा ध्यान यहाँ,
भिन्न भिन्न भव संस्कृतियों के गुण गौरव का ज्ञान यहाँ;
नहीं चाहिए बुद्धि वैर की, भला प्रेम उन्माद यहाँ,
सबका शिवकल्याण यहाँ है, पाओ सभी प्रसाद यहाँ।

उनके 'साकेत' और 'जयभारत' दोनों को ही युगधर्म और मानववाद की प्रतिष्ठा का अपूर्व गौरव प्राप्त है। गुप्त जी उच्चाशयी कवि हैं, उनके काव्य में कट्टर सांप्रदायिक भावना का पूर्णतः अभाव है। समाज का एक महत्वपूर्ण पक्ष नारी के प्रति उनके विचार तो हिंदी साहित्य जगत् की एक उपलब्धि है। साकेत, यशोधरा द्वापर, जयभारत, विष्णुप्रिया आदि में नारी

संबंधी उनके विचार सराहनीय हैं। 'नारी की व्यथा कथा नर की, नर का विकास नारी का क्षय' आदि कहकर कवि ने आधुनिक समाज में नारी शोषण तथा उसकी दयनीय स्थिति का मार्मिक उद्घाटन किया है। अन्यत्र भी—

नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है,
अश्रु शेष रखकर वह उनसे प्रभुपद धरे जाती है।'

(जयभारत—द्रौपदी: सत्यभामा)

गुप्त जी मन वचन और लेखनी से कहीं भी पूर्वग्रह ग्रसित होते तो वे अपने काव्य में उपेक्षित पात्रों को स्थान नहीं देते। गोस्वामी तुलसीदास जैसे कवि ने भी उर्मिला को अपने यहाँ स्थान देना उचित नहीं समझा, उसको गुप्त जी ने अपने साकेत की नायिका बनाया। यह उनकी प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है। यदि गुप्त जी कट्टर सांप्रदायिक होते तो सीता माता की मूर्ति बनाकर मंदिर में पूजा-अर्चना करते, न कि उन्हें वन में एक भारतीय नारी की तरह गृहस्थी सँभालते हुए दिखाते। चित्रकूट में पर्णकुटी के इर्द गिर्द लगे हुए पौधों की सिंचाई करती हुई वे कैसी लग रही हैं—

अंचल पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
+ + +
कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट से।
थे पत्र पुंज में अलग प्रसून प्रकट से !

(—साकेत: अष्टमसर्ग)

इस प्रकार सांप्रदायिकता का चश्मा लगाकर गुप्त जी के काव्य में यत्र तत्र बिखरे हुए कुछ शब्दों और उनसे व्यक्त होने वाले छिछले अर्थों को देखकर उन्हें सांप्रदायिक पुनरुत्थानवाद का कवि करार देना, न तो इस महाकवि के प्रति न्याय है और न ही स्वच्छ दृष्टि का परिचायक है। अंत में आधुनिक युग की मीरा महादेवी वर्मा के ही शब्दों में—'···हम हिंदी के लोग- कितने कृतघ्न हैं कि जो एक प्रकार से हिंदी कविता (खड़ी बोली) के जन्मदाता थे, जिनकी अँगुली पकड़कर कविता ने चलना सीखा, उन्हीं को हम आज अस्वीकार कर रहे हैं। सुना है अब हमारे यहाँ कुछ ऐसे महान् आलोचक हो गए हैं जो दद्दा को कवि ही नहीं मानते। इससे बड़े दुर्भाग्य की बात और क्या होगी··'।



छंद की तलाश में राष्ट्रकवि

डा० किशोरीलाल गुप्त

यों तो खड़ी बोली में कविता करने की ओर किंचित् रुझान भारतेंदु युग ही में प्रारंभ हो गई थी, पर इस रुझान ने जोर उस समय पकड़ा, जब १९०१ ई० में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक हुए। सरस्वती में उस युग के प्रसिद्ध चित्रकार राजा रवि वर्मा, बाबू ब्रजभूषण राय चौधरी, बाबू बामापद वंद्योपाध्याय, श्रीयुत् एम० पी० धुरंधर के चित्र भी प्रकाशित होते थे। आचार्य द्विवेदी ने इन चित्रों पर या तो स्वयं कविताएँ लिखीं या राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शर्मा 'शंकर,' कामताप्रसाद गुरु, मैथिलीशरण गुप्त से कविताएँ लिखवाईं। ऐसी कविताओं का, उन चित्रों के सहित, एक संकलन 'कविता कलाप' नाम से २ फरवरी १९०९ ई० को इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से निकला, जिसके संपादक स्वयं आचार्य द्विवेदी थे।

मैथिलीशरण गुप्त की पहली रचना कलकत्ता से प्रकाशित 'वैश्योपकारक' में १९०५ ई० में छपी थी। उस समय गुप्त जी १९ वर्ष के वय के नवयुवक थे। १९०६ ई० से उनकी रचनाएँ सरस्वती में भी छपने लगीं। चित्रों पर लिखी हुई उनकी कुल २७ कविताएँ 'कविता कलाप' में संकलित हुई हैं। ये १९०६, १९०७, १९०८ इन तीन वर्षों में लिखी गई थीं। इस संग्रह में पूर्ण जी की ८ रचनाएँ हैं, जो ब्रजभाषा में है। इनमें अन्य चार कवियों की रचनाएँ खड़ी बोली में हैं। इनमें शंकर जी की २, गुरु जी की २ और द्विवेदी जी की ७ रचनाएँ हैं। इन कविताओं के विषय चित्रों के आधार पर हैं। विषय के चयन में कवि स्वतंत्र नहीं रहा है। उसे विषय नहीं ढूँढने पड़े हैं। विषय क्रम से मैथिली बाबू की ये २७ कविताएँ यों वर्गीकृत की जा सकती हैं :—

१. पौराणिक—— १। २१ रुक्मांगद और मोहिनी——(एकादशी की कथा)

२. रामकथा—— १/३७ रामचंद्र जी का गंगावतरण——(गंगा पार उतरना)

२। २१ अशोकवासिनी सीता

३। ३६ सीता जी का पृथिवी प्रवेश

३. कृष्णकथा—— १। २४ राधाकृष्ण की आँख मिचौनी

४. महाभारत कथा—— १। १३ व्यास स्तवन

२। २७ सती सावित्री

३। २१ दमयंती और हंस

४ । ३४ शकुंतला-पत्र-लेखन
५ । २३ भीष्म प्रतिज्ञा
६ । १७ द्रौपदी दुकूल
७ । १६ अर्जुन और उर्वशी
८ । ३४ अर्जुन और सुभद्रा
६ । ३३ द्रौपदीहरण
१० । २६ कीचक की नीचता
११ । १८ केशों की कथा
१२ । ३२ रण निमंत्रण
१३ । ४६ कुंती और कर्ण
१४ । १५ उत्तरा से अभिमन्यु की विदा

५. संस्कृत काव्यों पर आधारित कथाएँ :—

१ । २८ प्राणघातकमाला--अज की पत्नी इंदुमती की मृत्युकथा—(रघुवंश के आधार पर अनूदित)

२ । २२ मालती महिमा--भवभूति के 'मालती माधव' पर आधारित ।

३ । १४ रत्नावली--हर्ष की 'रत्नावली' नाटिका पर आधारित ।

६. काल्पनिक

१ । १६ मनोरमा--एक दक्षिणी नारी
२ । २० मोहिनी--झूला झूलती हुई एक नारी
३ । २६ सलज्जा
४ । ३५ गर्विता
५ । ३८ सुकेशी--एक मलाबार सुंदरी

इन २७ कविताओं में राष्ट्रकवि की खड़ी बोली के उपयुक्त छंद की खोज की जा सकती है । १४ कविताओं में मात्रिक और १३ कविताओं में वर्णिक छंदों का प्रयोग हुआ है । मात्रिक छंद ११ हैं और वर्णिक छंद १० । आगे इसके विवरण दिए जा रहे हैं ।

मात्रिक छंद

१. पद्धरि

पद्धरि के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, अंत में गुरु लघु होता है । व्यास स्तवन नामक कविता इस छंद में लिखित है । इसमें कुल १७ छंद हैं ।

कर वेदों का तुमने विभाग
रक्षा की उसकी सानुराग
वेदांत सूत्र रचकर अमोल
हैं दिए हृदय के नेत्र खोल । ८

२. पज्झटिका

पज्झटिका के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। 'सलज्जा' की रचना इसी छंद में हुई है। इसके प्रत्येक चरण के अंत में ल ग होता है। प्रस्तुतः कविता में कुल १२ छंद हैं।

कर धरे चिबुक पर रुचिर महा
संकुचित हुई सी. खड़ी यहाँ
अवलोक तुझे लज्जिते प्रिये
लज्जित लज्जा भी आज हिये १

३. चौपाई

चौपाई के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। अंत में गुरु लघु नहीं होना चाहिए। अंत में २ गुरु या २ लघु हो सकते हैं। 'सती सावित्री' की रचना चौपाई छंद में हुई है। इसमें २२ छंद हैं।

सुता अश्वपति नृप के अति प्यारी
सावित्री थी अति सुकुमारी
उस भूपति ने कर तप भारी
पाई थी वह एक कुमारी।२

इस कविता में यत्र तत्र १५ मात्राओं का चौपाई छंद भी प्रयुक्त हो उठा है। यथा छंद १ के तृतीय चतुर्थ चरण—

सावित्री का चरित पवित्र
इसका उदाहरण है मित्र

४. राधिका

प्रत्येक चरण में १३, ९ के विराम से २२ मात्राएँ होती हैं। 'प्राणघातक माला' की रचना इसी छंद में हुई है। इसमें कुल ३८ छंद हैं-—

मन से भी मैंने किया न विप्रिय तेरा
फिर करती है क्यों त्याग, प्रिये तू मेरा
हूँ पृथ्वी का तो नाम मात्र को पति में
रखता तुझ में ही किंतु हृदय की रति में।२१

प्रथम छंद के प्रथम दो चरणों में २१ ही मात्राएँ हैं

कर प्रजा निरीक्षण एक बार सानंद
वर पुत्रवान अज प्रिया संग स्वच्छंद।

५. रोला

११, १३ के विश्राम से इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। इस छंद में दो रचनाएँ हैं—१. 'अर्जुन और सुभद्रा,' २. 'कुंती और कर्ण'।

जब दुर्योधन किए बिना संग्राम सरासर
देने लगा न भूमि, सुई की नोक बराबर
जब न एक भी बात संधि की, उसने मानी
तब विग्रह को विवश हुए, पांडव विज्ञानी।

—'कुंती और कर्ण'–१

'कुंती और कर्ण' में कुल २० छंद हैं। अंतिम छंद छप्पय है। 'अर्जुन और सुभद्रा में १४ रोला हैं।

६. सार

१६, १२ के विराम से सार के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं। अंत में २ गुरु होते हैं। 'द्रौपदी-हरण' इसी छंद में लिखित है। इसमें कुल १८ छंद हैं—

सज्जित हो अनुकूल वेश से, अस्त्र शस्त्र सब धारे
एक बार वनवासी पांडव, थे मृगयार्थ सिधारे
उसी समय उनके आश्रम में, सिंधु देश का स्वामी
आकर कृष्णा से यों बोला, नृपति जयद्रथ कामी १

७. हरिगीतिका

प्रत्येक चरण में १६, १२ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। अंत में लघु गुरु होते हैं। पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं और छब्बीसवीं मात्राएँ सदैव लघु होती हैं। रणनिमंत्रण, उत्तरा से अभिमन्यु की विदा, केशों की कथा ये तीन कविताएँ हरिगीतिका छंद में हैं। इनमें क्रमशः २३, २१, ३१ छंद हैं—

तात, तजिए सोच को, है काम ही क्या क्लेश का
प्रकटित करूँगा व्यूह में मैं द्वार शीघ्र प्रवेश का
यों पांडवों से कह, समर को वीर वह सज्जित हुआ
छवि देख उसकी उस समय, सुरराज भी लज्जित हुआ।

—'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा ५।

८. ताटंक

ताटंक के प्रत्येक चरण में १६, १४ के विराम से ३० मात्राएँ होती हैं। अंतिम वर्ण गुरु होता है। इस छंद में 'द्रौपदी दुकूल' नामक रचना है। इसमें कुल ३७ छंद हैं।

२५

जब जिस पर जो पड़ी आपदा, तुमने उसे बचाया है
तो फिर क्यों इस भाँति दयामय, तुमने मुझे भुलाया है
इस मरणाधिक दुःख से जो मैं, मुक्ति आज पा जाऊँगी
गणिका गज गृद्धादिक से मैं, कम न कीर्ति फैलाऊँगी। २५।

९. दोहा

यह अर्द्ध सम मात्रिक है। इसके विषम चरणों में १३-१३, और सम चरणों में ११ ११ मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के आदि में जगण (ISI) न होना चाहिए। सम चरणों के अंत में गुरु लघु होना चाहिए। इस छंद में अशोकवासिनी सीता की रचना हुई है। इसमें कुल २४ दोहे हैं।

नंदन वन से भी रुचिर, यह अशोक वन आज
है इनको रौरव सदृश; बिना राम रघुराज १०।

१०. कुंडलिया

कुंडलिया ६ चरणों का विषम छंद है। दोहा+रोला=कुंडलिया। दोहे का चतुर्थ चरण, रोला के प्रथम चरण में दुहराया जाता है और दोहे के प्रथम शब्द रोला के अंतिम शब्दों के रूप में कुंडलित होते हैं। शकुंतला पत्रलेखन कुंडलिया छंदों में विरचित है। इसमें कुल १५ कुंडलियाँ हैं।

देता है कृश तनु मुझे, ताप मात्र ही काम
किंतु भस्म करता मुझे, निशि दिन आठो याम
निशि दिन आठो याम, काम है मुझे जलाता
दहन दुःख अनुभवी, तदपि वह दया न लाता
कुमुदिनि का तो दिवस हास्य ही हर लेता है
किंतु शशी को क्षीण दीन वह कर देता है। १४

११. छप्पय

यह भी ६ चरणों का विषम छंद है। रोला+उल्लाला=छप्पय। रोला के प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। उल्लाला दो पंक्तियों में लिखा जाता है। प्रत्येक दल में १५+१३=२८ मात्राएँ होती हैं। 'कीचक की नीचता' छप्पय छंदों में है। इसमें कुल २५ छप्पय हैं। "कुंती और कर्ण" का भी अंतिम छंद छप्पय ही है।

दृढ़ प्रतिज्ञ यों देख कर्ण को कुंती रानी
बोल सकी इस हेतु न उससे फिर कुछ वाणी
इसी विषय का चित्र बनाकर यह मन भाया
ब्रज बाबू, चातुर्य चरम तुमने दिखलाया।

यह दृश्य देखकर कौन जन, करता यों न विचार है
इस क्षणभंगुर संसार में, एक धर्म ही सार है। २७

व्रजबाबू चित्रकार हैं। यहाँ उन्हीं को संबोधित किया गया है। प्रायः अन्य सभी कविताओं में भी चित्रकार और चित्र की प्रशंसा है, पर यह प्रशंसा अन्य पुरुष में है, मध्यम पुरुष में नहीं।

वर्ण वृत्त

१. इंद्रवज्रा

इंद्रवज्रा के प्रत्येक चरण में त त ज ग ग के क्रम से कुल ११ वर्ण होते हैं। 'भीष्म प्रतिज्ञा' में इंद्रवज्रा ही प्रयुक्त है। इसमें कुल ४५ छंद हैं।

मैं राज्य की चाह नहीं करूँगा
है जो तुम्हें इष्ट वही करूँगा
संतान जो सत्यवती जनेगी
राज्याधिकारी वह ही बनेगी २६

२. द्रुतविलंवित

यह १२ वर्णों का गण-वृत्त है। इसका लक्षण है—'द्रुतविलंवित ना भ भ री कहो। इसमें न, भ, भ, र गण होते हैं। इस गणवृत में दो रचनाएँ हैं—१. मनोरमा, २. अर्जुन और उर्वशी। मनोरमा में १० और अर्जुन और उर्वशी में २३ छंद हैं।

कुल वधू जन को पति ही सदा
श्रुति प्रदर्शित उत्तम संपदा
स्वपति का कर चिंतन यों कहो
फिर सरले, यह तन्मय क्यों न हो।

—मनोरमा १०।

३. इंद्रवंशा

इंद्रवंशा १२ वर्णों का गणवृत है। इसके प्रयेक चरण में त त ज र गण होते हैं। रुक्मांगद और मोहिनी उनका प्रणपालन में इस वृत्त का प्रयोग हुआ है। इसमें कुल ३५ छंद हैं।

अनित्य है जीवन, देह नश्य है
कभी सभी को मरना अवश्य है
धर्मार्थ देते सिर दान संमुख
तो चाहिए क्यों करना वृथा दुःख ३२।

४. वसंततिलका

इस गण वृत के प्रत्येक चरण में १४ वर्ण होते हैं। इनका क्रम है—त भ ज ज ग ग। मालती महिमा में यह गण वृत प्रयुक्त है। इसमें कुल २५ छंद हैं। अंतिम छंद मालिनी है वसंततिलका नहीं।

है आज तो दिवस कृष्ण चतुर्दशी का
पूरा विकास फिर क्यों यह है शशी का
यों चित्त को चकित जो कर डालती है
ऐसी मयंकवदनी यह मालती है १।

५. मालिनी

मालिनी नामक गण वृत के प्रत्येक चरण में न न म य य के क्रम से १५ वर्ण होते हैं। दमयंती और हंस इसी वृत्त में विरचित है। इसमें १५ छंद हैं।

प्रिय गुण सुनने में चित्र सी ध्यान लग्ना
किस विध दमयंती हो रही प्रेममग्ना
सुकवि इस दशा में जान पाते यही हैं
श्रुति गत सब मानों इंद्रियाँ हो रही हैं

६. मंदाक्रांता

मंदाक्रांता गण वृत में ४,६,७ वर्णों के विराम से म भ न त त ग ग के क्रम से प्रत्येक चरण में १७ वर्ण होते हैं। गर्विता की रचना इसी गण वृत में हुई है। इसमें कुल २० छंद हैं।

नीतिज्ञों का यह कथन है—'भूल जाते सभी हैं
कैसे मानूं फिर न मुझसे, दोष होते कभी हैं
तो भी स्वामी मुझ पर सदा हैं कृपा ही दिखाते
प्रेमज्ञों को प्रणमिजन के दोष भी हैं सुहाते ७

७. शिखरिणी

'रस स्थाणु युक्त, य म न स भ ला गा शिखरिणी'। शिखरिणी में रस (६) और स्थाणु (रुद्र ११) के विराम के सहित प्रत्येक चरण में १७ वर्ण होते हैं। य म न स भ ल ग वर्ण क्रम है। 'सीता का पृथिवी प्रवेश तथा रामचंद्र जी का गंगावतरण रचनाएँ शिखरिणी नामक गण वृत में हैं। पृथिवी प्रवेश में २५ एवं गंगावतरण में ११ छंद हैं।

परवारूँगा सारी पद रज तुम्हारी न जब लौं
उतारूँगा स्वामी पर न तुमको पार तब लौं

न मारें क्यों होके कुपित मुझको लक्ष्मण यहीं
लगाऊँगा नौका पदकमल धोये बिन नहीं
—रामचंद्र जी का गंगावतरण, १०

गंगावतरण का अंतिम छंद ११ शिखरिणी न होकर शार्दूल विक्रीडित है।

८. शार्दूल विक्रीडित

इस गण वृत में १२, ७ वर्णों की यति से प्रत्येक चरण में कुल १९ वर्ण होते हैं। गण क्रम है--म स ज स त त ग। रत्नावली इसी गण वृत्त में रचित है। इसमें कुल २५ छंद हैं।

आभापूर्ण मनोज्ञ नीलमणि से हैं दिव्य दोनों चख
हीरों के सम दाड़िमी दशन हैं, मुक्ता फलों से नख
त्योंही विद्रुम पद्मराग सम हैं, बिंबोष्ठशोभा भली
श्री संयुक्त सुवर्ण गात्रि यह यों, है ठीक रत्नावली ३।

चख नख के 'ख' दीर्घवत उच्चरित होंगे।

९. दुर्मिल सवैया

दुर्मिल सवैया के प्रत्येक चरण में ८ सगण होते हैं। चोथे सगण के बाद यति होती है। मोहिनी की रचना दुर्मिल में हुई है। इसमें ८ दुर्मिल हैं।

सुख-सागर मध्य निमग्न हुई, निज देह-दशा तक भूल रही
उपमा इसके अनुकूल कहाँ, नव कल्पलता सम फूल रही
पहने अति दिव्य दुकूल हरा, दिखलात किसे छवि-मूल रही
सज रोल प्रफुल्ल कदंब तले, मनमोहिनी मोहिनी मूल रही १

१०. घनाक्षरी

घनाक्षरी दंडक मुक्तक वर्णवृत्त है। इसमें गण वधान नहीं होता। प्रत्येक चरण में १६, १५ के विराम से ३१ वर्ण होते हैं। अंतिम वर्ण गुरु होता है। 'राधाकृष्ण की आँख मिचौनी' और 'सुकेशी' घनाक्षरी में विरचित हैं। आँख मिचौनी में १० कवित्त और सुकेशी में ८ कवित्त हैं।

पान वेली चंदन सुपारी एला नारियल,
केला के समेत यहाँ शोभा सरसाते हैं
हरे भरे काननों में बोलते हुए विहंग,
गान के समान चित्त नित्त ही लुभाते हैं
चलती सुगंधयुत मलय समीर मंद
विमल जलाशयों में जलज सुहाते हैं
देखो उसी केरल की कामिनी सुकेशी इसे

चित्रकार राजा रवि वर्मा दिखलाते हैं।

—सुकेशी १

मैथिली बाबू के वर्ण वृत्तों के दोष

मैथिली बाबू ने आचार्य द्विवेदी की देखादेखी छंदों की तलाश करते हुए हिंदी के मात्रिक छंदों के समान संस्कृत के गण वृत्तों का भी प्रयोग किया। पर संस्कृत छंदों में रची ये रचनाएँ हिंदी की दृष्टि से सदोष हैं।

१. संस्कृत में अंतिम लघु वर्ण छंदानुरोध से दीर्घवत पढ़ा जाता है। लिखा वह लघु ही जाता है। हिंदी गुरु को भले ही लघुवत उच्चरित कर लेती हो, लघु को कभी भी दीर्घ नहीं बनाती। मैथिली बाबू के गण वृत्तों में यह दोष सर्वत्रश: आया है। यह दोष यहाँ अर्जुन और उर्वशी के इन उद्धरणों में देखा जा सकता है—

(क) मुदित इंद्र हुए तुम से अली।

अली=अलि। संस्कृत में 'अलि' ही लिखा जायगा, पढ़ा 'अली' जाएगा।

(ख) वचन यों उनसे सुखदायक
कह चुके जब निर्जर नायक
विनय पूर्वक वे उनसे तब
निज अभीष्ट लगे कहने सब ३।

दायक, नायक के 'क' और तब, सब के ब दीर्घवत उच्चरित होंगे, तब छंदप्रवाह आएगा।

२. हिंदी में एक ही शब्द के अंतर्गत संयुक्ताक्षर के पहले वाला लघु दीर्घ हो जाता है, पर संस्कृत में ऐसा दो विभिन्न समीपवर्ती शब्दों में भी होता है। यह हिंदी की प्रकृति के प्रतिकूल है। मैथिली बाबू के गण वृत्तों में ऐसे दोष बहुत हैं। यथा—

(क) कर विपक्ष-कृति-स्मृति काल ज्यों

— अर्जुन और उर्वशी ९

कृति के लघु 'ति' को 'स्मृ' के पूर्व होने के कारण दीर्घवत पढ़कर ही छंदप्रवाह रह सकता है।

(ख) विलोक शोभा विविध प्रकार

—भीष्म प्रतिज्ञा १

विविध के 'ध' को 'प्र' के पहले होने से दीर्घवत पढ़कर छंदप्रवाह बनाए रखा जा सकता है।

मैथिली बाबू ने संस्कृत के अनुसार प्रायः किया है; सर्वत्र नहीं। यथा—

(क) जब अलौकिक आयुध प्राप्ति को १
(ख) स्वमद भ्रष्ट किए जिसने हमें ६
(ग) फिर प्रहार-प्रयोग-क्रिया—युद्ध १०
—अर्जुन और उर्वशी ।

उपर्युक्त ध, द, र, ग हिंदी के अनुकूल ही लघु हैं। या तो हिंदी उच्चारण ही चलाना चाहिए या संस्कृत ही, अपनी सुविधा के अनुसार दोनों का तालमेल ठीक नहीं।

(३) गणवृत्तों में श्रुति कटुत्व भी यत्र तत्र है। यथा—
(क) कर विपक्ष-कृति-स्मृति काल ज्यों
—अर्जुन और उर्वशी
(ख) मुझे कारुण्याब्धे सरित उतराई....९
—रामचंद्र जी का गंगावतरण
(ग) पाया ज्यों दिवसांत में कुमुदिनी चंद्रांशु-संस्पर्शन
—रत्नावली १२
(घ) अन्यान्य अर्थार्थ तथा लुभाया
—भीष्म प्रतिज्ञा ३१
(ङ) गण पूर्ति के लिये यदाकदा भरती के 'कु' आदि वर्ण भरने पड़े हैं। यथा—

पाके एक कु काष्ठ-खंड उससे
— रत्नावली १०

हरिऔध जी ने वर्ण वृत्तों में लिखे गए इन हिंदी छंदों की दोषाकरता देखी थी और उन्होंने अपने प्रिय प्रवास में इनसे बचने की पूरी कोशिश की थी। वे प्रिय प्रवास की भूमिका में इस प्रसंग में लिखते हैं—

ह्रस्व वर्णों को दीर्घ बनाना

संस्कृत का यह नियम है कि उसके पद्य में कहीं कहीं ह्रस्व वर्ण का प्रयोग दीर्घ की भाँति किया जाता है। सहृदयवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त के निम्न-लिखित पद्य के उन शब्दों को देखिए। प्रथम चरण के ध द्वितीय चरण के श तृतीय चरण के त्र और चतुर्थ चरण के व और ति ह्रस्व वर्णों का उच्चारण इन पद्यों के पढ़ने में दीर्घ की भाँति होगा।

निदाघ—ज्वाला से, विचलित हुआ चातक अभी
भुलाने जाता था, निज विमल वंश—व्रत सभी
दिया पत्र—द्वारा नव बल मुझे आज तुमने
सु साक्षी हैं मेरे विदित कुल देव ग्रह पति

इस प्रकार के प्रयोगों का व्यवहार हिंदी भाषा में आजकल सफलता से हो रहा है और लोगों का विचार है कि यदि संस्कृत के वृत्तों की खड़ी बोली के पद्य के लिये आवश्यकता है, तो इस प्रणाली के ग्रहण की भी आवश्यकता है, अन्यथा बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ेगा और सुविधा हाथ से जाती रहेगी। मैं इस विचार से सहमत हूँ, परंतु इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि जहाँ तक संभव हो, ऐसा प्रयोग कम किया जाए क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग पद में एक प्रकार की जटिलता ला देता है। आप लोग देखेंगे कि ऐसे प्रयोगों से बचने की इस ग्रंथ में मैंने कितनी चेष्टा की है।'

—प्रिय प्रवास की भूमिका, पृष्ठ ५७–५८

हरिऔध जी अपने प्रयत्न में पूर्ण सफल हुए हैं। मैथिली बाबू खड़ी बोली के लिये छंदों की जो तलाश कर रहे थे उनमें संस्कृत वर्णवृत्तों को उन्होंने ठीक ही हिंदी के अनुकूल नहीं समझा और उन्होंने अपना कोई भी ग्रंथ पूर्णतया गणवृत्तों में नहीं लिखा। मात्रिक छंद ही हिंदी के छंद हैं। यह तथ्य हिंदी की काव्यपरंपरा से स्वतः सिद्ध है। रीतिकाल का छंद सवैया है तो गणवृत्त, पर उसमें लचक बहुत है, दीर्घ को लघु बना लेने की प्रवृत्ति है। अतः वह संस्कृत का गणवृत न रहकर हिंदी का छंद हो गया है, रहा कवित्त, घनाक्षरी या मनहरण वह तो मुक्तक है ही, उसमें गण बंधन है ही नहीं। मैथिली बाबू ने इसे भलीभाँति समझ लिया और आगे मात्रिक छंदों में ही अपने समस्त ग्रंथ लिखे।

मात्रिक छंदों में उनकी प्रथम दृष्टि हरिगीतिका छंद पर बनी। कविता कलाप की १४ मात्रिक कविताओं में से तीन हरिगीतिका छंद में विरचित हैं। गुप्त जी की प्रथम काव्य पुस्तिका 'रंग में भंग' है, जो १९०९ ई० में प्रकाशित हुई और जो गीतिका छंद में है। गीतिका में १४ १२ के विराम से २६ मात्राएँ होती हैं। इसी के पहले 'हरि', दो लघु या एक गुरु जोड़ देने से हरिगीतिका छंद बन जाता है, जो प्रारंभ में गुप्त जी का परम प्रिय छंद बना, जिसमें उन्होंने भारत भारती और जयद्रथ-वध जैसे लोकप्रिय ग्रथ रचे। एक युग वह था जब हरिगीतिका खड़ी बोली का परम प्रिय छंद बन गई थी। यह था मैथिली बाबू के जयद्रथवध और भारत भारती का प्रभाव।

बाद में मैथिली बाबू ने एक और नया छंद तलाश किया। यह छंद माइकेल मधुसूदन दत्त कृत बंगला महाकाव्य मेघनादवध के अनुवाद में परिष्कृत रूप में हिंदी जगत् में आया। यह कवित्त के चरणों के उत्तरार्द्ध को लेकर बना १५ वर्णों का वर्णिक अतुकांत छंद है। इसके अंत में गुरु होता है। इसे घनाक्षरी के वजन पर मिताक्षरी कहा जा सकता है। मैथिली बाबू ने इसी में बाद में नहुष, सिद्धराज, दिवोदास, पृथिवीपुत्र, जयिनी आदि कृतियाँ प्रस्तुत कीं।



गुप्त जी और उनकी प्रासंगिकता

डा० मंगला प्रसाद

सुप्रसिद्ध पश्चिमी आलोचक टी० एस० इलियट ने साहित्यसृजन में निर्वैयक्तिकता को प्रश्रय दिया है, साथ ही उसका यह भी कहना है कि निर्वैयक्तिक साहित्य कहीं न कहीं परंपरा से जुड़ता है। यद्यपि उसने 'परंपरा' की अपनी व्याख्या दी है, फिर भी स्थूल रूप में परंपरा का सीधा संवंध मनुष्य की जातीय संस्कृति से है। मनुष्य एक विशेष कालखंड और देश की सीमा में जीने के लिये बाध्य है; हालाँकि आज देश की सीमा का अतिक्रमण हो रहा है किंतु साथ ही साथ, दीर्घजीवन पाने पर भी समय मनुष्य के लिये खंड खंड होता जा रहा है। मनुष्य का जीवन उसकी संस्कृति से जुड़ा है। यों कहें, मनुष्य अपनी संस्कृति में संस्कृति के लिये जीता है तो अत्युक्ति न होगी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् पश्चिमी जनजीवन में बड़ा बदलाव आया। अनेक कारणों से पश्चिमी जगत् अपने सांस्कृतिक प्रदायों से उच्छिन्न होने लगा। मशीनीकरण और तीव्र गतिशील जीवन ने सांस्कृतिक समवाय को विनष्ट कर दिया और भौतिकता के प्रचार प्रसार से मनुष्य क्षण और उसके भौतिक उपयोग में अधिक विश्वास करने लगा। इन सब परिस्थितियों का प्रभाव यूरोप के काव्यसाहित्य पर सबसे अधिक पड़ा। जीवन के क्षणों में खंडित होने तथा भूमि के प्रति भावात्मक लगाव खत्म होने से वहाँ इस प्रकार का काव्य रचा जाने लगा जिसमें नितांत वैयक्तिक स्वर का चीत्कार था। आज इस तरह की कविताएँ विपुल परिमाण में हिंदी साहित्य में भी मिल रही हैं जो कवि की अपनी अनुभूति का उद्वाहक तो हो सकती हैं पर अपनी नितांत वैयक्तिकता, सतही अनुभूति और सांस्कृतिक उच्छिन्नता के कारण जनता के हृदय और मस्तिष्क पर प्रभाव डालने में असमर्थ रहती हैं। इलियट ने ऐसी ही कविताओं को देखकर खिन्नता प्रकट की थी और भारतीय रस सिद्धांत के अनुकरण पर तो नहीं किंतु उसकी व्यापकता को ध्यान में रखकर ही निर्वैयक्तिकता और परंपरा के ग्रहण की बात की थी।

संस्कृति बड़ी जीवंत वस्तु है। वह कभी मरती नहीं। जो जाति उसे मारती है वह संस्कृति के मरने पर स्वयं मर जाती है। ऋग्वेद से लेकर हिंदी साहित्य में छायावाद तक हमारी संस्कृति अक्षुण्ण रही है। वह हमसे कटी नहीं, उसमें उलट फेर चाहे कितने ही हुए। छायावाद के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि अनेक वादों में उलझकर हिंदी कविता एक तरह से अपनी संस्कृति अर्थात् परंपरा से उच्छिन्न हो गई और जिस वस्तु से वह जुड़ी वह कोई ऐसी ठोस और

स्थायी वस्तु न थी जो युग की आकांक्षा बनती। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और उनके साहित्यिक प्रदाय की परंपरा के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। किंतु, आज परंपरा एक रूढ़ और त्याज्य वस्तु समझी जाने लगी है इसलिये यह आवश्यक है कि हम परंपरा के परिप्रेक्ष्य में भारती साहित्य (संस्कृत और हिंदी साहित्य) पर एक विहंगम दृष्टि डालें।

जैसा कि कहा जा चुका है, संस्कृत एक जीवंत प्रक्रिया है और परंपरा को ग्रहण करने का यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृति के रूढ़ तत्वों को भी उसी रूप में ग्रहण करें। यदि हम भारतीय संस्कृति का प्रस्थान विंदु वैदिक साहित्य से मानें तो हमारी परंपरा का विकास भी वहीं से प्रारंभ होता है। वैदिक साहित्य विशुद्ध रूप से अपनी संस्कृति और परंपरा का उद्वाहक है। महाकाव्य काल में रामायण और महाभारत ये दो महान् कृतियाँ साहित्य गगन में उदीयमान होती हैं। यहाँ ऋग्वेदकालीन संस्कृति का पर्याप्त विकसित रूप देखा जा सकता है, परंपरा संशोधित, परिष्कृत और संवर्द्धित होती है किंतु अपने उत्स से जुड़ी रहती है। यही स्थिति हम कालिदास में तथा परवर्ती कवियों की रचनाओं में देखते हैं। हमारी यही परंपरा संस्कृत से हिंदी में संक्रमित होती है। हिंदी साहित्य का मध्य काल स्वर्णयुग की संज्ञा से विभूषित है। इस युग के साहित्य में हमारी उदार परंपरा उदात्त रूप में मुखरित हुई है जिसमें निर्वैयक्तिकता भी पूर्णरूपेण है। गोस्वामी तुलसीदास इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। उन्होंने देश की संस्कृति की परंपरा को बड़ी उदारता के साथ ऊँची भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है, साथ ही अपने आपको नितांत निर्वैक्तिक रहने दिया है। यही कारण है कि हिंदी कवियों की सूचा में गोस्वामी जी का नाम सर्वोपरि है। रीतिकालीन कवियों ने परंपरा को बहुत संकुचित कर दिया और सामान्यतः उनका काव्य व्यक्तिक नहीं लगता, किंतु यदि रीतिकालीन कविता की गहराई से परीक्षा की जाय तो व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी उसमें सार्वजनीन अनुभूति के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि वह हमारे हृदय को इतना अधिक स्पर्श करती है। आधुनिक काल में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने परंपरा की निर्वैयक्तिक ढंग से पहचानने की कोशिश की। उनका यह प्रयत्न अनुभूति और अभिव्यक्ति की जटिलता को लेकर छायावाद काल में विकसित होता है। 'कामायनी' और 'राम की शक्ति पूजा' जैसी कृतियाँ आधुनिक जीवन बोध के परिप्रेक्ष में अपनी परंपरा की पहचान का उपक्रम हैं। अब जीवन पहले जैसा ऋजुगामी न होकर पर्याप्त जटिल और संघर्षपूर्ण हो गया था। वह संघर्ष भी पहले की तरह सामाजिक स्तर का न होकर वैयक्तिक था, जिसकी प्रवृत्ति अंतर्मुखी थी। प्रसाद और निराला ने अपने अपने ढंग से नवीन जीवन बोध और परंपरा की कशमकश को चित्रित करके परंपरा की ही अग्रगामिता को नई दिशा दी थी।

किंतु, छायावाद के बाद से लेकर अब तव कविता का जो दौर गुजर रहा

है वह हमारी संस्कृति और उसकी परंपरा से कटा हुआ है, इसमें संदेह की की गुंजाइश नहीं है। भारतीय जीवन पर पश्चिम की मशीनी सभ्यता का प्रभाव बड़ी तेजी से पड़ रहा है जिसके फलस्वरूप यहाँ के निवासी अपनी संस्कृति के उदात्त और शाश्वत तत्वों को भी पुराना और अनुपयोगी समझकर अस्वीकारने जा रहे हैं। यही कारण है कि जनजीवन में अनास्था और विखराव आए हैं। भारतीय जीवनतरु को इतने दिनों से मूल की भाँति सँभाले रहने वाली हमारी परंपरा एकाएक हमसे अलग जा पड़ी है। चूँकि साहित्य, जीवन से पृथक् नहीं होता इसलिये ऐसे जीवन परिवेश से निष्पन्न कविता भी घुटन, संत्रास और पीड़ा का पर्याय बन गई है।

यह कहा जा सकता है कि इसमें कविता का क्या दोष, कवि जिन परिस्थितियों को झेलता है उन्हीं का चित्रण वह अपनी कविता में करता है। अनुभव से भिन्न बात तो कल्पना या आदर्श है जिसे आज का, यथार्थ में जीने वाला मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि कोरी कल्पना अथवा आदर्शवादिता से आज की जागरूक जनता के हृदय का तादात्म्य नहीं हो पाता। भावुकता और पुरातनता के प्रति मोह आज आउटडेटेड हो गए हैं। यह मान लिया गया है कि सदैव अग्रगामी दृष्टि रखने में ही मनुष्य का कल्याण है, पीछे झाँककर देखे कि कई कदम पीछे पड़ सकते हैं।

आज की कविता अस्तित्व का संकट और वैयक्तिकता के बोझ से दबी हुई है। अस्तित्व का संकट निस्संदेह है और इसी कारण कवि अपने 'व्यक्ति' के पिंजरे में सिमटा हुआ है। पर क्या कवि का यही धर्म है? यदि वह कवि है तो 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू' है, अन्यथा वह कवि ही नहीं है। जैसे राजा, प्रजा का आदर्श होता है वैसे ही कवि जनता की आँख है। जनता की आँख में उत्पन्न दोष को दूर करने का भारी दायित्व भी कवि पर है। कवि ऐसा तभी कर सकता है जब वह संस्कृति और उसकी परंपरा के महत्व और प्रासंगिकता को समझे। आज की कविता निजी अनुभूतियों का अविकल प्रकाशन है जो पाठक में कवि के तद्वत् भावानुभूतिभर को कुरेदती है, हृदय पर उसका स्थायी और व्यापक प्रभाव नहीं छोड़ती। पहले की कविताओं में यह बात नहीं है, वे आज भी हमारे लिये सत्य और मर्मस्पर्शी हैं, प्रेरक और जीवंत हैं। आज की अधिकांश कविताएँ जड़ शब्दों का संयत पुंज लगती हैं। कुछ ऐसे प्रबंध काव्य भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें हमारी परंपरा की पहचान मिलती है। परंतु वहाँ भी परंपरा अध्यारोपित है, तथा प्राचीन और अधुनातन का अलगाव भी स्पष्ट है। इसलिये उनसे भी हमारा तादात्म्य नहीं हो पाता क्योंकि वे भी युग की माँगों को पूरा नहीं कर पाते।

वास्तव में युग के आकांक्षाविशेष के अनुरूप परंपरा को गढ़कर ग्रहण करना होता है। परंपरा की लीक पीटने मात्र से उसका ग्रहण नहीं हो जाता।

मैथिलीशरण गुप्त और आज के युग में उनकी प्रासंगिता का यही रहस्य है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व देश की भौतिक परिस्थिति को और युग की आकांक्षा को भलीभाँति समझकर गुप्त जी ने परंपरा को ग्रहण किया था। वह हिंदी साहित्य में अतीत के पुनरुत्थान का प्रारंभिक चरण था। तत्कालीन जनता के लिये स्वर्णिम अतीत का गौरव गान नई वस्तु था और अपनी परंपरा की चीज होने के कारण सहज स्वीकार्य था। उस समय परंपरा द्वारा प्रदत्त मूल्य कारगर भी साबित हुए। राष्ट्रकवि ने उपजीव्य ग्रंथों में और इतिहास के कुहासे में छिपी हमारी संस्कृति को प्रकाश में लाने का उद्योग किया। उनकी रचनाएँ बड़ी प्रेरणाप्रद सिद्ध हुईं। गुप्त जी ने भाव, भाषा और शिल्प को युग की आकांक्षा के अनुरूप निर्मित किया। उनकी रचनाओं में परंपरा अपने शोधित और प्रसन्न रूप में ग्रहण की गई है। वे कविता में अपने को निर्वैयक्तिक भी रख सके हैं। गुप्त जी ने परंपरा का उलथा प्रस्तुत किया है, ऐसी बात नहीं है। परंपरा का अनुवर्तन मात्र करने से न तो यथार्थ में उसका ग्रहण होता है और न ही वह किसी के लिये प्रेरक बन सकता है। कवि ने परंपरा को युग के अनुरूप साँचे में ढाला है। इसीलिए उनकी कविता का महत्व है और वे आज इतना अधिक प्रासंगिक हैं। आज की कविता जबकि वैयक्तिकता के पाश में बँधती हुई परंपरा से निरंतर उच्छिन्न होती जा रही है और इस प्रकार अपने धर्म से विमुख हो रही है, हमें मैथिली-शरण गुप्त जैसे कविव्यक्तित्व की आवश्यकता है। यह ऐसा कवि होगा जो युग की संवेदना की सही पहचान करके परंपरा के आलोक में उसे स्वस्थ दिशा प्रदान करेगा।

आज की कविता वैयक्तिकता को अधिक प्रश्रय दे रही है, ऐसी वैयक्तिकता को जिसे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। परिस्थितिगत असामंजस्य के कारण आज का मानवजीवन असहज होता जा रहा है जो अनेक प्रकार की कुंठाओं को जन्म दे रहा है। आज का कवि इसी कुंठा से क्षणिक मुक्ति पाने के लिये काव्यरचना करता है। तात्पर्य यह कि वह कविता की ओट में अपने विकृत व्यक्तित्व को रूपायित करता है। चूँकि पाठक की मानसिक बनावट भी कवि के ही तुल्य है, इसलिये इस प्रकार की रचनाओं को कविता मान लेना उसकी बाध्यता है। ऐसी स्थिति में गुप्त जी आज के साहित्य जगत् के लिये विशेष प्रासंगिक हैं। आज की कविता में भाषा और शिल्प की सजावट चाहे जो हो, विषयवस्तु की दृष्टि से या तो उसमें फालतूपन है अथवा एकरसता। भावों की उदात्तता और गहराई, जो हिंदी कविता के विकासक्रम के अनुसार कविता में परिलक्षित होनी चाहिए, उसका उसमें अभाव है।

गुप्त जी ने अपनी कविता में भाषा और शिल्प का शृंगार नहीं

दिखाया। उनकी कविता वर्णनात्मक है, शैली प्रसन्न, प्रवाहमयी और ऋजु। इन गुणों से ओतप्रोत अपनी अभिधात्मक प्रवृत्ति के कारण यह आबालवृद्ध के हृदय पर सहजता से उट्टंकित हो जाती है। इसके विपरीत तथाकथित प्रयोगवादी पद्धति की रचनाएँ जो सांध्यभाषा के प्रयोग से धुँधली और जटिल शिल्प के आवरण में सदैव अनचीन्ही बनी रहती हैं, पाठक के मस्तिष्क पर एक चमत्कारनुमा उत्तेजना कुरेदने के अतिरिक्त कोई सार्थक प्रभाव नहीं उत्पन्न करती। यहाँ गुप्त जी की काव्यभाषा के संबंध में एक दो तथ्य उद्धृत कर देना आवश्यक है। उनका समय खड़ी बोली हिंदी का काव्यभाषा के रूप में प्रयोगकाल था। इसलिये काव्यभाषा के निर्माता के रूप में गुप्त जी से अधिक संभावना नहीं की जा सकती थी। दूसरी बात विशेष ध्यातव्य है। वह यह कि कवि का हिंदी की जननी संस्कृत से विशेष परिचय न था। गुप्त जी रचना-काल की दृष्टि से छायावाद के महान् उन्नायक प्रसाद से कुछ ही वर्ष पहले आते हैं। प्रसाद और निराला ने काव्यभाषा के रूप में हिंदी को जो उत्कर्ष प्रदान किया उसके पीछे उनके संस्कृत साहित्य के गहन अध्ययन का वरद हस्त है। गुप्त जी में प्रसाद या निराला का सा भाषिक कौशल नहीं है, लेकिन उनकी भाषा की सादगी और शैली की सहजता एक विराट् और शाश्वत काव्य संभावना को प्रकट करती है। कवि ने अपनी भाषा शैली का ग्रहण कालिदास के अथवा परवर्ती अलंकृत शैली के काव्यों से न करके आर्य कवि वाल्मीकि के रामायण से किया है। वाल्मीकीय रामायण भाषा और काव्यशिल्प का वह संधान है जो पुरातन होते हुए भी चिर नवीन है, क्योंकि यह अभिधापरक काव्य है और भाषा की सभी वृत्तियाँ और अलंकरण अभिधा से ही प्रादुर्भूत होते और उसी में समाहित भी होते हैं। गुप्त जी ने भाषा की संभावना और युग की आकांक्षा के अनुरूप भाषा की अभिधावृत्ति में अपनी भावनाओं का प्रकाशन किया।

अब अधिकतर कवि गुप्त जी के अभिधा प्रयोग की जीवंतता को समझकर उनके ऋजु पथ को स्वीकार करने लगे हैं लेकिन मात्र इतने से काम बनने वाला नहीं है। आज आवश्यकता है गुप्त जी की तरह अपनी परंपरा के मूल्य को समझकर कविता में उसकी भलीभाँति प्रतिष्ठा करने की। जब तक हम अपनी परंपरा से जुड़ते नहीं और जुड़कर बदले हुए संदर्भों में उसको मूल्यवत्ता नहीं प्रदान करते अथवा पुनर्मूल्यांकन करते हुए परंपरा और आधुनिकता को एक नैरंतर्य में देखने की समन्वित दृष्टि से संपन्न नहीं होते, तब तक हिंदी काव्य का भविष्य अंधकार में रहेगा, यह निश्चित है। यह परंपरा बोध हमें गुप्त जी से ग्रहण करना होगा। द्विवेदी युग का यह प्रतिनिधि कवि इसीलिए आज हमारे लिये इतना अधिक प्रासंगिक है। यह जरूरी नहीं कि हम परंपरा को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लें अथवा काव्य के विषय और रूपरचना में गुप्त जी का अनुकरण करें। पहले तो किसी का अनुकरण ही असंभव है, और संभव होने पर भी अनुकरण काव्य का पद नहीं

पा सकता। कविता के युग सापेक्ष और युग निरपेक्ष दो पक्ष होते हैं। पहले के अनुसार कविता अपनी विषयवस्तु और अभिव्यक्ति में अपने परिवेश और युग से किसी न किसी रूप में समन्वित होती है तथा दूसरे के अनुसार मनुष्य की भावनाओं और व्यापारों की समरूपता के कारण वह नित्य नवीन और शाश्वत रहती है। रामायण अपने काव्यात्मक स्वरूप में उदात्त और अप्रतिम है किंतु आज उसको आदर्श मानकर लिखा गया काव्य जनता के किसी काम का न होगा, भले ही अपने स्वरूप में वह रामायण का पतिस्पर्धी हो। यही बात गुप्त जी की रचनाओं के संबंध में भी कही जा सकती है। वे हमारे लिये उतने ही प्रासंगिक हैं जितने अपने जीवन काल में थे, किंतु उनकी प्रासंगिकता का स्वरूप वर्तमान युग के आईने में देखना होगा।

यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो केवल प्रयोगवादी कवि ही नहीं, प्रत्येक कवि अपनी कविता में आजीवन प्रयोग ही करता रहता है। इसमें से कुछ ही आदर्श प्रयोग भावी पीढ़ी के लिये प्रासंगिक होते हैं। जहाँ तक काव्य की वस्तु का प्रश्न है, गुप्त जी ने उनके अनंत विस्तार को खोला है जो आज के वैज्ञानिक युग में हमारे लिये नितांत आवश्यक है। उनके मानवतावादी विचार युग युग तक अमर रहेंगे। उनकी कुछ कृतियाँ प्रौढ़ काव्यभाषा और अभिव्यंजना सामर्थ्य की दृष्टि से विशेष सशक्त हैं जिनमें यशोधरा, पंचवटी, द्वापर और साकेत उल्लेखनीय हैं। ये कृतियाँ हिंदी काव्यभाषा के मानक स्परूप का निदर्शन हैं, इसलिये आज के द्विधापूर्ण कविमानस के लिये इनकी विशेष प्रासंकिता है। आज का काव्य जगत् छायावादी अस्पष्टता लिए जटिल शब्द विधान और सीधी सादी अभिधात्मकता के खेमों में बँट गया है। प्रसाद और निराला ने छायावादी पद्धति को संभावित ऊँचाई तक पहुँचाया। प्रसाद तो कालकवलित ही हो गए किंतु निराला को हम पुनः उस ऊँचाई से नीचे उतरते पाते हैं। किंतु काव्यात्मकता से हीन अभिधापरक काव्य गद्य से भी ज्यादा नीरस हो सकता है। गुप्त जी की उपरिकथित कृतियाँ हमें इस खतरे में पड़ने से बचा सकती हैं। यदि राष्ट्रकवि की कविता की प्रासंगिकता समझ में आ जाय तो हम न केवल काव्य में अपितु जीवन में भी अमर्यादित होने से बचे रह सकते हैं क्योंकि कविता हमारे जीवन से अलग नहीं जा सकती। आज के कवि का जीवन मूल्य विहीन है इसलिये उसकी कविता में भी हम कोई मूल्य कैसे पा सकते हैं।



'द्वापर' के 'कंस' की भाव भूमि में राष्ट्र कवि की भूमिका

जयशंकर राय

कवि ब्रह्मा होता है। कवि सर्जक होता है। उसकी कृतिदृष्टि पैनी होती है। वह समकालीन मनोभूमि का स्वयंभू होता है। उसके मनोराज्य में कल्पना चरित्र को सृष्टि होती है। उस चरित्र की काया पौराणिक अथवा प्रकृतिजन्य होने पर भी प्राण आधुनिक होते हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं के प्राणस्वर ऐसे ही हैं। 'द्वापर' उनकी श्रेष्ठ सर्जना है। जिसमें प्राचीनता के आवेष्टन में नवीनता की रेखाएँ विरमित हैं। स्वयं गुप्त जी ने एक और तथ्य द्वापर की भूमिका में स्वीकार किया है—लेखक की भावना स्वतंत्र भी होकर निराधार नहीं, उसे स्वयं भगवान् का बल प्राप्त है—

ये यथा मां प्रपद्यंते तास्तथैव भजाम्यहम् ।

द्वापर की रचना हरिशयनी एकादशी, संवत् १९९३ वि० को पूर्ण हुई। द्वापर युगानुरूप उस कृति के चरित्र श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता, बलराम, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, नंद, कुब्जा, उद्धव, गोपी और सुदामा हैं। द्वापर के मेरुदंड कंस और देवकी हैं। कवि स्वयं स्वीकार करता है—

कर्म विपाक कंस की मारी
दीन देवकी सी चिरकाल,
लो, अबोध, अंतः पुरि मेरी,
अमर यहीं माई का लाल।

कवि कंस के कर्मविपाक को द्योतित करता है। उसे पुनः सृजित करता है। कंस द्वापर युग का खल प्रतीक है। द्वापर युग में खल भूमिका अवतरित कंस अधिनायक है। वह मानवेतर पौरुष का पुरुषार्थ और राक्षस बल का गुरु है। अहंकार की प्रतिमा है। न्याय और अन्याय का समदर्शी है। उसकी सरस्वती स्वयंभू नियामक है। उसकी वाणी अदीनता की चरम सीमा है। उसकी ललकार सत् आदर्शों की चुनौती है। कवि की मनः स्थिति में 'कंस' इसी भाँति प्रतिबिंबित है।

कंस की भाव भूमि में अहंकार और दर्प की गर्वोक्ति फूट पड़ती है—

'नियति कौन है? एक नियंता, मैं ही अपना आप।

कर्म और धर्म तो उसकी राय में स्वनियंता की दो प्रबल भुजाएँ हैं। इन भुजाओं के संमुख कुछ भी नहीं है। कर्म भीरुता पाप है। धर्म भीरुओं की

वही दशा है। कंस की नियति अग्नि तत्व की सारग्राहिणी है। वह अग्नि भस्म कर्म में ही प्रबल होती है। कंस का बल तंत्र और नियंता भाव निश्चितता पूर्वक घोषणा करता है कि उसे किसी की रक्षा करना नहीं है। जिस किसी को रक्षा करना है वह स्वयं बचे।

मैं निश्चित बढ़ूँगा आगे,
पहने पादत्राण.
बचे कीट कंटक, यदि उनको
प्रिय हैं अपने प्राण।

कवि की मानस भूमि में तत्कालीन साम्राज्यवाद के पोषक अंगरेज थे, जिनके लिये कंस की मानस भूमि में कवि आतुरता पूर्वक उतरता हुआ दिखाई पड़ता है। उसका कथन है कि साम्राज्य की इमारत मिट्टी के गारे से नहीं बल्कि रुधिर युक्त मानव कंकालों से बनती है।

बनता नहीं ईंट गारे से
वह साम्राज्य विशाल,
सुनो चुने जाते हैं उसमें
रुधिराप्लुत कंकाल।

कंस भाव में करुणा को स्थान नहीं है। उसके हृदय की कठिनता ही कर्मठता की पूर्ति कर सकती है। मृदुता तो मिट्टी में होती है, गलना ही जिसका धर्म होता है। कानून और बंधन दुर्बलों के लिये होते हैं। कवि के मानस में स्थापित कंस की फुफकार भारतीय जनमानस को उत्प्रेरित करती है।

बंधन बंधन ही है, तोड़ो
यदि तुम सबल समर्थ।

भारत का ब्रह्मत्व कोई माने नहीं रखता है। ब्रह्म प्रबल नहीं बल्कि बल प्रबल होता है। प्रकृति दुर्बल को मारती है और सबल का सहयोग करती है। यह झूठ है कि—

दुर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय।
मुए खाल की साँस सो, सार भसम हो जाय।

यहाँ मत्स्य न्याय है। तभी तो कवि का अंतर कंस तड़प उठता है—

अटल एक ही न्याय जगत् में,
वह है मत्स्य न्याय,
और एक ही असमर्थों का
है बस मरण उपाय।

भगवान बुद्ध का अहिंसावाद तथा ब्राह्मण धर्म का ब्रह्मवाद कंस की

दृष्टि में सामाजिक पलायन है। नर के अतिरिक्त विश्वनियंता है कौन ? नरसत्ता ही सब कुछ है। यथा—

नर ही नारायण है, नर में

कंस का अहंकार धर्म गरजता है—

भाग्यवान भगवान आप मैं,
सब हों मेरे भक्त,
नियत मानते हैं अशक्त ही,
रचते उन्हें सशक्त।

वह बलोपासक है। भले ही उसे अनेक जन्मों तक प्रयास करना पड़े। उसका अटल विश्वास है कि कोई सिद्धि, जिसे मैं चाहूँ, उसका हर्ता कौन ? काम बन जाय, साधन भी नष्ट न हो, इसमें उसका विश्वास है। परंतु कायरता की नीति कोई नीति नहीं है, कूटनीति पराजय है। उसे तो अपनी बलशाली भुजाओं पर भरोसा है। वह प्रकृति पर विजय की अदृष्ट दृष्टि चाहता है। वह लज्जारहित होना तथा निर्भीकता को ही मानवधर्म मानता है। वह अपनी नीति से अलग कुछ और किसी को नहीं मानताहै। वह सबके अस्तित्व को तभी ग्रहण करना चाहता है जब—

पियो मोद से, बना रहे बस
तुमको मेरा बोध।

कंस की भावभूमि में कवि उन संबंधों को स्वीकार नहीं करता है जिनसे उद्देश्यसिद्धि में कोई बाधा उपस्थित होती हो—

बाधक और वृद्ध हो तुम तो
बद्ध रहो चुपचाप।
रहो भले ही फिर तुम मेरे
बहनोई या बाप।

देवकी स्वरूपा देवी के संमुख श्रीफल और शिशुबलि सब कुछ होम किया जाता है। पर यह सब प्रसन्नता के लिये है। वास्तविकता तो यह है कि स्वनियंता की तलवार की धार वही कही जा सकती है जो फल और शीश काटने में अभेद स्थापित कर सके। कंस का निजी पौरुष पाप और पुण्य को समान भाव से अनुभूत करता है—

'पुण्य पाप क्या है, पौरुष ही एक मात्र है सार।'

कंस के पौरुष के संमुख सांसारिक प्रतिक्रियाएँ तुच्छ हैं। उसका विश्वास अपरिमित है—

'कंस बली है, कहे भले ही कोई उसको क्रूर ।'

कभी समय आता है । पौरुष में भय घुस आता है । पौरुष के हाथों मारी गई आत्माएँ केचुए से सर्प में परिवर्तित हो जा रही हैं । तब पुरुषार्थ भय पीड़ा से सिहर उठता है । कंस का चिंतन बढ़ जाता है—

'क्या सचमुच मैं सिहर उठा हूँ, यह लज्जा की बात ।'

कंस भय का प्रतिवाद ढूँढ लेता है—भूत पिशाच । कंस ने देवकी के सात पुत्रों को मार डाला—वे हैं भूत और पिशाच । उनके भय से, उन प्रेतात्माओं के भय से प्रेत शक्ति का अर्जन हो गया । वे कारण बन गए जिससे वासुदेव बच गए । 'नहीं, देवकी के प्रति दया भाव ने वासुदेव को बचा दिया । वह अपने सातों अग्रजों के बल से संयुक्त हो गया । कंस का यह अंतर्द्वंद झंकृत हो उठा--

'कहते हैं, कुछ चमत्कार भी दिखलाता है कृष्ण,
उसका मरणामृत पीने को, मैं भी आज सतृष्ण ।'

कल्पित भय उसे नहीं चाहिए उसने तो उसे यथार्थ में देखना चाहा । कवि का मानस कंस, साम्राज्यभूमि संरक्षक अंगरेजों को निम्नवत् देखता है—

'भ्रम हो, भय हो, अप्रत्यय हो, संशय, अनृत, यथार्थ,
जो भी हो, आ जावे खुलकर देखे फिर पुरुषार्थ ।'

राष्ट्रकवि का स्वर अहिंसावाद और ब्रह्मवाद का स्वर नहीं है । दया, दीनता, करुणा, भय से अलग उसका अस्तित्व है । अंगरेज की शक्तियाँ असीमित हो गई हैं । फिर भी वह उसका सामना पौरुष से निर्द्वंद्व और निर्भीक होकर करना चाहता है । जिसे संसार क्रूरता कहता है उसकी चिंता और लज्जा तनिक भी नहीं है । वह (कंस) जानता है कि बंधन और नियम, न्याय, अन्याय सब कुछ दलितों, दुर्बलों के लिये होता है । बलवान तो बलवान है वह नियंता है, स्वयंभू है । कवि ने कंस की पौरुषेय वृत्ति को ग्रहण किया है जिसका उपयोग उसने द्वापर धर्म को प्रकाशित करने के लिये किया है—

'द्वापर ही द्वापर है मेरे, चारों ओर अराल ।'

भारतीय आत्मा का पौरुष ही कंस के रूप में राष्ट्रकवि के मानस की भावभूमि पर उतरा प्रतीत होता है । यही भाव कविता में समाहित है ।



'द्वापर' में राधाचरित्र का विकास

डा० रीता गौड़

आरंभिक युग से राधा हमारे समक्ष कृष्ण के साथ ही उपस्थित होती हैं। उनका अस्तित्व कृष्ण से इस कदर जुड़ा है कि अलग से उनके चरित्र का कोई औचित्य ही नहीं ठहरता, तभी तो प्राय. सभी कवियों, आचार्यों और[1] लखकों ने दोनों का साथ साथ उल्लेख किया है।

आधुनिक काल की राधा त्याग की प्रतिमूर्ति हैं। अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं उसने वियोग में आँसू बहाना ही नहीं सीखा वरन् दुःखों का डटकर सामना करना भी सीखा है। आगे चलकर इस काल की राधा अपना सारा ध्यान लोकसेवा की तरफ लगाती हैं। इस काल की राधा में यह भावना उत्पन्न हुई है कि--"प्रेम कितना ही अंधा क्यों न हो पर वह अपनी प्रतिष्ठां नहीं गँवा सकता।" वह सोचती है मैंने प्रेम तो किया है परंतु जहाँ मेरी प्रतिष्ठा को तनिक झटका लगे उससे पहले ही हमें सँभल जाना होगा।

'द्वापर' में प्रेम की अद्भुत नायिका राधा उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। वह कृष्ण की आराधना में लीन रहती हैं। त्याग की भावना व आदर्शरूप की अनोखी छवि राधा स्वरूप में दृष्टिगोचर होती है। अपना सर्वस्व कृष्णार्पित कर त्यागमयी नारी के रूप में दिखाई पड़ती हैं। अपना सब कुछ तन, मन, कृष्ण के लिये न्योछावर कर देती हैं उनकी हार्दिक अभिलाषा है कि—

मग्न अथाह प्रेम सागर में,
मेरा मानस हंस हरे।[1]

यद्यपि 'द्वापर' में गुप्त जी ने राधा को अन्य पात्रों से अलग थलग ही रखा है। वे सबसे बड़ा धर्म अपने प्रिय कों ही मानती हैं। प्रिय से परे उनके लिये कुछ नहीं है। वे अन्तःकरण से कृष्ण के चरणारविंद में झुकी रहती हैं। कृष्ण की बाँसुरी की मधुर ध्वनि उनके मन को सुख प्रदान करती है। वे जो कुछ भी करती हैं या करना चाहती हैं उसे प्रिय के सुखों को दृष्टि में रखकर ही करती हैं। राधा का सर्वस्व कृष्ण के लिये ही तो है—

---

१. टी० के० सरला देवी : गुप्त जी के नारी पात्र : पृ० ६५

तुझको एक तुझी को अर्पित
राधा के सब कर्म हरे ।[१]

गुप्त जी की राधा कृष्ण को स्वयं में निरंतर पाती हैं कभी कभी तो उन्हें कृष्ण का रूप भी धारण करना पड़ता है—

यह क्या यह क्या, भ्रम या विभ्रम दर्शन नहीं अधीरे
एक मूर्ति, आधे में राधा, आधे में हरि पूरे ।[२]

राधा को भ्रम है कि प्रिय के समीप होते हुए भी उसे प्रेम में तृप्ति नहीं मिलती । वह सोचती है मानों एक मूर्ति के दो भाग कर दिए गए हों जिसमें एक भाग उनका स्वयं और का दूसरा श्री कृष्ण का हो ।

राधा की इच्छा भी प्रबल है उसकी कल्पना की ऊँची उड़ान उसे उससे बहुत दूर ले जाती है । वह वृंदावन में यमुना के कगार पर कृष्ण के आलिंगन में आबद्ध होना चाहती हैं –

बस, यह तेरा अंक और यह,
मेरा रंक सरीर हरे ।[३]

'द्वापर' की राधा मात्र शृंगार की मूर्ति ही नहीं हैं अपितु वह समर्पण करती हैं । वह प्रिय की समस्त इच्छाओं को पूरी नहीं कर पातीं—

मेरे तृप्त प्रेम से तेरी
बुझ न सकेगी क्षुधा हरे
निज पथ धरें चले जाना तूँ
अलं मुझे सुधि-सुधा हरे ।[४]

इस काल की राधा प्रेम की पूर्णता चाहती हैं । वे प्रिय से अपेक्षा करती हैं कि प्रिय उसके कपाल चूमे, शारीरिक चेष्टाओं की तृप्ति भी चाहती हैं । वह प्रेम में डूबी हुई हैं और प्रसन्नतावश आत्मविभोर हो जाती हैं ।

गुप्त जी की राधा प्रेम में संयोग के क्षणों में जितनी प्रसन्न दिखाई

---

१. द्वारिका प्रसाद मीतल : हिंदी साहित्य में राधा : पृ० ५४६

२. टी० के० सरला देवी : गुप्त जी के नारी पात्र : पृ० ९

३. द्वारिका प्रसाद मीतल : हिंदी साहित्य में राधा : पृ० ५४६

४. उपरिवत् ।

पड़ती हैं वियोग के क्षणों में उतनी ही शांत, गंभीर दिखाई पड़ती हैं। इस राधा को निरंतर एक टीस होती है—उसके प्रेम का अंत क्या यही होना था—

सुख की ही संगिनी रही मैं
अपने उस प्रियतम की
व्यथा विश्व विषयक न तनिक भी
बँठ सकी निर्मम की
उलटा अपना दुःखलोक को
मैंने दिया सदा को,
उस भावुक का रस जितना था
जूठा किया सदा को।[1]

राधा कृष्ण प्रेम में बावली हो गयी हैं। वे स्वयं को राधा न समझकर कृष्ण समझने लगती हैं और कृष्ण को राधा समझने लगती हैं।

राधा हरि बन गई, हाय।
यदि हरि राधा बन पाते,
तो उद्धव, मधुवन से उलटे
तुम मधुपुर ही जाते।[2]

वह कृष्ण प्रेम में रम गयी हैं। उनकी एकाग्रता, एकनिष्ठता और तन्मयता उनके इस भाव को प्रगट करती हैं।

डूबी सी वह बीच-बीच में
पलक खोलकर आधे
चिल्ला उठती है विलोल सी
बोल। राधिके, राधे।[3]

गुप्त जी की राधा लोकोपकारी हैं। उनके सभी कार्य जनसेवा निमित्त हैं। ब्रज का दुःख उनसे देखते ही नहीं बनता है—

उसे जगत् की पीड़ा, छूट गई जिसमें पड़कर हा, ब्रज की सी वह क्रीड़ा।[4]

अंतिम क्षणों में 'द्वापर' में राधा का कृष्ण के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यह राधा शृंगार और वासना की नायिका ही नहीं रहतीं न ही वह विरहिणी राधिका हैं। राधा का ध्यान सदैव कर्तव्यपथ की ओर जाता है गुप्त जी की राधा प्राणिमात्र के दुःखों से द्रवित होने वाली हैं।

४. उपरिवत् : पृ० ५४७

१. द्वारिका प्रसाद मीतल : हिंदी साहित्य में राधा: पृ० ५५०

२. उपरिवत् : पृष्ठ : ५४९

३. उपरिवत् : पृष्ठ : ५४८।

सांसारिक पीड़ा उसे अत्याधिक व्याकुल कर देती है। वेह एक सच्ची प्रेमिका का रूप हमारे सामने उपस्थित करती हैं।

गुप्त जी की राधा मात्र प्रेयसी ही नहीं थीं अपितु, देश सेवा की भावना का भी उसे सदैव ध्यान बना रहता था। सांसारिक पीड़ा से वे भलीभांति परिचित थीं, तभी तो निरंतर उसे दूर करने की युक्ति सोचती हैं। उनके चरित्र की विशेषताओं से मनुष्य तो क्या स्वयं श्रीकृष्ण उन पर न्योछावर हो जाते हैं। कृष्ण राधा के प्रेमपाश में बँधे दिखाई पड़ते हैं।

'द्वापर' में राधा अधिकांश समय मौन ही रही हैं। उनके क्रियाकलाप भी विचित्र हैं। राधा अपना संदेश कभी भी किसी माध्यम से प्रिय तक पहुँचाना नहीं चाहतीं। तर्क करनें की क्षमता भी राधा में नहीं है। यह राधा सदैव कुछ सोचती हुई रहती हैं। अंतिम क्षणों में वह पश्चाताप की अग्नि में जलने लगती हैं कि क्यों नहीं वह अपने प्रिय के साथ उनके कार्यों में हाथ बँटाने चली गई। उसकी दृष्टि में तप, योग, आदि तो निम्नकोटि की साधनाएँ हैं इनसे दूर रहने का ही उपदेश गुप्त जी की राधा का संदेश है।

आधुनिककाल के कवियों के काव्य की राधा की यह एक विशेषता बन गई है जो अपने प्रिय से असीम स्नेह करती है। अपने प्रिय के साथ हर सुखों का उपभोग करती हैं परंतु वियोग के दिनों में वह अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य से दूर हट जाती हैं। मानों राधा ने दृढ़ निश्चय किया हो तभी तो वेह इन क्षणों में हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठतीं और न ही आँसू बहाकर अपना पुराना दृष्टिकोण अपनाया वरन् यह राधा अपने प्रिय की प्रतीक्षा तो करती है परंतु वह संदेश सुनने और सुनाने को उत्सुक नहीं है क्योंकि उसे पता है कि प्रिय से अब उसका संयोग नहीं होगा, विरह में ही उसे अपना जीवन बिताना है। वे लोकसेवा में लग जाती हैं नहीं तो दीन दुःखियों की सेवा करती हैं। आगे चलकर उनका यही प्रेम उन्हें विश्वप्रेमिका में परिणत कर देता है। विश्वप्रेमिका बनकर ही वे एक आदर्श प्रेमिका बन पाई हैं।

गुप्त जी के काव्य 'द्वापर' में राधा का चरित्रांकन बड़े ही सहज, सुंदर व सुघड़ रूप में हुआ है। यह राधा सामान्य नारी का दर्जा प्राप्त नहीं कर सकतीं। उन्हें देवी की संज्ञा दी जा सकती है। उनकी चारित्रिक विशेषताएँ उन्हें देवी की उपमा से अलंकृत करती हैं। क्योंकि एक साथ इतनी विशेषताएँ किसी युग में राधा के स्वरूप में दिखाई नहीं पड़तीं। कवियों ने राधा के चरित्र की सुंदर कल्पना को मानों यथार्थ में साकार कर दिया हो।



भगवान् बुद्ध और हिंदीकाव्य 'यशोधरा'

डा० वसुंधरा मिश्र

'यशोधरा' मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित खंड काव्य है। इसकी रचना उपेक्षित नारी पात्रों को प्रकाश में लाने की श्रृंखला में हुई है। इसके पहले लेखक ने 'साकेत' की रचना की थी, जिसमें लक्ष्मण की पत्नी 'उर्मिला' के उपेक्षित चरित्र को प्रकाश में लाया था। बौद्ध साहित्य में उपेक्षित पात्र को प्रकाशित करने के लिये इस खंड काव्य की रचना की है।

'यशोधरा' का कथानक बौद्ध ग्रंथों के आधार पर ग्रहण किया गया है। लेखक ने इसे काव्यात्मक रूप देने के लिये बहुत सी मौलिक कल्पनाएँ भी संमिलित की हैं। 'मंगलाचरण' में गुप्त जी ने अमिताभ एवं राम दोनों का स्मरण किया है।[1] इस आधार पर विद्वानों का विचार है कि मैथिलीशरण गुप्त ने राम और बुद्ध की एकता स्थापित की है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यशोधरा के माध्यम से वैष्णव भावना की स्थापना करने में कवि को बौद्धभावना ग्रहण करनी पड़ी है। स्वयं कवि के शब्दों में 'भगवान् बुद्ध और उनके अमृत तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल जननी के दो चार आँसू ही तुम्हें मिल जायँ तो बहुत समझना और उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है। साथ ही कहा है कि मेरी वैष्णव भावना ने तुलसी दल देकर यह नैवेद्य बुद्धदेव के संमुख रखा है'।[2]

कथानक–

गुप्त जी ने प्रारंभ में कथा का परिचय दिया है। पश्चात् सिद्धार्थ महाभिनिष्क्रमण, यशोधरानंद, महाप्रजापति, शुद्धोदन, पुरजन, छंदक, यशोधरा, राहुलजननी आदि शीर्षकों के अंतर्गत तद् तद् विषय से संबंधित पात्र की बात

---

१. 'राम तुम्हारे इसी धाम में
 नाम रूप गुण लीला धाम
 भक्ति मुक्ति मांगें क्या तुमसे,
 हमें भक्ति दो, ओ अमिताभ
 —यशोधरा, पृ० १३।

२. यशोधरा, पृ० ५।

उनके मुख से कहलाई है। पुनः पात्रों का परिचय देते हुए आगे की कथा संवाद रूप में वर्णित है।[1]

खंड काव्य 'यशोधरा' के प्रमुख पात्र सिद्धार्थ, यशोधरा और राहुल हैं।

यशोधरा –

यशोधरा के जीवनचरित्र पर इतना विस्तृत प्रभाव इस काव्य में प्रथम बार हुआ है। अश्वघोष ने 'बुद्धचरितम्' में यशोधरा की वेदना एवं पीड़ा को पहचाना था।[2] तथा विवाह के समय यशोधरा के शील और सौंदर्य की प्रशंसा की है[3]।

'ललित विस्तर' में दंडपाणि की कन्या गोपा का गौरव और दुःख व्याप्त है।[4] नवीन सेन ने 'अमिताभ' में यशोधरा का महत्व प्रतिपादित किया है। महाभिनिष्क्रमण के समय यशोधरा का विरह व्यंजित है। 'दि. लाइट आव् एशिया।' में सिद्धार्थ ने गोपा को स्वप्न में अपने अटूट प्रेम की अभिव्यक्ति की है। अनूप शर्मा के "सिद्धार्थ" में यशोधरा का व्यक्तित्व उतना नहीं उभरा है। गुप्त जी ने "यशोधरा" में उसके जीवन चरित्र, विरहिणी, परित्यक्ता नारी और राहुल जननी के रूप में विभिन्न पहलुओं को उभारा है। नारीत्व, जातीय स्वाभिमान, निस्वार्थ प्रेम, असीम धैर्य, आदर्श त्याग, जीवन पर्यंत वियोग उसके चरित्र के मानदंड हैं। एक ओर उसकी आँखों में पानी है, तो दूसरी ओर आंचल में दूध है[5]।

बुद्ध ने समस्त सुंदरी बालाओं में से यशोधरा को इसलिये स्वीकार किया था कि वह उनके अमृत तत्त्व की प्राप्ति के मार्ग में बाधा न बनें, इसे स्वयं

---

१. यशोधरा, पृ० ७४।

२. यशोधरां नाम यशोविशालां वामाभिधानां श्रियमाजुहाव ॥
बुद्धचरितम्, प्रथम भाग, श्लोक २६।

३. ततः सखाख्या महिषी महीपतेः प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सला।
प्रगृह्य बाहू निपपात गौतमी विलोलपर्णा कदलीव कांचनी ॥
—वही, श्लोक, २४।

४. द्रष्टव्य, ललित विस्तर, पृ० ३८२-३८९।

५. आंचल में है दूध और आँखों में पानी।—यशोधरा, पृ० ३२।

यशोधरा भी स्वीकार करती है।"[1] यशोधरा क्षत्राणी है। वह सिद्धार्थ को इस पुण्य मार्ग में जाने से नहीं रोकती लेकिन उनके चोरी चोरी चले जाने से वह बुद्धत्वप्राप्ति के बाद उनका आगे बढ़कर स्वागत भी नहीं करती।"[2] यशोधरा रूपवती होते हुए भी भीतर से दयालु है। वह पति के मार्ग की बाधा नहीं बनना चाहती है। एक पालक माता है। उसमें अपने परिवार तथा समाज दोनों के प्रति कल्याण की भावना है। विश्वकल्याण के लिये उसके घर के कोने से उठी हुई उश्वास सारे संसार को ज्ञान के अमृत तत्व से अभिसिंचित कर दे, इसके लिये यशोधरा सूत्रधारिणी है। आर्यपुत्र की सफलता उसकी सफलता है।[3] कुसुम सी कोमल बाला यशोधरा व्रज सी कठोर बनने के लिये और कर्तव्य की वेदी पर अपना सब कुछ रखने की प्रतिज्ञा करती है।[4] पति के ही समान रूप और वेशभूषा धारणकर तपस्विनी बनी पतिमार्ग को प्रशस्त करती है और अपने को उस पुरुष की नारी सिद्ध करने का प्रयास कर रही है।

गौतम के समान ही यशोधरा का हृदय भी विश्ववेदना से व्यथित है।[5] सारी प्रवृति यशोधरा के मनोभावों के साथ मिलकर एक हो गई है। वह पतिमार्ग में स्वयं या शुद्धोधन किसी को भी बाधा नहीं बनाना चाहती[6]। वह अपने प्रिय पुत्र राहुल को भी विश्वकल्याण की लालसा से बुद्ध, धर्म और संघ को समर्पित कर देती है[7]। इतना होने पर भी यशोधरा ने अपने पत्नीत्व का मूल्य रक्खा।

१. इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी,
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।
आर्य मेरे अर्धांगि भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे?
हा! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे?—यशोधरा, पृ० ४३।

२. गए लौट के भी आएँगे, कुछ अपूर्व अनुपम लावेगें।
रोते प्राण उन्हें पावेगें, पर क्या गाते गाते?—वही, पृ० २७।

३. यशोधरा, पृ० ४८।

४. अब कठोर हो व्रजदपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।—वही, पृ० ४३।

५. विश्ववेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी।
किसके भरे हृदय की धारा, शतधा होकर आज बही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने मेरी बाधा व्यथा सही।—वही, पृ० ४६।

६. किंतु खोज करना उन्हीं के प्रतिकूल है।—वही, पृ० ३५।

७. तुम भिक्षुक बनकर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी?
था अनुरूप एक राहुल ही रहे सदा यह अनुगामी।
मेरे दुःख में भरा विश्व सुख, क्यों न भरूँ फिर मै हामी।
बुद्धं शरणं धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि।—वही, पृ० १४४।

इसी तरह से पत्नी का, माता का, पुत्रवधू का, रानी का, तपस्विनी का, जननी का उत्तरदायित्व सँभालते हुए वह एक सफल व्यवस्थापिका तथा गृहिणी है।

बुद्ध[1]—

"यशोधरा" में गौतम बुद्ध का चरित्र गौण पात्र के रूप में हुआ है। वे सोचते हैं कि जब बंधन से मुक्त हो जायँगे तभी उनका 'सिद्धार्थ' नाम सार्थक होगा[2]। परंपरानुसार बुद्ध, रोगी, मृतक तथा संन्यासी आदि को देखकर प्रव्रज्या ग्रहण करने का निश्चय करते हैं। वे महाभिनिष्क्रमण के पहले यशोधरा को देखकर निश्चित करते हैं कि वे अब इसे छोड़कर हंस मुक्ति के संदेश को सुनेंगे और मुक्ति के संदेश से मुक्ति लाभ करेंगे[3]। सिद्धार्थ स्वयं यशोधरा से मिलने जाते हैं और क्षमा माँगते हैं[4]। साथ ही यशोधरा के कर्तव्यों को याद करते हैं[5]।

राहुल—

राहुल की बालोचित क्रियाएँ कवि की कल्पना तथा उसकी कवित्व शक्ति की परिचायक हैं तथा उसकी प्रव्रज्या बौद्धशास्त्र संमत है। राहुल बुद्धिमान, दूरदर्शी, तर्कशील और वाचाल है। उसके तर्कों, प्रश्नों और रूठने तथा मनाने

---

१. सिद्धार्थ बचपन का नाम है। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद उनको बुद्ध संज्ञा प्राप्त हुई थी।

२. मैं त्रिविध दुख विनिवृत्ति हेतु,
बाँधू अपना पुरुषार्थसेतु,
सर्वत्र उड़े कल्याण केतु,
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।—यशोधरा, पृ० २१

३. पड़ी रह तू मेरी भव भुक्ति।
मुक्ति हेतु जाता हूँ यह मैं, मुक्ति, मुक्ति, बस मुक्ति।
मेरा मानस हंस सुनेगा और कौन सी युक्ति?
मुक्ता फल निर्द्वंद्व चुनेगा, चुन ले कोई शक्ति?—वही, पृ० १७।

४. मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान।
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान।—वही, पृ० १४०

५. बतलाऊँ मैं क्या अधिक तुम्हें तुम्हारा कर्म,
पाला है तुमने जिसे, वही वधू का धर्म।—वही, पृ० १४३।

की क्रिया पर करुणा नहीं बल्कि नए नए विचार और तर्क-वितर्क जागृत होते हैं। अपने प्रश्नोत्तरों से वह मनोविज्ञान, इतिहास, पुराण आदि का पंडित सा बनकर यशोधरा को निरुत्तर कर देता है[1]।

बौद्ध प्रभाव—

महाभिनिष्क्रमण, प्रव्रज्याग्रहण, बुद्धत्वलाभ, कपिलवस्तु आगमन, राहुल दीक्षा आदि बौद्ध ग्रंथों के आधार पर वर्णित हैं। पुरस्कार वितरण, यशोधरा स्वयंवर, कंथक सहित छंदक के आगमन का वर्णन ललित विस्तर के अनुरूप है[2]। मार संघर्ष के प्रसंग में यशोधरा रूपी अप्सरा के आगमन का वर्णन 'दि लाइट आव् एशिया[3] एवं यशोधरा के मिलन का वर्णन 'निदानकथा' के अनुसार है[4]। निदान कथा में बुद्ध राहुल माता से मिलने के सातवें दिन पुत्र को दाय भाग देते हैं। 'यशोधरा' में पुर्नमिलन और दीक्षा पर बौद्ध प्रभाव स्वीकार करते हुए कहा है कि यशोधरा के चित्रण एवं कथानक पर बौद्ध प्रभाव है तथा यशोधरा के माध्यम से कवि ने वैष्णवभावना की स्थापना करते हुए बौद्धभावना को ग्रहण किया[5]।

दुःख—

भगवान बुद्ध ने संसार को दुःख रूप माना था गुप्त जी ने इसकी अभिव्यक्ति विभिन्न प्रसंगों में की है। सिद्धार्थ के मुख से संसार की वक्रता, चक्रता, नक्रता आदि पर प्रकाश डाला गया है।[6] वर्णित है कि जब यौवन रिक्त होने लगता है और मृत्यु आसन्न दीखती है, तो वह विष के समान लगता है। इसलिये मृत्यु से भयभीत न होते हुए मोक्ष को खोजना चाहिए।[7] सिद्धार्थ की प्रव्रज्या का उद्देश्य भी प्राणियों को दुःखों से छुटकारा दिलाना है।[8] यशोधरा ने दुःख

---

१. यशोधरा, पृ० ७७-१०४।
२. ललित विस्तर, पृ० ९९-१०८।
३. दि लाइट आव् एशिया, पृ० १०५-१०६।
४. जातक (प्रथम खंड), पृ० १६६-१६७।
५. जगदीश कुमार, पृ० १३०।
६. यशोधरा, पृ० १४।
७. एक बार तो किसी जन्म के साथ मरण अनिवार्य हाय।
   एक बार धिक्कार, किंतु यदि रहे मृत्यु का शेष दाय।
   यशोधरा, पृ० १७।
८. वही, पृ० ४५।

की सार्थकता स्वयं के व्यवहारिक जीवन में सिद्ध की है।[1] बुद्ध दुःखात्मकता के प्रति सजग हैं। महाभिनिष्क्रमण के पूर्व पत्नी, पुत्र, पिता, राज्य, संसार आदि सभी को क्षणिक बताया है।[2]

करुणा—

अपने से पहले अपनों की मुक्ति को गीता कहा गया है।[3] जिसमें महायानी बोधिसत्व के आदर्श स्पष्ट तथा परिलक्षित होते हैं।[4] यशोधरा स्वयं चाहती है कि गौतम बुद्ध द्वारा किए गए श्रम से पूरा विश्व लाभान्वित हो।[5]

मन की प्रधानता—

यशोधरा कहती है कि मन जब पूर्णरूप से स्थिर और निश्छल हो जाता है तब इसमें सारा सत्य आकर केंद्रित हो जाता है। स्वस्थ मन के साथ ही स्वस्थ शरीर को भी आवश्यक माना है।"[6] भगवान् बुद्ध ने भी चित्त पर विशेष बल दिया है।

परिवर्तनशीलता—

गोपा का विचार है कि दुःख के वाद सुख आता है। एक ओर गोपा गल

---

१. होता सुख का क्या मूल्य, जो न दुख रहता ?
प्रिय हृदय सदय हो तपस्ताप क्यों सहता ?
मेरे नयनों से नीर न यदि यह बहता
तो शुष्क प्रेम की बात कौन फिर कहता।—वही, पृ० १०६।

२. वही, पृ० १८–२४।

३. अपने से पहले अपनों की।
सुगति गौतमी गीता है।—वही पृ० १६।
—उनके श्रम के फल भोगें।
यशोधरा की विनय यही।—वही, पृ० ४८।

४. मैत्री करुणा पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान्।—वही, पृ० १४०।

५. वत्स—योग्य अधिवासी के लिये हो योग्य भी।—वही, पृ० ६०।

६. वत्स यही मन जब निश्चलता पाता है, आकर इसी में तब सत्य समा जाता है।

तो मन ही मुख्य है माँ, वेटा, स्वस्थ देह भी, योग्य अधिवासी के लिये हो योग्य भी।—यशोधरा, पृ० ६०।

रही है लेकिन राहुल पलता जा रहा है।"[1] यशोधरा रूप रंग के गर्व को झूठा मानती है और गौतम के परिवर्तनशील नियम को मानती है।"[2]

यज्ञ, हिंसा, कर्मकांड आदि का विरोध--

भगवान् बुद्ध ने वैदिक हिंसा, यज्ञ, कर्मकांड का विरोध किया था। "यशोधरा" में भी महाभिनिष्क्रमण के समय इन सब बातों पर प्रकाश डाला है।"[3]

नारीभावना---

नारी को सिद्धि के मार्ग में बाधक माना गया है। गुप्त जी ने यशोधरा के चरित्र को उच्च सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठितकर उसके मातृत्व और नारित्व को उभारा है। यशोधरा को इस बात का वियोग नहीं है कि सिद्धार्थ क्यों चले गए, उसे वियोग इस बात का है कि वे चोरी चोरी गए।[4] नारी के प्रति गर्व भावना आत्मगौरव की भावना वर्णित है। यही कारण है कि बुद्धत्व प्राप्ति करने के पश्चात् वह पति (बुद्ध) का स्वागत नहीं करती है और उसके मुख से आत्मगौरव की भावना प्रकट होती है।[5] भारतीय नारी अबला है, उसके साथ सुख दुःख का चक्कर चलता है।[6]

---

१. गोपा गलती है पर उसका राहुल तो पलता है।—यशोधरा, पृ० ५५।

२. मेरे रूप रंग यदि तुझको अपना गर्व रहा है
तो उसके झूठे गौरव का तूने भार सहा है।
तू परिवर्तनशील उन्होंने कितनी बार कहा है
फूला दिन किस अंधकार में डूबा है और कहा है?—वही, पृ० ४३।

३. वह कर्मकांड तांडव विकास,
वेदी पर हिंसा–हास–रास,
लोलुप रसना का लोल लास,
तुम देखो ऋग, यजु और साम।--वही, पृ० २१।

४. सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात,
पर चोरी चोरी गए, यही बड़ा व्याघात,
सखि, वे मुझसे कह कर जाते
कह तो क्या वह मुझको अपनी पथ बाधा ही पाते?—यशोधरा, पृ०२६।

५. सिद्धिमार्ग की बाधा बारी, फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूँछू क्या, जिनको मुझसे आज विरति है।
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ गति है।—वही, पृ० ४३।

६. चेरी भी मैं आज कहाँ, कल थी जो रानी?
दानी प्रभु ने दिया इसे क्यों मन यह मानी?
अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।—वही, पृ० ८२।

यशोधरा की उदारता का चित्रण किया गया है। वह बुद्ध की उपेक्षा के प्रति उपालंभ की जगह उनके सिद्धिलाभ की ही कामना करती है और उनके महान् पुरुषार्थ के प्रति प्रशंसा का भाव व्यक्त करती है[१]। वह अपने को ही धिक्कारती है कि वह पति की विश्वासपात्र न हो सकी[२]। गौतम भी अपने मुख से समस्त सिद्धि का श्रेय मातृ जाति को देते हैं और मातृत्व के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं[३]। नारी यशोधरा अपने स्वाभिमान के प्रति भी सतर्क है[४]। यशोधरा पति की तरह केश काटकर रहना चाहती है[५]। हीरे मोती के आभूषण त्याग देती है। वह कल्याणकारी विश्वमाता के रूप में चित्रित हुई है। वह अपने पत्नीत्व और मातृत्व दोनों का ख्याल करती है[६]।

शब्दावली—

जगदीशकुमार का विचार है कि 'यशोधरा' में बौद्ध शब्दों का बहुत कम प्रयोग हुआ है। अमिताभ, काषाय, संघ, धर्मचक्र, निर्वाण, मार, करुणा, मैत्री तथा त्रिशरण आदि बौद्ध शब्द आए हैं। उन्होंने बौद्ध शब्दावली के अभाव के दो कारण माने हैं—पहला अवसर का अभाव, दूसरा कवि के संस्कार का प्रभाव। कहीं कहीं बौद्ध कथनों की छाया भी मिलती है। इनका विचार है कि 'यशोधरा' पर बौद्ध प्रभाव बहुत क्षीण है। कथानक के अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है और उसमें भी अनुसरण कम और सृजन अधिक है[७]।

---

१. जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुःखी न हों इस जन के दुःख से,
उपालंभ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते।—यशोधरा, पृ० २७।

२. हाय, स्वार्थिनी थी मैं ऐसी रोक तुम्हें रख लेती ?
यहाँ राज्य भी त्याज्य, वहाँ मैं जाने तुम्हें न देती ?—वही, पृ० ४१ ?

३. दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी,
भूत दया मूर्ति वह मन से, शरीर से
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से।—वही, पृ० १४२।

४. गोपा बिना गौतम भी ग्रहण नहीं मुझको।—वही, पृ० १२४।
५. अलि जहरीला मैंने क्या पाले काले व्याल ?—वही, पृ० ३२।
६. वही, पृ० २२।
७. जगदीश कुमार, पृ० १३१।

जगदीशकुमार ने यशोधरा का महत्व तीन कारणों से स्वीकार किया है -

१. इस क्षेत्र की यह प्रथम रचना है।

२. वैष्णव कवि द्वारा प्रणीत इस रचना से सिद्ध होता है कि बौद्ध भिन्न मतावलंवियों के लिये भी ग्राह्य हो गए।

३. इस ग्रंथ की मौलिक उद्भावना भी बौद्ध साहित्य की अमूल्य निधि है क्योंकि इस उद्भावना से यशोधरा, राहुल और बुद्ध की कथा लोकप्रिय हुई[1]।

मौलिकता—

यशोधरा में गुप्त जी ने बौद्ध धर्म के विपरीत ही मान्यता स्थापित की है। बौद्ध धर्म निवृत्ति प्रधान है लेकिन यशोधरा के मुख से इसका खंडन किया गया है।[2] यशोधरा में गीता संमत निष्काम भावना एवं महायान संमत लोकजीवन को सुखी बनाने की भावना मिलती है।[3]

भगवान् के मुक्ति सिद्धांत को भी यशोधरा ने नहीं माना है। वह मुक्ति में भी विश्वास नहीं करती है[4]। श्री जयमूर्ति सिंह गौतम 'नाविक' के अनुसार यशोधरा में कवि ने महाभिनिष्क्रमण का संदेश न देकर भौतिकता का, प्रेम का, पुनर्जन्म का, नियमानुकूल इंद्रिय रस भोगों का, प्रेम और परामर्श का और संसार

---

१. जगदीशकुमार पृ० १३३।

२. रस एक मधुर ही नहीं, अनेक विदित हैं,
कुछ स्वादु हेतु कुछ पथ्य हेतु समुचित है।
भोगें इंद्रिय जो भाग विधान विहित है,
अपने को जीता जहाँ, वहीं सब जित हैं।
निज कर्मों की ही कुशल सदैव मनाऊँ।
वह मुक्ति, भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ।—यशोधरा, पृ० १०६।

३. आओ प्रिय। भव में भाव विभोर भरें हम,
डूबेगें नहीं कदापि, तरें न तरें हम।
कैवल्य काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार हेतु शतवार सहर्ष मरें हम।—यशोधरा, पृ० १०७।

४. भोगें इंद्रिय, जो भोग, विधान विहित हैं,
अपने को जीता जहाँ, वहीं सब जीत है।
निज कर्मों की हो कुशल सदैव मनाऊँ।
कह मुक्ति भला किस लिये तुझे मैं पाऊँ।—यशोधरा, पृ० १०६

के लिये अनेक बार मर मिटने का संदेश दिया है[१]। यशोधरा में गुप्त जी की वैष्णवभावना इतनी उच्चश्रेणी की है कि गौतम की करुणा विश्व के प्रत्येक जीव का दुःख दूर करने के लिये फूट पड़ी है। गुप्त जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि मेरी वैष्णवभावना ने तुलसी दल देकर यह नैवेद्य बुद्धदेव के संमुख रखा है[२]।



१. ये चंद्र सूर्य निर्वाण नहीं पाते हैं, ओझल हो होकर हमें दृष्टि आते हैं।
द्रष्टव्य—मैथिली शरण गुप्त का काव्यः संस्कृत अध्ययन।

२. यशोधरा का नाविक—पृ० ७६।
यशोधरा-शुल्क, पृ० ५।

राष्ट्रीय काव्यधारा में मैथिलीशरण गुप्त का स्थान

डा० शंकर चौबे

राष्ट्रीय काव्य से हमारा तात्पर्य उस काव्य से है, जिसमें किसी राष्ट्र की महिमा का उल्लेख किया जाता है, उसके अतीत गौरव के चित्र अंकित किए जाते हैं, जिसमें संपूर्ण राष्ट्र को अपनी स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता के लिये आत्मोत्सर्ग करने हेतु प्रेरित किया जाता है, जिसमें राष्ट्रप्रेम के साथ साथ संपूर्ण राष्ट्र की एकता और अखंडता को स्थिर रखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है, जिसमें अपनी मातृभूमि एवं मातृभाषा के प्रति अटूट आस्था एवं विश्वास प्रकट किया जाता है, जिसमें अपनी गौरवपूर्ण संस्कृति के प्रति तीव्रानुराग व्यक्त किया जाता है, जिसमें राष्ट्रविरोधी पुरातन मान्यताओं एवं परंपराओं के प्रति जनमानस में विद्रोह उत्पन्न करने की क्षमता होती है, जिनमें राष्ट्रविरोधी शक्तियों एवं शत्रुओं के प्रति तीव्र आक्रोश तथा क्षोभ जागृत करने की शक्ति होती है और जो राष्ट्र की सामूहिक उन्नति एवं सामूहिक समृद्धि के हेतु जनसामान्य के हृदय में तीव्र ज्वाला उत्पन्न करने में समर्थ होता है। ऐसे काव्यों में संपूर्ण राष्ट्र के अंतर्गत उत्कट क्रांति एवं तीव्र आंदोलन की प्रेरणा भरी होती है और ऐसे काव्य प्रायः उसी समय लिखे जाते हैं, जबकि कोई विदेशी आक्रमणकारी किसी राष्ट्र को अपनी पाशविक शक्ति का शिकार बनाकर उसे परतंत्र बनाने का प्रयत्न करता है। अथवा परतंत्र बनाकर राष्ट्र के जनजन को अपने क्रूर एवं उद्दंड शासन चक्र से कुचलना चाहता है या कोई शासक दमन चक्र के द्वारा निरीह भोली भोली जनता को उत्पीड़ित कर अन्याय एवं अधर्म के सहारे लूटता खसोटता हुआ अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करता है। उस क्षण क्रांति की लहर चतुर्दिक् फैल जाती है और कविजन अपनी रचनाओं के द्वारा उस क्रांति को और भी तीव्र रूप प्रदान किया करते हैं। अमेरिका, रूस एवं फ्रांस की जनक्रांतियाँ इसकी ज्वलंत प्रमाण हैं।

मैथिलीशरण गुप्त ने १९१२ ई० से लेकर मृत्युपर्यंत राष्ट्रीय भावों की गंगा को जन जन के जीवन में बहाने का भगीरथ प्रयास किया है। गुप्त जी ने सर्वप्रथम सन् १९१२ ई० में 'भारत भारती' लिखकर भारतवासियों का ध्यान उनकी वर्तमान दुर्दशा की ओर आकृष्ट किया और अतीत की गौरवमयी झाँकी प्रस्तुत करके उन्हें पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिये प्रोत्साहित किया। तत्पश्चात् 'वैतालिक' के जागरण गीतों द्वारा उन्होंने भारतवासियों को प्रगति

की ओर उन्मुख किया तथा भारतीय संस्कृति का पाश्चात्य संस्कृति के साथ सामंजस्य स्थापित करने का संदेश दिया। तदनंतर 'किसान' नामक काव्य में उन्होंने किसानों की दयनीय दशा पर क्षोभ प्रकट किया और उनके दुःख और दारिद्रय को उत्पन्न करनेवाली शोषण पद्धति को तत्काल समाप्त करने की प्रेरणा प्रदान की। इसके पश्चात् 'अनघ' काव्य को प्रोत्साहन देते हुए राष्ट्रसेवा और राष्ट्ररक्षा के साथ साथ स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये आत्मोत्सर्ग करने की भावना का प्रचार किया। तत्पश्चात् उन्होंने स्वदेश संगीत' के द्वारा परतंत्रता की घोर निद्रा में प्रसुप्त भारतवासियों को नवजागरण का संदेश दिया और 'हिंदू' काव्य का सृजन करके राष्ट्रव्यापी सामाजिक वैयक्तिक निश्चेष्टता, धार्मिक असहिष्णुता, जातिगत अनुदारता आदि की केंचुली को उतार फेंकने की प्रेरणा प्रदान की। तदनंतर 'शक्ति' काव्य की रचना करके कवि ने 'संघे: शक्ति कलियुगे' के मूलमंत्र को जन जीवन में व्यापक बनाने का स्तुत्य प्रयास किया और संपूर्ण राष्ट्र को परमुखापेक्षी न रहकर अपनी निजी शक्ति के संचय की प्रेरणा दी। इसके पश्चात् 'वनवैभव' की रचना करके उन्होंने भारतवासियों में व्याप्त हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या का पौराणिक आधार पर समाधान प्रस्तुत किया और सांप्रदायिक संघर्ष को दूर करके दोनों जातियों को एक होकर अपने शत्रु से लोहा लेने के लिये प्रोत्साहित किया तथा 'वक संहार' की रचना करके अन्याय को न सह सकने और न्याय के लिये संघर्ष करने की प्रेरणा दी। तत्पश्चात् उन्होंने 'गुरुकुल' काव्य की रचना करके सिक्खों के बलिदानपूर्ण आख्यानों द्वारा भारत राष्ट्र को सैनिक शक्ति, राज्य शक्ति अथवा शारीरिक शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति एवं मानसिक बल की श्रेष्ठता का मूल मंत्र दिया। तदनंतर 'नहुष' काव्य की रचना करके कवि ने समूचे राष्ट्र को 'नहुष' की भाँति अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए सतत् प्रयत्न करने की प्रेरणा प्रदान की। तदनंतर 'सर्जन और विसर्जन' की रचना करके उन्होंने राष्ट्र को शिक्षा दी कि स्वतंत्रताप्राप्ति के लिये बड़ा से बड़ा बलिदान श्लाघ्य होता है। इसके पश्चात् 'कावा और कर्बला' के द्वारा कवि ने पुनः हिंदू मुस्लिम एकता को मजबूत बनाने का सुंदर प्रयास किया और 'विश्व वेदना' की रचना करके युद्ध की विभीषिका से राष्ट्र को अवगत कराया एवं अधिक कर लगाने की नीति का घोर विरोध किया। तदनंतर 'अजित' में पुलिस के अत्याचारों की घोर निंदा की और जनता को आतंकवादी नीति के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा दी। तत्पश्चात् 'अंजलि और अर्घ्य' में पूज्य बापू पर आँसू बहाते हुए कवि ने गाँधी जी के विशिष्ट गुणों, विविध उपकारों एवं विपुल कार्यों से जन जन को परिचित कराया तथा देशवासियों की कृतघ्नता पर घोर क्षोभ व्यक्त किया। इसके पश्चात् गुप्त जी ने 'जय भारत' की रचना करके महाभारत के आख्यानों को नवीन दृष्टिकोण प्रदान

करते हुए भारत के अतीत का गौरव गान किया और मानवता के आदर्श को अपनाने की प्रेरणा प्रदान की। तत्पश्चात् 'राजा प्रजा' की रचना करके शासक और प्रजा के कर्तव्यों का उल्लेख किया और बताया कि यदि चाहें तो दोनों अपने पुरुषार्थ से इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना कर सकते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय काव्यधारा के क्रमिक विकास के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हिंदी के अन्य सभी कवियों की अपेक्षा मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में सर्वाधिक राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय जागरण की भावना विद्यमान है। आचार्य गुलाब राय ने ठीक ही लिखा है "गुप्त जी की कविताओं में राष्ट्रीयता और गाँधीवाद की प्रधानता है।" आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वीकार किया है कि गुप्त जी की रचनाओं में "सत्याग्रह, अहिंसा, मानववाद, विश्वप्रेम किसानों एवं श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और संमान सबकी झलक हम पाते हैं।" आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने भी स्पष्ट घोषणा की है—"राष्ट्र की ओर युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जाग्रति के स्मृतिचिह्न हमें हिंदी में सर्वप्रथम गुप्त जी के काव्य में ही मिलते हैं।"

डा० सत्येन्द्र ने भी ठीक ही लिखा है, "राष्ट्रीयता गुप्त जी का उद्देश्य है, परंतु संस्कृति शून्य राष्ट्रीयता उन्हें ग्राह्य नहीं है।" डा० कमलाकांत ने भी ठीक ही लिखा है "गुप्त जो ने वर्तमान दुरावस्था पर क्षोभ प्रकट किया और उसके निमित्त स्वराष्ट्र प्रेम के गीत गाए, जिसमें देशार्चन और स्वातंत्र्य प्रेम की राष्ट्रवादी भावनाएँ अथवा अहिंसक क्रांति की विचारधारा प्रकट हुई।" इसमें संदेह नहीं है कि गुप्त जी ने अपनी कृतियों के द्वारा राष्ट्रीयता के उदात्त भावों को जन जन के अंतःकरण में भरने का अथक प्रयास किया। देशवासियों को अपने गौरवमय अतीत से अवगत कराया। उनकी वर्तमान दुरवस्था के कारुणिक चित्र अंकित किए और उन्हें पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिये प्रोत्साहित किया। इन्हीं राष्ट्रीयता के पोषक उद्गारों के कारण महात्मा गांधी ने गुप्त जी को 'राष्ट्रकवि' की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत किया। इस ऐतिहासिक संमान के लिये काशी में अत्यंत भव्य समारोह किया गया जिसमें गांधी जी ने घोषणा की—"वे राष्ट्र के कवि हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार राष्ट्र के बनाने से मैं महात्मा बन गया हूँ।" महात्मा गांधी ने गुप्त जी को 'राष्ट्रकवि' की स्थायी पदवी से विभूषित करके मानो उनके ऊपर और भी अधिक राष्ट्रीयकाव्य के निर्माण का गुरु गंभीर दायित्व सौंप दिया और राष्ट्रकवि ने भी जीवन पर्यंत उस उत्तरदायित्व को निभाने का संकल्प करके अपनी लेखनी से राष्ट्रीय काव्यधारा का अविरल स्रोत प्रवाहित किया। डा० उमाकांत ने ठीक ही लिखा है "भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता के साथ साथ मैथिलीशरण जी प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि भी हैं—उनकी प्रायः सभी रचनाएँ राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हैं। अतएव हिंदी साहित्य के क्षेत्र में जीवन की दिशा को शृंगार की कीचड़ से निकालकर राष्ट्रीय भावों की पुनीत गंगा की ओर मोड़ने का सर्वाधिक श्रेय गुप्त जी को ही है और इसी कारण मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीय काव्यधारा में मूर्धन्य स्थान पर स्थित हैं।

द्वापर : आधुनिक जीवनमूल्यों का महत्वपूर्ण आलेख

कल्पना पाठक

'द्वापर' का प्रकाशन राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्य यात्रा में विशेष महत्व का नहीं माना गया किंतु अपनी तमाम परिसीमाओं के बावजूद यह कृति आधुनिक मान मूल्यों के प्रति उत्सुक चिंतन और परिवेश को बदलने की तत्पर आकांक्षा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। आज जब कि इसके प्रकाशन के ५० वर्ष से ऊपर हो रहे हैं इसकी प्रासंगिकता की जाँच ज्यादा आसान और ज्यादा उपयोगी सिद्ध होगी।

'द्वापर' के बारे में कुछ भी कहने के पूर्व इसके काव्यरूप पर विचार कर लेना ठीक होगा। रूप और वस्तु की पृथकता अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही स्वीकार्य है अन्यथा इन दोनों का संबंध अन्योन्याश्रित से भी अधिक घनिष्ट है। रूप वस्तु को निर्धारित करता है और वस्तु प्रायः नए नए रूपों का अन्वेषण करती है। द्वापर में भी यह संबंध दिखाई पड़ता है। इसके काव्यरूप पर विचार करने का कारण यह है कि इसका रूप विन्यास ही सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट करता है। महापुराण की कथा को प्रबंध काव्य की विषयवस्तु न बनाकर, कथा की प्रकृत-धारा से हटकर पूरी कथा में उभरने वाले महत्वपूर्ण पात्रों को उठाकर, उनको आत्मकथन शैली में उनके चरित्र का रेखाचित्र अंकित करना—निश्चय ही सन् १९३६ तक एक प्रयोग था और आगे भी वह एक प्रयोग ही माना जाएगा। द्वापर के बाद भी भागवत कथा अथवा महाभारतीय कथा को लेकर अनेक काव्य लिखे गए, प्रलंबित कविताओं की एक विधा ही सामने आ गई अनेक गीति नाट्य लिखे गए किंतु ऐसा कोई काव्य देखने में नहीं आया जिसमें कृष्ण की भागवत कथा के प्रमुख चरित्रों को पृथक् पृथक् इस प्रकार काव्यबद्ध किया गया हो।

ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर खोजने के लिये हमें 'द्वापर' की भूमिका से प्रासंगिक अंश उद्धृत करना होगा। "द्वापर के चित्रण के लिये जिस विशाल पट की आवश्यकता है उसकी पूर्ति इन परिमित पृष्ठों से क्या हो सकती है किंतु जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है, वह लेखक के जीवन में बहुत संकल्प विकल्प पूर्ण रही, क्या जाने इसी कारण से यह नाम आ गया या किसी अन्य कारण से से यह भी द्वापर—संदेह की बात है।" इस कथन में दो बातें लक्ष्य करने योग्य हैं :—

१. कवि इस बारे में सचेत है कि 'द्वापर' के चित्रण के लिये एक विशाल

पटभूमि वाले काव्य की आवश्यकता थी जो अस्त व्यस्तता (संकल्प विकल्पपूर्ण मनः स्थिति) के कारण संभव न हो सकी।

२. 'द्वापर' की रचना संकल्प विकल्पपूर्ण परिस्थितियों में हुई। वस्तुतः वैचारिक अथवा पारिस्थितिक द्वंद्व के पीछे संदेह और रस जैसी अनेक वृत्तियों से बुद्धि और मन संक्रांत रहते हैं। अंतर्वाह्य संबंधों के दौर से गुजरता रचनाकार कोई एकतान प्रबंध काव्य की सृष्टि नहीं कर सकता। वह मुक्तक—भले ही वह प्रलंबित क्यों न हो—की ही सृष्टि कर सकता है।

जहाँ तक गुप्त जी का प्रश्न है वे मूलतः और मुख्यतः प्रबंध कवि हैं। एक प्रबंध कवि के नाते उनका ध्यान इसके पूर्व 'जयद्रथ-वध' में कृष्ण कथा की ओर गया था। सच पूछा जाय तो संकल्प विकल्प, संघर्ष और प्रतिकार के दौर से गुजरती कृष्ण-कथा स्वभावतः कवि की जीवनगत परिस्थितियों के मेल में थी। अपने मानसिक संकल्प विकल्पों को अभिव्यक्ति देने के लिये ही वह भागवत कथा और महाभारतीय कथा के उन तमाम चरित्रों को चुनता है जो कृष्ण जीवन से संपृक्त तो थे ही आधुनिक जीवन के द्वंद्वों का समाधान करने में भी सक्षम थे।

इस प्रकार 'द्वापर' का काव्यरूप कथमपि प्रबंध काव्य का नहीं है। यह वस्तुतः चरित्राधारित प्रलंबित कविताओं का संग्रह है जिसमें कथाओं के स्फुट संदर्भ होते हुए भी कथा को प्रधानता नहीं है। इसके विपरीत इसमें कहीं कहीं भावप्रसार मिलता है कहीं संकल्प विकल्पों का द्वंद्व विस्तार। भावना और तर्क के ताने बाने से बुना यह काव्य कदापि प्रबंध काव्य नहीं है यह एक शुद्ध प्रलंबित मुक्तक काव्य है। इस पूरी कृति की एकता, प्रत्येक चरित्र के कृष्ण से जुड़े होने से ही स्थापित होती है।

किसी किसी विद्वान् ने इस काव्य का नायकत्व द्वापर युग को ही दे दिया है। किंतु प्रश्न यह है कि जब यह प्रबंध काव्य नहीं है तो कथा नायक की ही इतनी चिंता क्यों? सच पूछा जाय तो प्रत्येक अध्याय का नायक स्थूलतः उसका प्रतिपाद्य चरित्र है और सूक्ष्मतः कृष्ण की महिमा का उन चरित्रों के माध्यम से प्रकाशन।

किसी सीमा तक इसका शिल्प विधान गीति काव्यात्मक है। द्वापर में कम से कम राधा, यशोदा, ग्वालबाल ये तीन अध्याय ऐसे हैं जिनका चरित्र भी गीतात्मक (लिरिकल) है और उपस्थापन भी। उदाहरणस्वरूप—

(१) शरण एक तेरे मैं आई
धरे रहें सब धर्म हरे

बजा तनिक तू अपनी मुरली
नाचें मेरे मर्म हरे
—राधा

(२) तेरा दिया राम सब पावें
जैसा मैंने पाया
—यशोदा

(३) बलिहारी, बलिहारी जय जय
गिरधारी गोपाल की
——ग्वाल बाल

प्रथम उदाहरण में 'हरे' पूरे अध्याय की पंक्ति के अंत में आता है, दूसरे उदाहरण में 'तेरा दिया राम सब पावें जैसा मैंने पाया ।' प्रत्येक दस पंक्तियों के बाद आता है तीसरे उदाहरण में 'बलिहारी बलिहारी जय जय गिरधारी गोपाल की' का ध्रुवक ८८ पंक्तियों के बाद आता है। निस्संदेह ये तीनों अध्याय गीति काव्यात्मक हैं किंतु शेष अध्याय छांदिक बुनावट के हैं और इनमें एक चरित्र अपने विभिन्न आयामों एवं फलकों के साथ विन्यस्त है। ये प्रबंध इसलिए नहीं हैं क्योंकि इनमें कथा नहीं है। ये सभी गीतिकाव्य इसलिये नहीं है क्योंकि इनमें तीन को छोड़कर सबकी बुनावट प्रलंबित मुक्तक काव्य की है। ये इसलिये मुक्तक काव्य हैं कि इनमें वस्तु का आधार भले लिया गया हो, चित्रण हुआ है मानसिक आघात प्रतिघात, क्रिया प्रतिक्रिया का और भावगत अंतर्द्वंद्वों का ही।

(२)

द्वापर में जिन चरित्रों को लिया गया है उनके दो पक्ष उभरकर सामने आते हैं :—

१. प्रेम ममता और भक्ति का पक्ष
२. कर्तव्यबोध, क्रांति संघर्ष और रूढ़ि मुक्ति का पक्ष

सामान्यतः राधा, कुब्जा, गोपी, विधृता, नंद, यशोदा और ग्वालबाल प्रेम, भक्ति और ममता के नाते कृष्ण से जुड़े हैं। विधृता, बलराम, नारद देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, सुदामा आदि कर्तव्यबोध, क्रांति, संघर्ष एवं भक्ति पक्ष से जुड़े हुए हैं। वैसे ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि दूसरे पक्ष वाले भी प्रथम पक्ष से और प्रथम पक्ष वाले भी दूसरे पक्ष से न्यूनाधिक मात्रा में जुड़े हैं। सच तो यह है कि द्वापर का अधिक प्रखर और प्रेरक भाग दूसरा ही है। हम एक एक पक्ष का विश्लेपण नीचे करेंगे।

प्रेम और आत्मसमर्पण

राधा, गोपी और कुब्जा ये तीन अध्याय ऐसे हैं जो कृष्ण प्रेम में डूबे

हुए हैं। राधा कृष्ण की शरणागता हैं उनके सारे कर्म कृष्णार्पित हैं। वे चाहती हैं कि कृष्ण उनके रंक शरीर को अपने अंक में लिए रहें और अपनी मुरली बजाते रहें। उन्हें चिंता है कि वे बुधा (प्रबुद्ध) तो नहीं हैं वे सिर्फ मुधा (मुग्धा) हैं। राधा प्रेमतृप्त हैं। किंतु कृष्ण की प्रेमतृष्णा अन बुझी है। यदि वे अपना पथ पकड़े चले जाते हैं तो राधा को कोई आपत्ति न होगी उसे तो सुधि सुधा भर चाहिए।

निज पथ धरे चले जाना तू,
अलं मुझे सुधि सुधा हरे।

यहाँ गुप्त जी की राधा में गुप्त जी की ही यशोधरा झाँकती नजर आती हैं—'सखि, वे मुझसे कहकर जाते × × कह तो क्या वे मुझको अपनी पथ बाधा ही पाते।'

भक्तिकाव्य की राधा और गुप्त जी की राधा में मूलभूत अंतर है। भक्ति काव्य की राधा में कृष्ण वियोग की पीड़ा तो है किंतु शिकायत कम है और कृष्ण के लोक-कल्याण हेतु मथुरा जाने की चेतना तो नहीं के बराबर है राधा और गोपी प्रसंग में संपूर्ण समर्पण के बावजूद कहीं न कहीं शिकायत का स्वर अवश्य सुनाई पड़ता है :—

क्या मानापमान करती हूँ
कर न बैठना, क्रोध हरे
भूले तेरा ध्यान राधिका
तो लेना तू शोध हरे

वैसे समर्पण का एकांत स्वर यहाँ भी है :—

झुक, वह वाम कपोल चूम ले
यह दक्षिण अवतंस हरे
मेरा लोक आज इस लय में
हो जावे विध्वंस हरे

राधिका की रचना कवि ने परंपरागत द्रव्यों से ही की है किंतु उसमें कुछ ऐसे संकेत झाँक रहे हैं जो आधुनिकतामूलक हैं, ज्ञानपरक और बुद्धिपरक हैं—

कैसे तुष्ट करेगी तुझको
नहीं राधिका बुधा हरे

इसी काव्य में अन्यत्र राधा के बारे में कहा गया है :

राधा स्वयं यही कहती है
उसे जगत की पीड़ा

छूट गई जिसमें पड़कर हा
व्रज की सी वह क्रीड़ा

लोककल्याण की यह चेतना द्विवेदी युग की खास पहचान है जो हरिऔध मैथिलीशरणगुप्त तथा अन्य अनेक कवियों में प्रकट हुई।

उद्धव गोपी प्रसंग में भी राधा गोपियों के उल्लेखों के माध्यम से ही सामने आती हैं। यहाँ राधा अपने में खोई सी चित्रित हुई हैं। वे कृष्ण का चिंतन करते करते स्वयं कृष्ण हो गई हैं और कृष्ण भाव से कृष्ण को राधिका कहने लगी हैं। उद्धव का ज्ञानोपदेश परंपरागत रूप से यहाँ भी गोपिकाओं द्वारा निंदित और अस्वीकृत किया है। दो उदाहरण उपर्युक्त दोनों निष्कर्षों के आधार हैं—

(१) राधा में माधव, माधव में
राधा-मूर्ति समाई

(२) चिल्ला उठती है विलोल सी
बोल राधिके राधे
ज्ञानयोग में हमें हमारा
यही वियोग भला है
जिसमें आकृति प्रकृति रूप गुण
नाट्य कवित्व कला है

गोपियाँ राधा के बारे में एक ऐसी बात कहती हैं जिसकी कल्पना भी कृष्ण भक्तकवि इस रूप में नहीं कर सकते—

राधा जब तक है अभागिनी
करे कृष्ण मनमानी
उसमें अहं भाव तो आवे
भरें न आकर पानी

यही वह बिंदु है जहाँ गुप्त जी की राधा सूर की राधा से पृथक् हो जाती हैं। उनमें केवल निराशा ही नहीं है आशा और विश्वास भी है; वे मानिनी तो नहीं हैं किंतु उन्हें अपने मान का ध्यान अवश्य है।

ग्वालवाल का कृष्णप्रेम सख्यभक्ति के स्तर का है। शायद स्थान संकोच-वश, अथवा पुनरावृत्ति बचाने के उद्देश्य के कारण यहाँ उन शैतानियों का संकेत मात्र किया है जिनसे कृष्ण और उनके ग्वालवाल मित्र भरे हुए थे—

हम हाथी घोड़े हैं उसके;
यमुना उसकी पालकी।
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी गोपाल की।

कृष्ण के खेलों का गुप्त जी ने दार्शनिकीकरण कर दिया है यह भी उन पर बुद्धिवाद का ही प्रभाव है—

खेल उसी का, वही खिलाड़ी
और खिलौना भी वही
खेलें उसके संग सदा हम
इष्ट हमें बस हैं यही
चोरों की है या विनोद के
धनियों की यह मंडली
घर का भद्र जहाँ भेदी है
वहाँ किसी की क्या चली
बढ़ जाने में कुशल और हम
कूद भागने में बली

वस्तुतः बालोचित शैतानियों की इन तमाम बातों में चित्रण वैशिष्ट्य नहीं है। सूर में चित्रण वैशिष्ट्य है। यह इसलिये हुआ है कि इनमें गुप्त जी हरिऔध जी की ही तरह कृष्ण को नेता और ग्वालवालों को अनुसरण कर्ता के रूप में देखते हैं।

'ग्वालबाल' शीर्षक अध्याय पर्याप्त भावमय है। किंतु यह भावमयता कृष्ण के उन उपकारों से उद्भूत हुई है जो उन्होंने गोप जाति के साथ की है। इसलिये इसमें श्रीकृष्ण की स्तुति है किंतु यह स्तोत्र नहीं है न इसमें स्तुत्य देवी देवता का अलंकृत गुणानुवाद है। इसमें ग्वालबालों के अनुभव जगत् के वे सहजोछ्वास हैं जो कृष्ण के रहते न रहते उनके लिये जीवनालंबन बन गए हैं।

वह मृग वह मद किंतु भ्रमर हैं
हम उसके संबंध से
भागें भय के कीट आप ही
उस गुणधर की गंध से

नंद यशोदा कृष्ण से वात्सल्य प्रेम के नाते जुड़े हैं। यशोदा श्रीकृष्ण के विस्मयकारी क्रियाकलापों की कभी याद करती हैं तो कभी शिकायतों पर झुँझलाकर अपने दंड देने का, कभी उनके अप्रतिम सौंदर्य का स्मरण करती हैं तो कभी उनके लोकोत्तर साहस और उनकी माखनचोरी का स्मरण करती हैं; कभी राधा-प्रेम को याद कर दुःखी होती हैं तो कभी अपने सौभाग्यजन्य सुख दुःख का स्मरण करती हैं। वे कहती हैं :—

बना रहे वृंदावन तेरा
क्या है नगर नगर में

मेरा सुरसर बसा हुआ है
व्रज की डगर डगर में

पिता नंद की व्यथा भी कम गहरी नहीं है। कवि ने असाधारण सहृदयता और कौशल से नंद को पीड़ा को अंकित किया है—

शून्य गगन तेरी गोदी को
अभी अंक भर देगा

पर मेरी जीवन संध्या का
तिमिर कौन हर लेगा

कौन हूक उठ रही न जाने
यह मेरे गोकुल से

उतरूँगा क्या पार हाय
इसी धुएँ के पुल से

नंद ने अपनी बेटी खोकर कृष्ण को प्राप्त किया था किंतु आज वे कृष्ण भी देवकी वसुदेव को देकर खाली हाथ लौट रहे हैं। अपनी दारुण पीड़ा को वे दुःखिता राधा के स्मरण से कुछ हलका करते हैं। राधा को ही अपनी पुत्री मानकर उन्हें असीम संतोष होता है।

गोपियों का कृष्णप्रेम तो प्रसिद्ध ही है किंतु गोपियों के प्रगल्भ विदग्ध प्रेम निवेदन के केंद्र में भी राधा ही हैं मानों कृष्ण वियोग में राधा की दशा समस्त गोपिकाओं की प्रतीक बन गई हो। गोपिकाओं का अधिकांश कथन चूंकि उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के प्रतिवाद स्वरूप है इसलिये उसमें तर्कना अधिक है प्रेम निवेदन की तरलता कम। जहाँ सूर काव्य की गोपिकाओं के तमाम प्रतिवाद में बातें होकर भी तर्क का अभाव है वहाँ गुप्त जी में आधुनिक युग के प्रभाव से तर्कप्रवणता है और निगूढ़ तर्क देने की प्रवृत्ति। यों गुप्त जी अपनी सहज सरल शैली में जो स्मृतिचित्र आंकते हैं उनकी मार्मिकता अनुभव करने योग्य है—

आता था प्रतिदिन वह वन से
संग संग दल बल के

सीधा मानस में जाता था
राजहंस-सा चल के

हलके हलके छलके छलके
श्रम जल के कण झलकें

उनके लिए न रहते किसके
प्यासे लोचन ललके

(३)

यह ध्यातव्य हैं कि 'द्वापर' का प्रकाशन १९३६ ई० में हुआ जब भारतीय राजनीति में गांधी जी के अहिंसात्मक सत्याग्रह के अलावे चंद्रशेखर आजाद भगत सिंह जैसे क्रांतिकारियों की क्रांति समीक्षा भी रंग लाने लगी थी। यही वह समय है जब कांग्रेस के अंदर से समाजवादी विचारधारा की पहचान अलग होने लगी थी। यही वह समय है जब हिंदी साहित्य में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। यही वह समय है जब भारतीय जनता में अपने अधिकारों की माँग तेज पड़ने लगी थी। 'द्वापर' के कई अध्याय पूरी ताकत से साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध स्वाधीनता की अधिकारचेतना और तमाम विकासरोधी शक्तियों से संघर्ष का शंखनाद करते हैं। नारी संमान, रूढ़िवाद का विरोध, लोकतांत्रिक चेतना, निरंकुश राजतंत्र का विरोध, सतत प्रयोगशीलता, भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद, सह-अस्तित्व, जैसे आधुनिक और प्रगतिशील विचारों का समर्थन द्वापर में बराबर प्राप्त होता है।

'विधृता' नामक अध्याय में भागवत महापुराण के मात्र एक श्लोक को अपनी मौलिक उद्भावनाशीलता से कवि ने अधिकार चेता नारी का एक ऐसा स्वर्णिम चित्र बनाया है जो आत्मसंमान के लिये अपने प्राणों का त्याग कर देती है। यह आत्मसंमान भी किसी अन्य पुरुष से आहत नहीं होता। आहत होता है अपने पुरुष के अविश्वास से—यहीं इस प्रसंग की आधुनिकता है।

अविश्वास, हम अविश्वास ही
नारी के प्रति नर का

नर के तो सौ दोष क्षमा हैं,
स्वामी है वह घर का।

और यह अविश्वास उत्पन्न होता है भक्तिभाव से भावित और बच्चों के भूख से करुणा द्रवित नारी और कर्मकांड और यज्ञों में विश्वास करने वाले पुरुष के बीच होने वाले द्वंद्व से। इसमें भी नारी का मंतव्य भी कितना तर्कसंमत और कितना उदार है—

श्रुतिदर्शी ऋषिर थे हमारे,
दंभी या अभिमानी;
घोषित आप उन्होंने की थी,
नेति नेति की वाणी।

और न्यून वाल्मीकि व्यास किस,
ऋचा रचयिता ऋषि से,
युग-युग भी परितृप्त रहेंगे,
जिनकी अक्षय कृषि से।

अंततोगत्वा पुरुष को अपने प्रति शंकाकुल देखकर यह अपने को अपमानित अनुभव करती है और वह पुरुष की संदेह दग्ध ज्वाला में अपनी आत्माहुति दे देती है।

जाती हूँ जाती हूँ अब मैं और नहीं रुक सकती।
इस अन्याय समक्ष मरूँ मैं कभी नहीं झुक सकती।

'बलराम' निश्चय ही अनेकानेक नए विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। परंपरागत मार्ग का कालांतर में संकीर्ण और अपरिष्कृत होकर हानिकर हो जाना ही नए प्रयोगों को जन्म देता रहा है। बलराम कहते हैं—

वही गतानुगतिकता पर ही,
रह सकता उद्योगी,
नए नए गीतों की रचना,
उन्हीं स्वरों पर होगी।

गतानुगतिकता पर कवि और भी सशक्त शब्दों में प्रहार करता है—

जीर्ण वस्तुओं की ममता से,
घर ही घूड़ा होगा;
कहा आज का कुसुम हार भी,
कल का कूड़ा होगा।
यदि मानस गोमुखी हमारी,
निरवधि नहीं झड़ेगी,
तो गर्तों में ही जीवन की,
धारा पड़ी सड़ेगी।

इसी तरह रूढ़ियों पर भी कवि कशाघात करता है :—

एक समय जो ग्राह्य,
दूसरे समय त्याज्य होता है;
ऊष्मा में हिम के कंवल का,
भार कौन ढोता है।

सजल रूपिणी पुरवैया सी,
खिड़की से आती है;
और शीलसी लोकालय में,
रूढ़ि बैठ जाती है।

मैथिलीशरण यह सब लिखते हुए दो खतरों के प्रति पूर्ण सचेत थे। एक परंपराप्रेमी रूढ़िवादियों की ओर से और दूसरे आत्महीनता से पीड़ित आधुनिकता प्रेमियों की ओर से भी। कवि ने यह बहुत बड़ी बात कही है :—

अपने युग को हीन समझना
आत्महीनता होगी;
जिस युग में हम हुए वही तो,
अपने लिये बड़ा है।

कवि स्पष्ट रूप से कुछ बुनियादी प्रश्नों को बलराम के शब्दों में उठाता है। प्रयोग का तो अनेक प्रकार से समर्थन करता है–

भूमि पूर्वजों की है निश्चय,
कर्षण किंतु तुम्हारा;
इसीलिये तो था यथार्थ में,
उन सबका श्रम सारा।

कवि के शब्दों में बलराम मानवता की बात उठाते हैं–

मनुष्यत्व जन में रहता है,
नहीं विशाल भवन में;
वह भी क्या दुर्लभ है तुमको,
जो तुम चाहो मन में।

वस्तुतः मनुष्य चाहे पुराना हो अथवा नया उसकी मूलभूत प्रतिश्रुति मानवता के प्रति है। और मानवता के इस धरातल को पुष्ट करने के लिये निरंतर कर्मशीलता और रचनशीलता की जरूरत होती है–

किंतु कर्म कौशल से यदि हम,
अपना मुँह मोड़ेंगे;
वरुण देव तो हमें बहाए,
बिना नहीं छोड़ेंगे।

और कर्म अधूरा समर्पण नहीं माँगता वह पूर्ण आत्म समर्पण चाहता है जिसे 'धुन' कहते हैं—

न हो एक उन्माद एक धुन,
एक लगन यदि जन में
तो उस अप्रमत्त को लेकर
है क्या लाभ भुवन में

जो कवि कर्मप्रमत्ता की खोज में सुरापायी बनकर कर्मधुनी प्रमत्तों को भी क्षमा कर देता है---

भय क्या सुरा पिए हो कोई
उसे सुरा न पिए हो
तो शुभ यह उस असुरापी से
जो निज दंभ किए हो

कवि को चिढ़ उस व्यक्ति से है जो समझदार होकर भी अकर्मण्य है :—

देख रहा है समझ रहा है किंतु नहीं कुछ करता।
कर्म भूमि का भार रूप वह डूब नहीं क्यों मरता॥

कर्म के आधार की खोज करता हुआ कवि मिट्टी तक पहुँचता है—

अंतरिक्ष के नहीं किंतु हम
उस वसुधा के वासी
जिसके सरस गंध गुण के हैं
आप अमर विश्वासी
धात्री वह गो रूप धारिणी
शस्य शालिनी धरणी
लोकपालिनी वह भव भव की
भारवाहिनी भरणी

बलराम कहते हैं जो अपनी मिट्टी से जुड़ा रहता है अर्थात् एक ही साथ अपनी परंपरा और अपने परिवेशगत यथार्थ से संलग्न रहता है वही अन्याय से भी संघर्ष करता है-

अपने व्रज की रज में ही तुम
सब विभूतियाँ पाओ।
दूध पिओ अपनी गायों का
वीर-बली बन जाओ।

एक एक सौ सौ अन्यायी,
कंसों को ललकारो।
अपनी पुण्य भूमि के ऊपर
धन जीवन सब वारो।

बलराम के जीवन दर्शन में स्वस्थ प्रगतिशीलता के सभी तत्व प्राप्त होते हैं। उनकी प्रगति ऐसी नहीं है जो परंपरा के स्वस्थ तत्वों का तिरस्कार करे, उनके प्रयोग ऐसे नहीं हैं जो अपनी धरती से उच्छिन्न हों, उनका दर्शन ऐसा नहीं है जिसका संबंध कर्म कौशल से न हो, उनका कर्म कौशल ऐसा नहीं है जिसमें कर्म के पीछे कोई औपचारिकता का निर्वाह मात्र की बात हो, सच्ची धुन न हो, उनकी समन्वित ठोस प्रगतिशीलता ऐसी नहीं है जो परिस्थितियों को बदलने के लिये कृत संकल्प न हो।

बलराम का और प्रायः हर युग का सबसे बड़ा प्रश्न कई बार निरंकुशतंत्र के खिलाफ संघर्ष करना होता है। बलराम इसके बारे में अपना स्पष्ट मंतव्य देते हैं—

राजा स्वयं नियोज्य तुम्हारा
यदि तुम अटल प्रजा हो

यह राजतंत्र के विरुद्ध प्रजातंत्र का स्वर है।

लोकतंत्र का ही स्वर नारद की वाणी में भी गूंजता है :

बिना विवादी के विनोद क्या
बस प्रयोग सर्वत्र बड़ा
बने भैरवी भी मृदु मधुरा
मेरा माध्यम रहे कड़ा।

चूंकि द्वापर में भी कंस और कुरुवंशियों की निरंकुश बर्बरता थी इसलिये बलराम स्पष्ट उससे संघर्ष की बात कहते हैं—

प्रस्तुत रहो, कृष्ण नूतन मख
रचने ही वाला है
अब निर्मम विद्रोह मोह पर
मचने ही वाला है

यह नूतन यज्ञ निर्मम विद्रोह मार्ग से आने वाला है—कवि का यह स्वर समकालीन समझौतावादी राजनीति के विरुद्ध था। इसे और साफ करते हुए बलराम कहते हैं कि नवनिर्माण के लिये विनाश को भी आमंत्रित करना होता है।

रही चुनौती आज हमारी
अधिक क्या कहूँ यम को
नई सृष्टि के लिये प्रलय भी
प्रेक्षणीय है हमको

हिंसा और अहिंसा का कोई द्वंद्व बलराम के सामने नहीं है।

नहीं तत्वतः कुछ भी मेरे
आगे जीना मरना
किंतु आत्मघाती होता है
घात किसी पर करना

यह आत्मघाती आघात वह नहीं होता जो अन्यायी का प्रतिरोध करते हुए होता है बल्कि यह आघात वह होता है जो अन्याय के कारण होता है।

नारद ने भी 'ओऽम शांति' के स्थान पर अवांछनीय परिस्थितियों के बदलाव के लिये क्रांति का उद्घोष किया है—

हरि, ओऽम, पर इसके आगे ? शांति ? नहीं हो शांति नहीं।
शांति अंत में आप आयगी, व्यर्थ जन्म जो क्रांति नहीं।

कवि सुधार का वहीं तक पक्ष लेता है जहाँ वह संभव हो किंतु जहाँ यह असंभव हो, उपदेश व्यर्थ हों वहाँ विनाश ही एक मात्र मार्ग है—

'तूर्ण मरण ही मंगल उसका जिसका रोग असाध्य हुआ।' इतना ही नहीं—

अरे आग भी कभी लगानी पड़ जाती है हमें यहाँ।
कूड़ा कर्कट ही न अन्यथा, भर जावे फिर जहाँ तहाँ।

नारद ने उसी हँसी की भर्त्सना की है जिसके भीतर कोई न कोई विषाद न छिपा हो। विषाद से शून्य आनंद निर्लज्जता है।

वह अलज्ज, जिसके हँसने में
कोई रोना छिपा न हो

आधुनिकता और मध्यकालीनता के संघर्ष का एक रूप पीढ़ियों का संघर्ष है। कंस द्वारा बंदीगृह में डाल दिए गए उग्रसेन दुःखपूर्वक नई पीढ़ी के बलपूर्वक अधिकार ले लेने का समर्थन करते हैं किंतु उसके भीतर पुरानी पीढ़ी द्वारा नई पीढ़ी के अधिकारों की स्वीकृति भी स्पष्ट सूचित होती है :—

नये कहाँ बैठें सोचो, यदि
हटे न यहाँ पुराने ?

उग्रसेन वीरता को परिभाषित करते हैं– खासतौर से निरंकुश वीरता के संदर्भ में—

भुजवल का ही विश्वासी वह, सत्ता का साधक है;
पर शिवहीन शक्ति का साधक, बाधक ही बाधक है।

अन्यत्र कहते हैं—'विफल वीरता किसी वीर की, यदि वह धीर नहीं है।' निरंकुश सत्ता–जो भय और आतंक पर ही टिकी रहती है—बहुत दिनों तक ठहर नहीं पाती—

भय देकर ही कोई भव में, यदि चिर जय पा सकता;
तो नय और विनय की किसको होती आवश्यकता।

अक्रूर ने मानवतावाद के 'जियो और जीने दो' संदेश को मुखरित किया है जो आज विश्व की आधुनिकतम राजनीति का आधारभूत सिद्धांत–सहअस्तित्व–बन गया है।

तुम निर्माण नहीं कर सकते, फिर क्यों नाश करोगे?
जीने देकर जियो, मारकर, क्या तुम नहीं मरोगे?

द्वापर के उपर्युक्त विचारों में सुदामा एक नया स्वर जोड़ते हैं। वह है उनका समाजवादी विचार—

अन्न वस्त्र क्या, धरा धाम क्या,
यदि हम समधिक लेंगे;
तो औरों के लिये उन्हें हम,
निश्चय कम कर देंगे।

सच पूछा जाय तो मैथिलीशरण गुप्त ने द्वापर को 'संशय का युग' कहकर भागवत महापुराण के ऐकान्तिक भक्ति के तन्मयता वाले पक्ष को उतना नहीं लिया है जितना महाभारत और गीता के शंकाकुल हृदय और अंतर्द्वंद्वमथित पात्रों के उद्‌गारों को। गुप्त जी कंस और बलराम––दो नवयुवकों में कंस की निरंकुशता और क्रूरता का प्रतीक बनाते हैं तो बलराम को विद्रोह और नई पीढ़ी की आशा आकांक्षा का। यह देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि द्वापर १९३६ में ही आधुनिकता का उद्‌घोषक बन गया प्राय: सभी मूलभूत आधुनिक मूल्यों और आदर्शों को समेटकर।



नारी का आदर्श और गुप्त जी की यशोधरा

डा० कुमुदप्रभा श्रीवास्तव

श्रीयुत् मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में नारी को विशेष महत्व मिला है। उन्होंने नारी को आधार बनाकर अनेक काव्यग्रंथों की रचनाएँ कीं। उनके द्वारा चित्रित नारियाँ आदर्श हैं, जो हमारे संमुख एक विशेष प्रकार की नारी की छवि रखती हैं—सती साध्वी, त्यागमयी नारी की छवि। गुप्त जी के पूर्व रीतिकाल में नारी अंगप्रत्यंग के सौंदर्य से जगमगाती हुई 'पावकभ़र' सी दाहक तथा विलासमयी चित्रित हुई है। अपने आनन से नित्य प्रति पूनम का उजाला छिटकाने वाली रीतिकालीन नारी एक सीमा में बद्ध दिखाई पड़ती है। गुप्त जी ने उस नारी को घेरे से बाहर निकालकर उसे उदात्त रूप प्रदान किया। गुप्त जी के यहाँ नारी गार्हस्थ्य जीवन में प्रतिष्ठित हुई और उसने पत्नी, माता, गृहवधू, आदि की भूमिका निभाई। नारी अनेक रंगों में सुशोभित दिखाई पड़ी। इस तरह रीतिकालीन नारी से भिन्न यहाँ वह अपने त्याग और तपस्या के तेज से जगमगा रही है। परंतु ये दोनों अतिवादी छोर हैं। इनसे भिन्न एक तीसरी नारी भी है जो शरीर और मन दोनों स्तरों के साथ जीती है। जो धरती और आकाश को साथ लिए चलती है। वह आकाश कुसुम नहीं, धरती पर खिला हुआ फूल है। इस मानवी नारी को हम गुप्त जी के काव्य में नहीं पाते। उनके यहाँ नारी तेजस्विता के आगे अपना प्रेममय रूप दवा बैठी है। शील के आधिक्य ने उसकी कोमल भावनाओं को ढँक दिया है। अतः ये नारियाँ सती साध्वी, तेजस्वी तो हैं पर उनका सौंदर्यपरक व रागात्मक रूप उपेक्षित हो गया है। फलतः गुप्त जी के काव्य में उपदेश का पलड़ा अनुभूति के पलड़े से भारी हो गया—उसमें संतुलन नहीं रह पाया। इसके मूल में उनकी युगीन चेतना का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतीय पुनरुत्थान का प्रभाव गुप्त जी पर भी पड़ा। 'सच पूछिए तो प्रवृत्ति का उत्थान, बुद्धि की स्वतंत्रता और नारियों की मर्यादा वृद्धि ये तीनों पुनरुत्थानकारी आंदोलन के सबसे बड़े परिणाम हैं।'[1]

अतः नारियों को देखने की दृष्टि परिवर्तित हुई। पुनरुत्थान के प्रभाववश गुप्त जी ने नारी को सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया और नरनारी की समानता दिखाई। द्विवेदी युगीन नैतिकतापरक, सुधारवादी, उपदेशात्मक दृष्टि से वे

---

१. दिनकर—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त पृ० ६७२ अभिनंदन ग्रंथ।

अछूते न रह सके। अतः उनके काव्य में नारी महिमामयी उच्च भावभूमि पर अवस्थित है जिसके तेज के आगे पुरुष पात्र फीके लगते हैं।

गुप्त जी ने अनुभव किया कि पुरुषों के जीवन को उत्कर्ष प्रदान करने में उनकी नारियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। कुछ अपवादों को छोड़कर ऐसी नारियों की कथा अवहेलित ही रही। महापुरुषों की चकाचौंध के आगे दबी ढँकी नारी की ओर भला किसकी दृष्टि जाती। लिहाजा महापुरुषों को लक्ष्य करके तो अनेक रचनाएँ सामने आईं पर उनके जीवन को महत् बनाने में अपना जीवन उत्सर्ग करने वाली साधिकाओं पर लोगों का ध्यान कम गया। 'यशोधरा' की भूमिका में गुप्त जी लिखते हैं—

हाय ! यहाँ भी वही उदासीनता ! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गईं और उन्होंने उधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश विदेश के कितने ही कवि कोविदों ने गाया है परंतु गर्विणी गोपा की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता को देखकर मुझे शुद्धोधन के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि 'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको'।[1] गुप्त जी का संवेदनशील भावुक मन यह अनुभव कर सका कि जीवन की लंबी अवधि अकेले झेलते हुए पति की कल्याण कामना हेतु जीवन न्योछावर करने वाली नारी यों ही भुला देने की चीज नहीं है। अपने समस्त कर्तव्यों को निभाते हुए तापसी सा जीवन व्यतीत करने वाली उत्सर्ग मयी नारी का त्याग उपेक्षा की चीज नहीं है। उन्होंने इनकी व्यथा को वाणी दी। फलस्वरूप उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया जैसे नारी पात्रों को आधार बनाकर काव्यग्रंथों की रचना हुई जिससे इन उपेक्षित नारियों को नवजीवन मिला। ये नारियाँ विषम परिस्थितियों की आँच में तपकर कुंदन सी निखर उठी हैं। कहीं भी ये नारीत्व की मार्यादा से च्युत नहीं होतीं। इन नारियों के भीतर झाँककर गुप्त जी कह उठे—

'नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है"

तथा

"एक नहीं दो दो मात्राएँ नर से भारी नारी"

गुप्त जी के नारी पात्रों में सर्वाधिक प्रभावित करती है यशोधरा। यशोधरा का यह विकास गुप्त जी के जीवन की एक आकस्मिक और अप्रत्याशित घटना नहीं है अपितु उनकी नारी भावना के विकास की एक सबल शृंखला है जिसके भीतर उनके काव्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, नारीत्व की जातीय कल्पना और चिंताधारा है ?[2]

---

१. यशोधरा पृ० ५

२. श्री कल्याणमल लोढ़ा, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ पृ० ६२३।

मानवता के कल्याण हेतु गौतम के महाभिनिष्क्रमण के बाद यशोधरा के जीवन का चित्र खींचते हुए गुप्त जी कहते हैं—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

इसमें नारी का जो करुण दीन हीन चित्र उभरता है, वस्तुतः यशोधरा वैसी नहीं है। पति के जाने के बाद उसका जीवन एकाकी व अश्रुमय अवश्य है पर इस अश्रुमय जीवन में विवेक उसका साथ नहीं छोड़ता । वह पूर्वनारियों से अपने को जोड़कर बल पाती है। अपनी सखी गंगा से कहती है—'अभागिनी गोपा ही एक दुःखिनी नहीं है। उसकी पूज्य पूर्वनारियों ने भी बड़े दुःख उठाए हैं । उनके बल से मैं किसी प्रकार सह लूँगी गंगा ।'

इस वेदना में लोकहित की भावना मिलकर एक अनोखा रंग पा गई है । 'यशोधरा' की रचना सन् १९३३ में हुई थी । यह काल छायावाद के उत्कर्ष का काल था । प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला सभी कवि वेदना की महत्ता का गान गा रहे थे । प्रसाद ने 'आँसू' में वेदना को दर्शन से युक्त किया—

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूने जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा
आँसू इस विश्व-सदन में[1]

महादेवी ने 'रश्मि' की भूमिका में दुःख की महत्ता यों प्रतिपादित की— 'दुख मेरे निकट एक ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किंतु हमारा एक बूँद आँसू जीवन को अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता । मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है परंतु दुःख सबको बाँटकर—विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को, उस प्रकार मिला देना चाहता है जिस प्रकार एक जल बिंदु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है' ।[2] गुप्त जी की यशोधरा दुःख को व्यक्तित्व परिष्कार का साधन मानकर कहती है—

---

१. प्रसाद—'आँसू'
२. महादेवी, 'रश्मि' (अपनी बात) पृ० ६ ।

लाभ करती हूँ इसी भाँति आत्म शुद्धि मैं....
त्राण मिलता है मुझे तात ! जैसे मल्ल क्रीड़ा में
दुःख से भी जाऊँ ? मुझे उससे है मम्ता
बढ़ती है जिससे सहानुभूति समता।

वह दुःख में निराश हो जीवन से पलायन नहीं करती वरन् आशा का स्वर उसमें भरती है। वह कर्म सिद्धांत की पोषक है। बुद्ध की पलायन वृत्ति का विरोध हमें उसमें मिलता है। वह गौतम के वैराग्य का विरोध करती है जो जीवन संघर्ष को छोड़कर एकांत साधना में रत हैं। विरागी वह भी है पर उसका वैराग्य पत्नी का वैराग्य है। बुद्ध की वैराग्य भावना––

कैसा घूम रहा है चक्र ?

'वह नवनीत कहाँ जाता है रह जाता है तक्र!' का वह विरोध करती हैं—

आली, चक्र कहाँ चलता है ?

सुना गया भूतल ही चलता, भानु अचल जलता है !

परिवार के बीच कर्तव्यों का पालन करते हुए लोकहित करना उसका आदर्श है। गौतम सब संबंधों को तोड़ गए। पर वह संबंधों को मानती है। दृढ़तापूर्वक कहती है––

चाहे तुम संबंध न मानो
स्वामी ! किंतु न टूटेंगे ये, तुम कितना ही तानो
पहले हो तुम यशोधरा के
पीछे होगे किसी परा के

वह सच्ची सहधर्मिणी है उसमें अपने पति से जुड़ी रहने की आस्था दृढ़ है। कहती है—

उसमें मेरा भी कुछ होगा
जो कुछ तुम पाओगे ?

निज दुःख को वह लोककल्याण की भावना पर उत्सर्ग कर देती है। 'मेरे दुःख में भरा विश्व सुख' तथा 'जीव मात्र का हित मेरा उद्देश्य' कहकर इसी भावना को व्यक्त करती है। प्रिय मानवता कल्याण हेतु गए हैं। गौतम का यह निश्चय उसे दृढ़ता प्रदान करता है तथा वह गौरव से भर उठती है। इसके लिये वह दुःख सह लेगी। उस करुणामयी को लोक कल्याण की भावना गौरव से भर देती है—

सिद्धि हेतु स्वामी गए,—यह गौरव की बात ! तथा––

जाँय सिद्धि पावें वे सुख से
दुःखी न हो इस जन के दुःख से
आज अधिक वे भाते ।

गौतम के जाने के बाद शुद्धोदन तो अत्यंत असहाय दिखाई पड़ते हैं पर यशोधरा धीर, गंभीर, बुद्धिमती एवं उत्सर्गमयी । शुद्धोदन के कहने पर—

धीरा है यशोधरे, तू, धैर्य कैसे मैं धरूँ ?
तू ही बता, उसके लिये, मैं आज क्या करूँ ?

यशोधरा कहती है —

उनकी सफलता मनाओ तात मन से—
सिद्धि लाभ करके वे लौटे शीघ्र वन से !

यहाँ उसका व्यक्तित्व आश्चर्यजनक रूप से उन्नत दिखाई पड़ता है। सखियों के कहने पर कि गौतम निर्दयी हैं, उसे दुःख दे गए हैं, वह कहती है— "नहीं वे अपने दुःख का भागी बनाकर हमें अपना सच्चा आत्मीय सिद्ध कर गए हैं और हम सबके सच्चे सुख की खोज में ही गए हैं।" मिलन के समय की यशोधरा, जो रानी की तरह सुख वैभव भोगती थी, का वह परिवर्तित रूप विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता । उसके इस रूप से सभी चकित रह जाते हैं । इस परिस्थिति का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण गुप्त जी ने प्रस्तुत किया है। परिस्थिति जन्य दृढ़ता एवं धैर्य उसमें परिलक्षित हुआ है । बुद्ध की महत्ता उसे कुछ महान् करने की प्रेरणा देती है । प्रेरणा किस तरह व्यक्तित्व का परिष्कार करती है—यशोधरा के व्यक्तित्व परिवर्तन से सिद्ध हो जाता है। वह सोचती है—

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी ।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी ।

उसे एक ही धुन है—

'क्योंकर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी।' उसे लगता है कि उस पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है और उसे खरा उतरना ही है । वधूवंश की लज्जा बचाने के लिये उसकी तपस्या राजमहल में चलती है। वह दुःख में आत्मसीमित हो करुण क्रंदन नहीं करती, न कर्तव्यों से विमुख हो एकाकी रहती है वरन् परिवार के बीच समस्त उत्तरदायित्वों का वहन करती हुई स्वस्थ संतुलित नारी की भूमिका निभाती है। दुःखद स्थितियों ने उसे उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसमें सहानुभूति की भावना अत्यंत व्यापक है। इस सहानुभूति का प्रसार मानवजगत् और प्रकृति जगत् सर्वत्र व्याप्त है। सखियों से कहती है—

'तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख आली !' सबको सुखी देखने की इच्छा बलवती है—

उनके श्रम के सब फल भोगें
यशोधरा की विनय यही।

सूर की गोपियाँ हरे भरे मधुवन को देखकर कहती हैं—

मधुवन तुम क्यों रहत हरे ?
विरह वियोग स्याम-सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

पर यशोधरा प्रकृति के कण कण में अपने प्रिय का दर्शन करती है—

आशा से आकाश थमा है खास तंतु कब टूटे ?
दिन मुख दमके, पल्लव चमके, भव ने नव रस लूटे ?
स्वामी के सद्भाव फैलकर फूल फूल में फूटे !
उन्हें खोजने को ही मानो नूतन निर्झर फूटे !

चातक की पी पी की पुकार सुनकर कह उठती है—

'मुझसे पहले तू सनाथ हो, यही विनय इस घट की।' ऐसा नहीं कि उसके मन में कोमल भावना जगती ही नहीं। पति के वैराग्य धारण करते ही 'हास-विलासविनोद पूर्ण' गोपा धीर गंभीर बन जाती है। अपने सारे आभूषण, सुंदर वस्त्र त्यागकर गैरिकदुकूलिनी बन जाती है। यहाँ तक कि अपने केशों को भी कटवा डालती है। बस माथे पर सिंदूर बिंदु ही शोभित रहता है। इतनी तपस्या के बीच भी कभी कभी कोमल भाव जाग ही पड़ते हैं। प्रकृति के दृश्य को देखकर व्यथा जग पड़ती है—

हेमपुंज हेमंतकाल के इस आतप पर वारूँ।
प्रिय स्पर्श की पुलकावलि मैं कैसे आज विसारूँ ?

पर उसकी वेदना इसलिये महत्वपूर्ण है क्योंकि वह आशा जगाती है—

किंतु प्रकृति के पीछे भी तो एक पुरुष है न्यायी,
आशा रक्खो, आशा रक्खो, आशा रक्खो भाई।

गुप्त जी की वैष्णव भावना यशोधरा के चरित्र में घुल मिल गई है। जो कुछ है वह ईश्वर की इच्छा का परिणाम है और उससे कुछ न कुछ भला अवश्य होगा। वह कहती है —

सोने का संसार मिला मिट्टी में मेरा,
इसमें भी भगवान भेद होगा कुछ तेरा।

गांधी जी के जीवन दर्शन का भी प्रभाव यशोधरा के चरित्र में लक्षित होता है। सत्य अहिंसा का सिद्धांत आत्म संयम, इंद्रिय निग्रह, त्याग, सेवा भावना आदि बातें हमें उसमें दिखाई पड़ती हैं।

राहुल जननी के रूप में उसका व्यक्तित्व आदर्श है। राहुल का उचित

पालन पोषण कर वह उसे अपने पिता का अनुगामी बनाती है। राहुल और यशोधरा के बीच हर वार्तालाप तथा क्रीड़ा कौतुक में गौतम भी अप्रत्यक्ष रूप में हैं। राहुल अपनी तपस्विनी माता के दुःख से दुःखी है तो उनके प्रति गर्व से भरा भी है। कहता है—

मुक्ति बड़ी या मेरी माता, पूछ पिता से जाऊँ !

यशोधरा का मानिनी रूप उसके सब रूपों से बढ़कर है। वह अत्यधिक आत्मसंमानी युवती है। पति का अविश्वास और वियोग दोनों दुःख उसे एक साथ सहने पड़ते हैं। पति का अविश्वास उसे अंदर तक हिला डालता है साथ ही उसे शक्ति भी प्रदान करता है। मौन रहकर वह दुःख सहती है। पति ने उसे पूरा समझा नहीं। सिद्धिमार्ग में बाधा समझकर उसे सोती ही छोड़ गए। यह कसक उसे बराबर बनी रहती है। क्या वह इतनी हीन है ? क्या वह इतनी स्वार्थी है कि निज सुख के आगे लोक-हित को ठुकरा देती ? गौतम ने नारी को सिद्धिमार्ग में बाधक समझा। कैसे वह इस कलंक को दूर करे। आत्मसंमानी यशोधरा की समस्या यही है। उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। वह केवल सुख की चेरी ही नहीं वरन् लोककल्याण में भी उसका हाथ है। वह कहती है—

अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है।

न केवल वह गौतम की तपस्या में आत्मदान करती है वरन् राहुल को भी उनका अनुगामी बनाती है। बुद्ध को भिक्षा में राहुल का दानकर लोकहित के लिये अपना सब कुछ न्योछावर कर देती है—

तुम भिक्षुक बनकर आए थे, गोपा क्या देती स्वामी ?
या अनुरूप एक राहुल ही रहे सदा अनुगामी।
मेरे दुःख में भरा विश्व सुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी।



भारत की सामाजिक समस्याएँ और गुप्तसाहित्य

डा० मोहनलाल तिवारी

भारतीय संस्कृति के विकास की धारा में समाज के नियंत्रणकर्ता उच्चवर्ग या अभिजात वर्ग ने धर्म को समाज के सिर पर युगों पूर्व बैठा दिया और उसे इतना शक्तिशाली बनाया कि बिना जाने सुने करोड़ों व्यक्तियों ने भी उसे अपने जीवन में महत्वपूर्ण मान लिया और उससे परिचालित भी होने लगे। गीता में ज्ञानयोग को विशेष महत्व प्रदान किया गया, किंतु लोकजीवन में ज्ञान को कोई महत्व नहीं मिला। एक परंपरा बन गई। धीरे धीरे उसमें अंधविश्वास बढ़ता गया। परिणाम यहाँ तक पहुँचा कि लोक कर्म का परित्याग तक कर बैठे और राष्ट्रीय तथा सामाजिक दायित्व के लिये भी किसी रहस्यमयी सत्ता के भरोसे बैठे रहकर अपना सब कुछ गवाँ बैठे। जब पश्चिम एशिया के मुसलमानों ने देशपर आधिपत्य स्थापित किया तब हमारा देश और समाज कहीं से स्वस्थ नहीं था। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत अथवा अन्य वाङ्मय या दर्शन के समस्त आदर्श हमारे जीवन में मर चुके थे और, जब यूरप से आकर अंगरेजों, पुर्तगालियों और फ्रांसीसियों ने इस देश पर आधिपत्य स्थापित किया तब इस देश में सामाजिक स्वास्थ्य या सांस्कृतिक श्रेष्ठता के नाम पर कुछ था ही नहीं। लोग अतीत की कहानियाँ कहीं कहीं कहते और सुनते। हमारा सामाजिक जीवन आदि काल की असभ्यता, उत्पीड़न, शोषण, अमानवीय दुर्व्यवहार, अरक्षा, क्रूरता का अजायबघर बना हुआ था।

राजाराम मोहनराय अंधकार में प्रकाश की पहली किरण थे, जिसकी चमक पूरब में दिखाई पड़ी। यह नहीं था कि उन्हें अंगरेज साम्राज्यवादियों की दासता के बंधन को ही तोड़ना था, बल्कि दिल्ली के निरर्थक बादशाह की छत्र-छाया में पल रहे हजार किस्म के सामंतवादी हिंदू मुसलिम अभिशापों के विरुद्ध भी संघर्ष करना था। १८५७ में जनता के स्तर पर उतरी हुई रानी लक्ष्मीबाई और जननायक तात्याँ टोपे ने पूरे उत्तर भारत में लोकजागृति और राष्ट्रीय त्याग का जो अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया, वह आज भी हमारी चेतना को जागृत करने के लिये काफी है। उनके संघर्ष त्याग और बलिदान की ऐतिहासिक घटना ने विंध्याचल के उत्तरार्द्ध में अधिकांश भारतवासियों को प्रेरित किया और व्यक्तिगत स्वार्थ के संकीर्ण घेरे से निकालकर लोगों को समाज के विशाल उद्यान में झाँकने और उसकी चिंता करने के लिये बाध्य किया।

तत्काल बाद पुनरुत्थान और सर्वांगीण जागृति का संदेश लेकर दयानंद सरस्वती हिंदू समाज या देश के बहुमत समाज के संमुख श्रेष्ठ नेतृत्व प्रदान करने के लिये तथा हर्षवर्धन के बाद गिरती गई और अंत में मृतप्राय हमारी सामाजिक अस्मिता को पुनरुज्जीवित करने के लिये देश के समक्ष प्रकट हुए। थियोसोफिकल आंदोलन के साथ डा० ऐनी बेसेंट ने उत्तर से दाक्षिण तक सोए हुए भारत को जगाया और 'होमरूल' (स्वशासन) की मांग प्रस्तुत कर भारतवासियों को विश्व-परिवार में उनके वास्तविक स्थान से परिचित कराया। अंगरेज साम्राज्यवादियों ने अंगरेजी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा का प्रसार अपना साम्राज्य सुदृढ़ करने निश्चित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर भारत में किया था, किंतु उसके विपरीत इस शिक्षा का परिणाम अंगरेजों के विपरीत भारतीयों के हित में गया। ठीक यही स्थिति समाचारपत्रों की हुई। इन पत्रों ने जहाँ अंगरेज साम्राज्यवादियों के हितों की रक्षा की और बढ़ावा दिया, वहीं भारतीयों में भी जागृति की भावना भरकर अपने अधिकारों के लिये लड़ना सिखाया। एक भारत और एक भारतीय जातीयता या राष्ट्रीयता को संगठित किया। अनेक सामाजिक बुराइयों को उद्घाटित कर जनता के सामने रखा और उन्हें दूर कर समाज को परिमार्जित करने का एक अभियान चलाया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद ने हिंदी साहित्य में, बंकिमचंद्र चटर्जी, शरतचंद्र, रवींद्रनाथ टैगोर, राखालदास् वंद्योपाध्याय ने बंगला में, सुब्रह्मण्य भारती ने तमिल में, बालगंगाधर तिलक ने मराठी में, रमणलाल वसंतलाल देसाई और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने गुजराती साहित्य में जन जागृति और समाज सुधार का अभियान चलाया। मैथिलीशरण गुप्त ने भी हिंदी साहित्य में इन्हीं महत् कार्यों का संपादन किया। टैगोर की गीतांजलि पर प्राप्त नोबेल पुरस्कार ने भारतीय राष्ट्र की सोई हुई मनीषा को झकझोर दिया। अपनी विस्मृत सांस्कृतिक श्रेष्ठता की निधि को लोगों ने खोजना शुरू कर दिया। रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानंद के दिग्विजय के यश के समकक्ष शिकागो भाषण की कीर्ति और एक झुंड विदेशियों द्वारा उनके शिष्यत्व की स्वीकृति ने पूरे भारतीय जनमानस को एक बार पुनः गौरवान्वित अनुभव करने का अवसर प्रदान किया। यह सांस्कृतिक पुनरुत्थान का दौर था, जिसने गुप्त जी को आगे की रचनाएँ प्रस्तुत करने की दृष्टि दी, किंतु हमारी सामाजिक संरचना ज्यों की त्यों सड़ी गली, स्थिति में सदियों से चली आ रही थी, जिसके अनेक विकृत रूप से हमारे राष्ट्र निर्माता खिन्न और भग्नहृदय हो उठे थे।

१८८७ ई० में न्यायमूर्ति महादेवी गोविंद रानडे द्वारा स्थापित भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक संमेलन (इंटरनेशनल सोशल कांफ्रेंस) एक दूसरे न्यायमूर्ति सर नारायण चंदावरकर के नेतृत्व में देश के बुद्धिजीवियों में तर्क पर आधारित

समान सुधार का प्रचार कर रहा था, भले ही ऐसे सुधार शास्त्रों के विरुद्ध क्यों न हों। डा० ऐनी बेसेंट ने इन्हीं दिनों हिंदू समाज सुधार के लिये मद्रास में हिंदू एसोसिएशन की स्थापना की। इन संस्थाओं का उद्देश्य था महिला और दलित जातियों या वर्गों का उत्थान, नशाबंदी, शिक्षाप्रसार, विवाह संबंधी अनेक दोषों का सुधार करना। ये दोष संरचनागत कम, परिस्थितियाँ परिवेशजन्य अधिक थे। सामाजिक संरचना के दोष कहीं जटिल थे, जिनका सामना राजनीतिक नेताओं के साथ साथ साहित्यकर्मियों को भी करना पड़ा।

जातिप्रथा—यहाँ जाति प्रथा के विकास, उसकी बनावट और उसके गुणदोष की सम्यक् समीक्षा की अपेक्षा नहीं है। इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यूरप, अफ्रीका, अमेरिका या मुसलिम देशों की दासता केवल व्यक्तिगत होती थी अर्थात् दास की संतान मुक्त या समान नागरिकता प्राप्त कर सकती थी। अमेरिकी नीग्रो दास मुक्त होकर अपनी श्वेत स्वामिनी से विवाह कर सामाजिक समानता और कानूनी समानता का संमानित जीवन व्यतीत कर सकता था। उसके साथ वंश या जाति या धर्म संबंधी कोई बंधन पीढ़ी दर पीढ़ी बाँधने के लिये नहीं रहता था। भारत में सस्ते और निश्चित श्रम की प्राप्ति के लिये दासता को पक्की करने के उद्देश्य से पहले उसे सामूहिक बनाया गया, फिर उसे वंश परंपरा से जोड़ा गया और अंत में धर्म के विधि विधान का ठप्पा लगाकर पीढ़ी दर पीढ़ी के लिये स्वामियों और दासों की उच्च और निम्न जातियाँ बना दी गईं, जो भारत के बार बार पतन और पराजय का ही कारण नहीं बनीं, वरन् स्वामियों और दासों की उच्च जातियों दोनों की दासता का भी कारण बनीं। अस्तु लगभग ८०० वर्षों तक सभी हिंदू (स्वामी और दास) विदेशी शासकों की दासता की पीड़ा झेलते रहे। इस जातिप्रथा के कारण देश की कौन सी दुर्गति नहीं हुई।

उन्नीसवीं शती के आरंभ में राजाराम मोहन राय एवं शती के अंत में दयानंद सरस्वती ने जातिप्रथा को तोड़ने का सशक्त आंदोलन ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के माध्यम से चलाया और यह दर्शन प्रस्तुत किया कि १५०० जातियों में टूटे फूटे हिंदू समाज को, भारत में रहनेवाली अधिसंख्य जनता को, सुसंगठित किया जा सकता है। दयानंद ने तो 'शुद्धिकरण' के माध्यम से हिंदुओं के अतिरिक्त मुसलमानों को भी आर्य समाज में उच्च स्थान देने का विकल्प प्रस्तुत किया। यह मानस के बंद महाद्वार को खोलने जैसा कार्य था। शिक्षाप्रसार एवं समाजसुधार में अग्रणी बड़ौदानरेश गायकवाड़ ने रानडे द्वारा स्थापित इंडियन नेशनल सोशल कांफ्रेंस के १६०४ के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण करते हुए हिंदू जातिप्रथा की कटु आलोचना की किंतु समाधान की दृष्टि से केवल उपजातियों का उन्मूलनकर उन्होंने

चार वर्णों को स्वीकार किया। यह आर्यसमाज के प्रस्तावित सुधार से बहुत कम था। हिंदू समाजसुधार संघ (हिंदू सोशल रिफार्म एसोसिएशन) के अध्यक्ष सी० शंकरन नायर ने यह मत व्यक्त किया कि हिंदू समाज से उपजातियों का उन्मूलन भी कोई सरल कार्य नहीं है। १६२८ में इस संघ ने एतदर्थ तीन सूत्री कार्यक्रमों का सुझाव हिंदू समाज के संमुख प्रस्तुत किया, यथा (१) परस्पर भोजन को बढ़ावा देना, (२) अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा देना एवं (३) छुआछूत का उन्मूलन करना, किंतु जातीय रंग मंच पर महात्मा गांधी के पदार्पण एवं उनकी इस घोषणा से कि वे वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे और अन्तजातीय विवाह तथा परस्पर भोजन के विरुद्ध थे, इस समाजसुधार आंदोलन को बड़ा धक्का लगा।[1] छुआछूत उन्मूलन का कार्यक्रम चलाने के बाद भी गांधी जी ने सहभोज को स्वीकार नहीं किया। इससे साथ में भोजन करने और उच्च तथा निम्न जातियों के अगल बगल में बैठने की पनप रही भावना को गहरा आघात लगा। फलस्वरूप कट्टर कांग्रेस नेताओं ने भी तरह तरह के बहाने बनाकर संमिलित होने से इनकार किया। जिन लोगों ने उत्साह में आकर पहले शूद्रों के साथ भोजन कर लिया था, अब शास्त्रानुमोदित प्रायश्चित कर अपनी उच्च जाति में लौट गए। तब भी समाज का एक प्रबुद्ध वर्ग जाति व्यवस्था की निंदा कर उसे राष्ट्रीय उत्थान के लिये घातक बताता रहा। इनकी निष्ठा और सद्भावना के होते हुए भी यह व्यवस्था ज्यों की त्यों चलती रही।

परिणाम में देखा गया कि सुधार आंदोलन, अंगरेजी शिक्षा, राष्ट्रीय जागृति, साहित्यकारों के योगदान, रेलयात्रा के फलस्वरूप साथ साथ भोजन करने की प्रथा चल पड़ी, किंतु यह सार्वजनिक या सामूहिक जीवन स्थिति में ही संभव हुआ, पारिवारिक या व्यक्ति स्तर पर नहीं। गाँवों में तो आज भी सहभोज के बारे में सोचा नहीं जा सकता। आर्थिक, राजनीतिक संघर्षों एवं आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था, उद्योग धंधों का विकास, नगरों का विस्तार, शिक्षा का प्रसार तथा राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में विस्तार के कारण समाज में धर्म या जातियुक्त नए नए वर्ग बन गए और विकसित हो गए। शिक्षित माध्यम वर्ग, जमींदार, धनाढ्य कृषक, सरकारी अधिकारी, सरकारी एवं व्यापारिक कर्मचारी, व्यापारी एवं उद्योगपति, औद्योगिक श्रमिक, वकील एवं अन्य न्यायिक कर्मचारी आदि। इन सभी वर्गों में सामूहिक जीवन या सामाजिक रहन सहन की स्थिति में जाति

---

१. स्ट्रगल फार फ्रीडम, पृ० ६६६, खंड ११, सं० आर० सी० मजूमदार, भारतीय विद्याभवन, बंबई।

बंधन ढीला पड़ गया, पर व्यक्तिगत खान पान एवं पारिवारिक स्तर पर जाति व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रही। देश में पूंजीवाद के व्यापक प्रहार और उसके शोषण की गहरी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप देश में दो परस्पर विरुद्ध शोषक एवं शोषित वर्गों का निर्माण हुआ, लेकिन जातिव्यवथा की दृढ़ता के कारण इनमें जातिमुक्त एकता स्थापित न हो सकी। आर्थिक जीवन में सभी शोषकों की भाँति शोषित वर्ग के श्रमिक या किसान एक होकर हित रक्षा की लड़ाई लड़ते रहे, किंतु अपने अपने घरों में जाकर सभी पुनः अपनी परंपरागत जाति का जीवन व्यतीत करने लगे। आर्य-समाज आंदोलन के पश्चात् देशों में व्यापक रूप से चलने वाले समाजवादी और साम्यवादी आंदोलनों का भी जाति व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भारत के लोग ज्यों के त्यों हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई ही नहीं हैं, उनमें जाति दर जाति का जीवन जी रहे हैं। सभी संप्रदायों में सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्व संपन्न हुए बँटवारे ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। आज के राज-नीतिक जीवन में वे अधिक उपयोगी हो गए हैं।

अस्पृश्यता : हिंदू वर्णाश्रम धर्म के अनुसार चतुर्थ वर्ण अर्थात् शूद्र वर्ण जाति की दृष्टि से समाज का निम्न वर्ग निर्धारित किया गया। समाजके अधिकांश श्रमजीवियों की संख्या इसमें डाल दी गई। देश की हिंदू जनसंख्या में ६५ प्रतिशत आबादी शूद्र वर्ण की है। इस शूद्र वर्ण में भी दो प्रकार की छोटी जातियाँ संमिलित हैं—एक स्पृश्य, दूसरा अस्पृश्य। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के लोग स्पृश्य शूद्रों के हाथ से दिया गया पानी पी सकते हैं, पर अस्पृश्यों के हाथ से दिया गया पानी नहीं पी सकते। अहीर, गूजर, पटेल, कुर्मी, कुम्मा, यादव, नाई, घोष, राव, रेड्डी, नायर आदि स्पृश्य शूद्र हैं इन्हें अब पिछड़ी जाति कहा जाता है। आर्थिक संपन्नता के कारण समृद्धि के आधार पर से उच्च श्रेणी में मान लिए जाते हैं, पर उच्च जातियाँ इन्हें अपने समकक्ष नहीं मानतीं। शिवाजी की माता लखूजी यादव की पुत्री थीं और पिता शाह जी मराठा कुर्मी। जब समर्थ गुरु रामदास ने उनका यज्ञोपवीत संस्कार कर उन्हें क्षत्रिय घोषित किया और क्षत्रिय के रूप में राज्याभिषेक किया, तब काशी और महाराष्ट्र के ब्राह्मणों ने विरोध किया क्योंकि शिवाजी को शूद्र (स्पृश्य) से उन्नतकर द्वितीय वर्ण का क्षत्रिय मानने के लिये वे तैयार नहीं थे। औरंगजेब की गुलामी उन्हें मंजूर थी, पर जातिबंधन में सुधार या परिवर्तन नहीं। यह मानसिकता गुप्त जी के युग तक बनी हुई थी। वह तो आज भी बनी हुई है। अस्पृश्य जातियों में हरिजनों के सभी भेद उपभेद संमिलित हैं, जिन्हें संविधान के अनुसार अनुसूचित जाति कहा जाता है। हिंदू जनसंख्या में ये २० प्रतिशत हैं। इस प्रकार कुल हिंदू जनसंख्या में पिछड़ी जाति के लोग ४५ प्रतिशत और हरिजन जाति के लोग २० प्रतिशत हैं। उच्च जाति के कट्टर पंथी और उदार दोनों प्रकार के लोग इतनी बड़ी जनसंख्या को ज्यों का त्यों रखकर

देश को आगे ले जाने की बातें कहते आए हैं। कवियों और अन्य रचनाकारों ने इस समस्या को अपने ढंग से ग्रहण किया। इस समस्या का अध्ययन दो क्रम में किया जा सकता है—(१) पूर्वगांधी युग और (२) गांधी युग।

१. पूर्वगांधी युग–

ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज ने उत्तर भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी ने उत्तार और दक्षिण भारत में शूद्रों या दलितों को शिक्षित करने का कार्य किया और उनमें सामाजिक संमान का भाव भरा। १८९७ ई० में के० रंगराव ने मंगलोर (कर्णाटक) में दलित जाति के बच्चों के लिये निःशुल्क शिक्षा के विद्यालयों की स्थापना की। बंबई में कार्यरत प्रार्थनासमाज ने १८९८ में दलित वर्ग आश्रम की स्थापना की। १९०६ में वी० आर० शिंदे ने दलित वर्ग आश्रम समाज (डीप्रेस्ड क्लास मिशन सोसाइटी) की बंबई में स्थापना की। प्रार्थनासमाज के सहयोग से इस समाज ने भी शिक्षा का कार्य आगे बढ़ाया। बड़ौदा के गायकवाड़ ने भी दलितों की शिक्षा के लिये स्कूल खोले और छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की। १९०९ ई० में मद्रास में भी डीप्रेस्ड क्लास मिशन सोसाइटी की स्थापना की गई।

इतिहास ने दूसरी एक बड़े संकट की घड़ी उपस्थित कर दी। मुसलिम लीग ने सांप्रदायिक निर्वाचन कानून को ध्यान में रखकर यह प्रस्ताव रख दिया कि शूद्र या दलित वर्ग के लोग हिंदू नहीं है, अतः इनकी गणना हिंदू सीट निर्धारण में नहीं की जानी चाहिए। इसी समय जनगणनाधिकारी आयुक्त एडवर्ड गेट ने भी अवसर देखकर प्रहार किया और दलितों को हिंदुओं से पृथक् करना चाहा। इन दोनों घटनाओं ने उच्च जातियों के हिंदुओं को सुधार आंदोलन तेज करने के लिये बाध्य किया, ताकि सभी हिंदुओं को एक संप्रदाय के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। दलितों के नेताओं ने भी परिस्थिति का अध्ययन किया और अपने अधिकार को आगे बढ़ाया। अब तक उनके दो संगठन बन चुके थे–(१) आल इंडिया डीप्रेस्ड क्लासेज एसोसिएशन एवं (२) आल इंडिया डीप्रेस्ड क्लासेज फेडरेशन। १९१० में बंबई प्रेसीडेंसी सोशल रिफार्म एसोसिएशन के तत्वावधान में इन दोनों संगठनों की एक बैठक समाधान निकालने के लिये की गई। कोई समाधान नहीं निकला।

१९१७ में बंबई से डीप्रेस्ड क्लासेज मिशन सोसाइटी ने कांग्रेस, लीग एवं ब्रिटिश सरकार की नीतियों के आलोक में कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए, जिन्होंने लंदन में आयोजित १९३१ के गोलमेज परिषद् के संमेलनों को भी प्रभावित किया और जिनके चलते गांधी जी को पूनामें २१ दिसीय अनशन

करना पड़ा, जिसके पश्चात् डा० भीमराव अंबेडकर से उनका समझौता हुआ। प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं ?

१. जब तक देश के सभी वर्ग, मुख्य रूप से दलित वर्ग, प्रशासन में प्रभावकारी ढंग से भागीदारी करने की स्थिति में नहीं आ जाते तब तक का प्रशासन ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में रहना चाहिए।

२. यदि ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता को राजनीतिक अधिकार देने का निर्णय कर लिया है, तब यह बैठक माँग करती है कि दलितों के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये सरकार देश की विधान सभाओं में दलितों के प्रतिनिधित्व को स्वीकृत करे।

तब १९१७ के बाद कांग्रेस ने भी द्रुतगति से दलितों के पक्ष में प्रस्ताव पारित करना आरंभ कर दिया एवं दलित वर्ग के उदारमना नेताओं को मिलाना आरंभ कर दिया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कांग्रेस ने इस संबंध में समय समय पर जितने प्रस्ताव पारित किए वे सभी समाजसुधार या दलितों को अधिक अधिकार देने की भावना से नहीं, वरन् अंगरेजों से मुफ्त में प्राप्त होने वाली राजनीतिक सत्ता पर अधिकार पाने की लालसा से पारित किए गए थे।

१९१९ में बंबई में प्रथम आल इंडिया डीप्रेस्ड क्लासेज कान्फ्रेंस का आयोजन किया गया। सर्वजन में अखिल भारतीय अस्पृश्यता विरोधी घोषणापत्र स्वीकृत कर प्रसारित किया गया कि दैनिक जीवन में छुआछूत को मान्यता नहीं दी जाएगी। तिलक ने भी छुआछूत की कटु निंदा की और उसे दूर करने की घोषणा की, किंतु पारित घोषणापत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया क्योंकि उनका व्यावहारिक ब्राह्मणवाद उनके मन में बना हुआ था। महात्मा गांधी ने भी १९२० में घोषित किया कि वे भी इसे स्वराज्य का एक कार्यक्रम मानते हैं। स्वराज्य दृष्टि से छुआछूत उन्मूलन का कार्यक्रम आवश्यक था। इसलिये गांधी जी ने इसे अपनाया।

'ए सेंचुरी आफ सोशल रिफार्म इन इंडिया' नामक अपनी पुस्तक (१९५४) में एस० नटराजन ने लिखा है कि १९१५ ई० में ही सर नारायण चंदावरकर ने यह स्पष्ट कर दिया था कि विद्यालयों में प्रवेश, सार्वजनिक सड़कों का उपयोग, एवं कुओं से जल लेना नागरिक अधिकार हैं, जिनसे दलित वर्ग को वंचित नहीं किया जा सकता। मलाबार (केरल) में इस प्रकार के प्रतिबंध अत्यंत कठोर और अमानवीय थे। १९२० में वहाँ आयोजित डीप्रेस्ड कान्फ्रेंस के बाद कोचीन फोर्ट (दुर्ग) के प्रतिबंधित राजमार्ग पर उन्होंने ५००० दलितों के जुलूस का नेतृत्व

किया और तब सड़क दलितों के लिये खुली। उनके प्रभाव से बंबई सरकार ने भी दलितों के लिये शिक्षा की समान सुविधा का आदेश पारित किया। कोचीन के १९२० के अपने भाषण में ही श्री चंदावरकर ने दलितों के मंदिर प्रवेश की माँग बुलंद की थी।

२. गांधी युग—

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बारे में यह एक बड़ा ऐतिहासिक भ्रम व्याप्त हो गया है कि उन्होंने हरिजन या दलित उद्धार के लिये बहुत कुछ किया है। वास्तव में ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज एवं थियोसोफिकल सोसाइटी द्वारा बनाए गए अस्पृश्यता उन्मूलन के कार्यक्रम को गांधी जी ने वर्णाश्रम धर्म का समर्थनकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से ध्वस्त किया। वर्णाश्रम समर्थकों को गांधी जी से बहुत बल मिला। वास्तव में गांधी जी दलितों का उत्थान और विकास चाहते थे, किंतु दूसरे गुजराती भाषी संत दयानंद सरस्वती की भाँति वर्णाश्रम व्यवस्था को समाप्त कर एक आर्य जाति का संगठन करना नहीं चाहते थे। गांधी जी व्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था के पक्षपाती नहीं थे। इतिहासविद् आर० सी० मजूमदार ने अस्पृश्यता निवारण के विषय पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'यद्यपि अस्पृश्यता निवारण संबंधी बड़े सुधार आंदोलन को गांधी जी ने बड़ी शक्ति प्रदान की तथापि उनके संबंध में अन्य अनेक अतिरंजित धारणाओं की भाँति यह भी एक अतिरंजित कथन ही है (हाइली एक्जेगरेटेड स्टेटमेंट ट)।'[1] गांधी जी के प्रभाव में आई हुई कांग्रेस ने समय समय पर गोखले कांग्रेस की भाँति दलित दशा तथा अस्पृश्यता सुधार के लिये बराबर प्रस्ताव पास किया। ये प्रस्ताव वैसे ही थे, जैसे गोखले कभी देश की दशा सुधारने के लिये प्रस्ताव पारित करते रहते थे अर्थात् शुभकामना मात्र।

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के प्रभाव से १९२३ ई० में हिंदू महासभा के सामने दलित उत्थान और अस्पृश्यता निवारण संबंधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। मालवीय जी ने अस्पृश्यता निवारण का जोरदार समर्थन किया, किंतु कट्टरपंथी वर्णाश्रम समर्थकों के विरोध के कारण प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया।

डा० अंबेडकर दलितों और अस्पृश्यता संबंधी गांधी जी की नीतियों के सदा विरोधी रहे। उनके अनुसार गांधी जी ने यह भी कहा कि अंत्यजों के लिये वर्तमान मंदिरों में प्रवेश करना कैसे संभव है? जब तक आश्रम और जाति के

---

१. भारतीय विद्याभवन, बंबई। स्ट्रगल फार फ्रीडम, पृ० १००४, खंड ११, सं० आर० सी० मजूमदार।

नियमों से हिंदू समाज परिचालित है, तब तक अंत्यजमंदिर प्रवेश संभव नहीं है। यही कारण है कि लंदन के गोलमेज संमेलन में डा० अंबेडकर पृथक् दलित निर्वाचन क्षेत्र पर अड़ गए और सवर्ण हिंदू समाज से समझौता करने का विरोध करने लगे। २४ सितंबर १९३२ को पूनाएक्ट के नाम से संपन्न हुए समझौते के समय बंबई में एकत्र हुए हिंदू समाज के बड़े नेताओं ने यह लिखित घोषणापत्र जारी किया कि :—

'यह संमेलन घोषित करता है कि भविष्य में कोई व्यक्ति जन्म के कारण हिंदू समाज में अस्पृश्य नहीं माना जाएगा और जो लोग अभी तक ऐसा समझे जाते रहे हैं, वे सार्वजनिक कुआँ, विद्यालय, सड़क और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग के लिये अन्य हिंदुओं के समान अधिकारी हों। यह अधिकार सांविधिक अधिकार होगा और यदि इस अधिकार को अभी कानून नहीं बना दिया जाता तो भारत की स्वतंत्र संसद् का यह पहला कानून होगा।'

इस घोषणा में मंदिरप्रवेश के लिये भी समझौता किया गया था। तत्पश्चात् देश में सैकड़ों हजारों मंदिर हरिजनो के लिये खोल दिए गए। महात्मा गांधी ने अपने हरिजन समाजपत्र में बराबर इनकी सूची प्रकाशित की। मंदिर प्रवेश से दलितों को वास्तव में कोई लाभ नहीं हुआ। उनका लाभ तो उच्च शिक्षा, श्रेष्ठ आवास तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता या आर्थिक समानता से ही होने वाला था। दुर्भाग्य से हमारे राष्ट्रनेताओं के पास ऐसा कार्यक्रम उस समय नहीं था और बाद में भी ऐसा कार्यक्रम उनके सामने नहीं आया। वास्तव में वे बहानेबाजी के अतिरिक्त कोई कार्यक्रम चाहते भी नहीं।

डा० अंबेडकर ने इन समस्याओं पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखा है— 'बहुत पहले की बात नहीं है, जब यूरपनिवासियों द्वारा चलाए जाने वाले क्लबों या अन्य सामाजिक संस्थाओं के दरवाजों पर एक पट्ट इस लिखावट के साथ लगा रहता था—'कुत्ता और भारतीय का प्रवेश निषिद्ध'। हिंदू मंदिरों में भी ऐसा ही होता है। अंतर लिखावट का है। मंदिरों पर लिखावट है—'सभी हिंदू एवं कुत्ता सहित सभी जानवर प्रवेश पा सकते हैं, अंत्यज प्रवेश निषिद्ध'। यूरपवासियों ने अपने अहंकारवश जहाँ निषेधकर रखा था, हिंदुओं ने कभी प्रवेश की माँग नहीं की। अस्तु अंत्यजों को उन स्थानों पर प्रवेश के लिये क्यों आग्रह करना चाहिए, जहाँ से हिंदुओं ने अपने अहंकारवश उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया है।'

'हिंदू समाज के भीतर अंत्यजों या दलितों का मंदिरप्रवेश क्या उत्थान का अंतिम लक्ष्य है? या यह प्रथम अभियान है, और यदि यह ऐसा है तो अंतिम लक्ष्य क्या है?

'आवश्यकता इस बात की है कि चतुर्वर्ण के सिद्धांत को समाप्त किया जाए, जो जातिप्रथा और अस्पृश्यता का जनक है।

'तथ्य यह है कि 'हरिजन' में मंदिरप्रवेश की प्रकाशित साप्ताहिक सूचना फर्जी थी और विश्व को धोखा देने के लिये कांग्रेसजनों द्वारा प्रचारित की जाती थी कि छुआछूत को समाप्त करने के लिये हिंदू समाज दृढ़ प्रतिज्ञ है।'

मलाबार में पोन्नानी स्थित गुरुवय्यूर के कृष्णमंदिर में दलित प्रवेश की समस्या लेकर अनशनरत केलप्पन के साथ गांधी जी ने १९३२ में आश्वासन दिया, किंतु अनशन नहीं किया, तब डा० अंबेडकर ने गांधी जी की कटु आलोचना की। मंदिरप्रवेश के लिये विधि निर्माण के उद्देश्य से चार विधेयक प्रांतीय एवं एक विधेयक केंद्रीय असंबली (धारा सभा) में प्रस्तुत किए गए, पर सभी विरोध के कारण छोड़ दिए गए। अंततः १९३५ के संविधान के अनुसार १९३७ में देश में निर्वाचन की घोषणा कर दी गई। स्थिति यहाँ तक गिरी कि कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणापत्र से भयभीत होकर मंदिरप्रवेश के विषय को ही छलपूर्वक छोड़ दिया। अब गांधी जी पूर्णतः असत्य और डा० अंबेडकर पूर्णतः सत्य सिद्ध हुए। कट्टरपंथी हिंदुओं का मनोबल और कांग्रेस के ऊपर उनका वर्चस्व बढ़ गया। इन परिस्थितियों में अत्यंत खिन्न होकर डा० अंबेडकर ने १९४५ में अपनी पुस्तक लिखी—'ह्वाट कांग्रेस ऐंड गांधी हैव डन टु दि अनटचेबुल्स'।[1] स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी जब दलितों की स्थिति, हिंदू समाज में परिवर्तित नहीं हुई, तब डा० अंबेडकर को निराश होकर बौद्ध धर्म में धर्मांतरण की घोषणा करनी पड़ी।

१९३७ के बाद बनी कांग्रेस सरकारों ने दलितों के लिये निःशुल्क शिक्षा और छात्रवृत्ति के कई कानून बनाए, जो आज तक ठीक ढंग से लागू नहीं हो सके। आरक्षण के कानून को तो कई ब्राह्मण, क्षत्रिय, जाट, यादव, जैसे सवर्णों तक ने भुनाया। १९३२ में गांधी जी ने अनशन के समय बंबई में गठित 'आल इंडिया ऍंटी अनटचेबिलिटी लीग' का नाम बदलकर स्वयं उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' कर दिया। इस संघ ने दलितों को सुविधा प्रदान करने के लिये अनेक कार्य किए। इस संघ की प्रबंध समिति पर हरिजनों के अधिकार की माँग को गांधी जी ने अस्वीकार कर दिया और कहा कि यह कोई हरिजन संगठन नहीं है।

स्वतंत्रता के ४१ वर्षों बाद हरिजनों के प्रति वास्तविक मनोभाव और व्यवहार में वास्तविक परिवर्तन नहीं आया है। राजनीतिक दृष्टि से या चुनावों में लाभ उठाने के लिये अनेक लोगों ने उन्हें महत्व देना आरंभ कर दिया है, पर यह सब पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन की सीमा के बाहर का विषय है। यह भोजन के बाद पान पत्ते की तरह है। बिलकुल दिखावटी। जो परिवर्तन दिखाई पड़ता है,

---

१. कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया।

उससे न तो व्यवस्था पर कोई प्रभाव पड़ा है, न संस्कृति पर। हम गांधी जी का नाम लेकर ज्यों का त्यों ३०० वर्षों से बनाए गए जातिवाद के राजमार्ग पर सुविधा पूर्वक चलते जा रहे हैं। सरकारी नौकरियों में आरक्षण के कारण कुछ हरिजन वहाँ अवश्य पहुँच गए हैं। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, जाटों, यादवों पटेलों, नायरों आदि के घरों में डा० अंबेडकर का चित्र दिखाई नहीं पड़ता। हरिजनसमाज द्वारा प्रकाशित कोई पत्रिका या पुस्तक उच्च जातियों के घरों में दिखाई नहीं पड़ती। उच्च जातियों के छात्र हरिजन सहपाठियों को अपने घरों में नहीं बुलाते। न ही विवाह शादी में उन्हें निमंत्रण देते हैं। अनेक गाँवों में आतंक के कारण हरिजनों ने सन् १९५२ से अब तक ४१ वर्षों में एक बार भी मतदान नहीं किया। उनकी बुढ़ौती आ गई। दूरदर्शन पर हरिजन उत्थान के प्रदर्शित दृश्य नाटक मात्र हैं। और अखबारों में प्रसारित सूचनाएँ केवल विज्ञापन। जिस स्थिति को २० वीं शती ने आरंभ में देखा था, वही स्थिति इस शती के अंत में भी बनी हुई है।

मुसलिम समाज में जाति प्रथा नहीं होती। शीया सुन्नी के भेद सिद्धांतगत हैं। उनसे संरचना अथवा स्तरीकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। समाज में शीया सुन्नी हर तरह से बराबर होते हैं, किंतु धर्मांतरित मुसलमानों में हिंदू समाज की जातिप्रथा का प्रभाव उनके साथ साथ लगा रहा। कहा जाता है कि अनधिकृत रूप से भारत के मुसलमानों में कुल ७२ जातियाँ पाई जाती हैं। एक दूसरे के यहाँ अब खानपान और शादी विवाह के रिश्ते कायम नहीं किए जाते। परस्पर उपेक्षा का भाव रहता है। कुछ अपने को शेख और कुरेशी कहते हैं। शेख का स्थान मुसलिम समाज में ब्राह्मणों जैसा ऊँचा माना जाने लगा है। कुरेशी लोग सीधें इस्लाम प्रवर्तक मुहम्मद साहब के परिवार के ही माने जाते हैं और अत्यधिक पवित्र होने का भाव दर्शाते हैं। पठान अपने को क्षत्रिय की श्रेणी में रखते हैं। अन्सारी लोगों को छोटा या निम्न माना जाता है। इस जाति के लोग पिछड़ा वर्ग का प्रमाणपत्र भी शिक्षा संस्थाओं और सरकारी कार्यालयों में प्रस्तुत करते हैं। पेशे की दृष्टि से जुलाहा, धुनिया, कुंजड़ा, कसाई जैसे मुसलमानों के यहां शेख और कुरेशी केवल व्यापारिक संबंध रखते हैं, पारिवारिक या सामाजिक नहीं। सहभोज और अंतर्जातीय विवाह की संभावना नहीं रहती। एक महल्ले या गाँव में रहने वाले कभी कभी उसी तरह मारपीट या दुश्मनी करते हैं, जैसे लखनऊ या अन्य स्थानों पर शीया सुन्नी अथवा बिहार अथवा तमिलनाडु में ब्राह्मण अब्राह्मण।

अनेक स्थानों पर मुसलिम समाज में सदियों पुरानी हिंदू परंपराएँ कायम हैं, यथा क्षत्रियों की भाँति विवाह से पूर्व तलवार की पूजा। इस तलवार पूजा से इस्लाम का कोई लेना नहीं होता। कब्र की पूजा तो जोर शोर से शुरू हो गई है, ठीक वैसे ही जैसे मूर्तिपूजा। गाना, बजाना, चढ़ावा, प्रसाद, आएर मिन्नत वैसे हीं। मक्का के बाद भारत में दूसरे स्थान पर माने जाने वाले तीर्थ अजमेर शरीफ

(ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती की दरगाह) में आरती के बाद हिंदू पद्धति से प्रसाद वितरण भी होता है। वहाँ की उपासनापद्धति पूर्णतः हिंदू पद्धति है। इसी तरह उत्तर भारत में हिंदू महिलाओं की भाँति मुसलिम महिलाएँ भी शहरों और गाँवों में विवाह के बाद सिंदूर लगाती हैं। तरह तरह से ताजिया की पूजा की बात अलग है।

पाकिस्तान और बंगला देश के मुसलमानों में केवल जातिप्रथा ही कायम नहीं है, परस्पर युद्ध भी हिंदू जातियों की तरह ही होते हैं।

नशाबंदी—मादक द्रव्यों का सेवन भारत के लिये नई बात नहीं है। तब भी बुद्ध एवं महावीर और शंकराचार्य के प्रभाव से आचरण की पवित्रता पर अधिक बल दिया जाता रहा है। जीवन और आचरण को पवित्र रखना अच्छा माना जाता था, किंतु मध्यकाल में राजाओं और शासकों के पतन से सुरा, सुंदरी, संगीत का प्रभाव बढ़ गया। मुगल शासकों की चरित्रहीनता और हिंदू सामंतों द्वारा उनके अनुभव से स्थिति और बिगड़ी। अंगरेजी शिक्षा ने इसे सामाजिक सभ्यता और आधुनिकता का प्रतीक बना डाला। गांधी जी ने इस पर रोकथाम लगाने का आंदोलन चलाया, किंतु उनके नाम पर शासन करनेवालों ने ४१ वर्षों में शराबखोरी का इतना व्यापक व्यापार चलाया है कि लाखों करोड़ों घर बरबाद हो गए। शराब की बिक्री इतनी बढ़ गई है मानों लुप्त सरस्वती प्रकट होकर देश में बहने लगी है। पंजाब और हरियाणा में मदिरा की खपत देखकर लोगों ने इसका नाम छठीं नदी कर दिया है।

१९२४ में स्थापित राष्ट्रीय नशाबंदी संघ अब वैसे ही बेकार हो गया है, जैसे हरिजन सेवक संघ। राजगोपालचारी द्वारा तमिलनाडु में मादकद्रव्य प्रतिबंध का कानून अब वापस ले लिया गया है। शहरों के अतिरिक्त अब देहातों में भी सरकारी दूकानें धड़ल्ले से खुलने लगी हैं। गोखले, गांधी, राजा जी के मद्यनिषेध संबंधी सारे प्रयत्नों पर बोतल का पानी फिर गया है। अब तो नई सरकार ने इसे उद्योग और आय और सभ्यता का साधन बना लिया है। हाँ, यहाँ वहाँ लिखा रहता है—'शराब विष से भी भयंकर है।' शराब के कारखाने नागरिकों को प्रत्यक्ष रूप से नष्ट ही नहीं कर कहे हैं, वरन् देश में समानांतर अर्थव्यवस्था के प्रमुख स्रोत हैं। पुलिस विभाग, आबकारी विभाग एवं उच्च प्रशासन तंत्र के महाप्रभुओं के लिये शराब के उत्पादन कर्त्ता, व्यापारी, ठेकेदार, दूकानदार आमदनी के मुख्य और निश्चित साधन हैं। हमारे कवियों एवं साहित्यकारों को इस स्थिति में देश और समाज का निर्माण करना है। गुप्त जी ने भी इस स्थिति को झेला है।

महिला समस्या--राजा राममोहन राय से पहले 'महिला समस्या' नाम की कोई समस्या नहीं थी। जौहर और सती प्रथा में जलने वाली महिलाओं का

गुणगान किया जाता था और महिला मंडित करने के पश्चात् जलाया जाता था। मंदिरों में देवदासियों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। मुसलिम शासकों की ऐय्याशी और अंधेरगर्दी ने बाजारों में वेश्याओं की भीड़ लगा दी। विधवा स्त्रियाँ अपने आप इस संख्या को बढ़ाती रहतीं। मुसलिम शासकों, तालुकेदारों, जमीदारों और उनके गुंडों द्वारा अनवरत अपहरण के कुकृत्य से बचने के लिये और पर्दाप्रथा का प्रचलन हो गया, जिसका असर विवाह पद्धति पर पड़ा। उसमें अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गईं। राजा राममोहन राय ने विलियन बेंटिंग की सहायता से सती-प्रथा रोकने में सफलता प्राप्त की। यहाँ से अगरेज़ शासकों और भारतीय नव-शिक्षित वर्ग का ध्यान महिलाओं की दुर्दशा की ओर आकर्षित हुआ। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' सूत्र के अर्थहीन शब्दों के तोतारटंत से अलग हटकर लोगों ने समस्या और समाधान का अध्ययन करना आरंभ किया। नए अर्थ की खोज की जाने लगी।

ब्रह्मसमाज में लड़कियों को शिक्षित करने पर बल दिया गया। आर्य समाज में साधु दयानंद ने भी वैदिक संस्कृति और धर्म के आलोक में लड़कियों को शिक्षित करने का जोरदार कार्यक्रम चलाया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लड़कियों की शिक्षा के लिये बनारस में एक स्कूल स्थापित किया और उनकी सामाजिक शिक्षा के लिये 'बालाबोधिनी' पत्रिका प्रकाशित की। अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से भी उन्होंने नारी समाज को महिमामंडित किया। बंकिमचंद चटर्जी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, गोपालकृष्ण गोखले ने हिंदू समाज में महिलाओं की स्थिति को सुधारने पर अधिक ध्यान दिया। ईसाई मिशनरियों की आधुनिक समान शिक्षा का भी परिवेश पर प्रभाव पड़ा। २० वीं शती में महिला सुधार कार्यक्रम ने अधिक व्यवस्थित रूप लिया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की कविता यहाँ उल्लेखनीय है :—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

बीसवीं सदी में नारीजीवन के यथार्थ और आदर्श पर हर भाषा में लिखी जाने वाली रचनाओं की बाढ़ आ गई। फलस्वरूप अखिल भारतीय स्तर पर महिला उत्थान और अधिकार के अनेक कार्यक्रम अनेक संस्थाओं और संगठनों ने आरंभ किए। १९०३ ई० में इंडियन नेशनल सोशल कान्फ्रेंस में एक महिला इकाई का गठन किया गया। इसके तत्वावधान में १९०९ में बंबई में एक महिला संमेलन आयोजित किया गया। १९१० के इलाहाबाद संमेलन में श्रीमती सरला देवी चौधुरानी को अखिल भारतीय सचिव चुना गया। अब तक डा० ऐनीबेसेंट ने थियोसोफिकल आंदोलन के माध्यम से भारतीय, विशेष

रूप से हिंदू महिला समाज को उत्प्रेरित करना आरंभ कर दिया था। उक्त सोशल कान्फ्रेंस ने १९०८ में विवाह की न्यूनतम आयु सीमा लड़कियों के लिये १२ एवं लड़कों के लिये १८ वर्ष निर्धारित की थी, पर अगले वर्ष ही इसे बढ़ाकर क्रमशः १६ और २५ वर्ष कर दिया गया। अखिल भारतीय जनमत के कारण १९२९ में हरविलास शारदा के प्रयास से केंद्रीय असेंबली ने बाल-विवाह निरोधक कानून को 'शारदाएक्ट' के नाम से जाना गया। इसके अनुसार न्यूनतम विवाह आयु १४ और १८ वर्ष निर्धारित की गई। इसका व्यापक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा, पर सरकार या पुलिस विभाग ने इसे कभी लागू करने का प्रयत्न नहीं किया। परस्पर विरोध के कारण कहीं सूचना मिली तो घूस लेकर उसे छोड़ दिया गया।

सिविल मैरेज कानन बनाकर महिलाओं के लिये व्यक्तिगत और अंतर्जातीय विवाह करने की छूट देने के प्रयास भी इस समय आरंभ हुए। उस सयय शिक्षा-मंडल; अस्पृश्यता उन्मूलन, सामाजिक सुधार, ग्रंथालय प्रसार जैसे कार्यों में अग्रणी बड़ौदानरेश ने १९०८ में सिविल मैरेज ला बनाकर इस दिशा में मार्ग निर्देशन किया। १९११ में भूपेन वसु ने स्पेशल मैरेज बिल केंद्रीय असेंबली में रखा। १९१८ में विट्ठल भाई पटेल ने अंतर्जातीय विवाह के संबंध में कानून बनाने के लिये विधेयक प्रस्तुत किया। इसी प्रकार कई अन्य विधेयक भी समय समय पर रखे गए। इनके पारित न होने की स्थिति में भी महिलासमाज की समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। बड़ौदा सरकार ने १९३१ में कानून बनाकर तलाक को वैध घोषित किया।

१९८५ में देवदासी प्रथा के उन्मूलन का कानून बनाया गया। मद्रास राज्य में उस समय ऐसी महिलाओं की संख्या २० लाख से भी अधिक थी।'[१] वास्तव में व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रथा धर्म के नाम पर चलाई जाने वाली वेश्यावृत्ति थी, जिसका केंद्र बड़े बड़े मंदिर हुआ करते थे। कर्नाटक राज्य में १९८३ ई० के बाद बनी जनता सरकार और आंध्र प्रदेश में तेलगुदेशम् सरकार ने देवदासी प्रथा को अंतिम रूप से प्रतिबंधित किया।

सतीप्रथा उन्मूलन के पश्चात् तत्काल ही विधवाओं की बड़ी संख्या की समस्या की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और उनकी व्यवस्था के लिये अनेक विधवाश्रम स्थापित किए गए, जहाँ पुनर्विवाह के अतिरिक्त आर्थिक आत्म निर्भरता के भी प्रयास किए जाते थे, पर अभी उच्च जातियों का समाज विधवाओं

---

१. स्ट्रगल फार फ्रीडम, पृ० ९९५, खंड ११, सं० आर० सी० मजूमदार, भारतीय विद्या भवन, बंबई।

को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। आर्यसमाज ने इस दिशा में बड़ा कार्य किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेद की व्याख्या प्रस्तुत कर विधवा-विवाह का समर्थन किया। फलस्वरूप धार्मिक अंधविश्वास को बड़ा धक्का लगा। देवसमाज, आर्यसमाज, दिगंबर जैनसमाज, कलकत्ता विधवाश्रम, पूना विधवा भवन, समाज सेवा भवन, बंबई सेवा सदन जैसी संस्थाओं ने विधवा समस्या के समाधान के लिये अनेक कार्य संपन्न किए।

ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज तथा थियोसोफिकल सोसाइटी ने शिक्षा के क्षेत्र में बालिकाओं के लिये जो मार्ग प्रशस्त किया धीरे धीरे अनेक संस्थाओं ने उसे और व्यापक बनाया। १९१६ में वीमेन्स यूनिवर्सिटी की स्थापना के साथ इस दिशा में एक बड़ी सफलता मिली। काशी हिंदू विश्वविद्यालय एवं अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय में हिंदू मुसलिम महिलाओं के लिये उच्चतम आधुनिक शिक्षा का महाद्वार खोल दिए जाने से सामाजिक प्रगति का रास्ता खुल गया।

मुसलिम आक्रमण एवं लंबे शासन के दौरान बड़े पैमाने पर हिंदू स्त्रियों की लूट, धर्मांतरण, अपहरण, बलात्कार की घटनाएँ होती रहीं। आत्मरक्षा का अन्य उपाय न देखकर हिंदू स्त्रियों ने पर्दाप्रथा स्वीकार कर लिया और समस्त उत्तर भारत में यह एक धर्म बन गया। अनेक संस्थाओं के योगदान, शिक्षाप्रसार, शिक्षा संस्थाओं में महिलाओं की नियुक्ति, हिंदू समाज में अनेक सुधार आंदोलन, इस दृष्टि से उच्च नीतियों की अपेक्षाकृत उदारता के कारण धीरे धीरे पर्दाप्रथा में बड़ा शैथिल्य उपस्थित हो गया और अब यह प्रायः मृतप्राय परंपरा रह गई है। हिंदुओं की देखा देखी मुसलिम महिला भी बहुत हद तक पर्दाप्रथा में शैथिल्य आया है, परंतु अरबी संस्कृति पर निगाह लगाए रखने वाले कट्टर मुसलिम समाज में पर्दाप्रथा का अनुपालन कड़ाई से होता है, जिसका प्रभाव अशिक्षा, अस्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक बुराइयों के रूप में प्रकट होता है।

समाजसुधार की दृष्टि से मुसलिम समाज अभी हिंदू समाज से बहुत पीछे है। मुसलिम समाज के नेता अभी परसनल ला, अलीगढ़ संस्कृति, उर्दू और पाकिस्तान के मोह से मुक्त नहीं हुए हैं।

सांप्रदायिकता—भारत में सांप्रदायिकता की समस्या इतिहास की देन है, जिसकी जड़ें मुसलिम आक्रमण, मुसलिम शासन और मुसलिम शासकों द्वारा हिंदुओं की विनाशलीलाओं की लंबी कथा सूची में जमी हुई है, जिसको पानी और खुराक देने का कार्य पाकिस्तान आंदोलन, भारत विभाजन और उर्दू आंदोलन ने किया है। समय समय पर कश्मीर दिल्ली, लखनऊ, भोपाल, हैदराबाद जैसे शहरों में 'पाकिस्तान जिंदाबाद' के नारे से इसकी कटुता बराबर बनी रहती है।

मुसलमानों के साथ भारत में दो प्रकार की मुसलिम संस्कृति का आगमन हुआ, जिसमें एक अरबी संस्कृति थी और दूसरी ईरानी संस्कृति। अरबी संस्कृति अधिक कट्टर और हिंदू विरोधी थी तथा ईरानी संस्कृति सूफी प्रभावित तथा आर्य संस्कृति होने के कारण सहानुभूतिपरक थी। सूफियों ने हिंदू मुसलिम समाज में सद्भावना उत्पन्न करने के लिये बड़ा प्रयास किया। उन्होंने हिंदुओं की कथा कहानियों एवं सांस्कृतिक धाराओं में इस्लाम की श्रेष्ठ बातें मिलाकर एक मिली जुली जीवनधारा प्रवाहित करने की चेष्टा की। जायसी और कबीर इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। शासक के रूप में मध्यकाल में अकबर ने संप्रदायवाद मुक्त शासक का उदाहरण प्रस्तुत किया।

१८५० के बाद अंगरेजी शासन और आधुनिक काल में १८५७ में बहादुर शाह, वाजिद अली शाह, बेगम हजरत महल आदि ने हिंदुओं और मुसलमानों की दूरी कम की और एक नई राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया, जिसमें महाकवि मिर्जा गालिब ने बड़ा योगदान किया, किंतु १८५७ के बड़े युद्ध या क्रांति में अंगरेज भक्त सर सय्यद अहमद खां ने बहादुरशाह के किये कराए पर पानी फेर दिया और हिंदुओं के विरुद्ध जेहाद का नारा बुलंद करने वाले मुसलिम नेता के रूप में अंगरेजी राज्य के चहेते बन बैठे। ढाका के नवाब के साथ मिलकर उन्होंने बीसवीं सदी में मुसलिम लीग का संगठन किया, हिंदी का विरोध किया, हिंदुओं के विरुद्ध दंगा कराया, हिंदुओं के नागरिक अधिकार का विरोध किया, अलीगढ़ विश्वविद्यालय को इस्लामाबाद का गढ़ बनाया, दुर्भावना का प्रचार किया, हिंदू मुसलिम एकता के हर प्रयत्न का विरोध किया एक भारतीय राष्ट्रीयता का विरोध किया। अपनी मृत्यु से पूर्व हिंदू विरोधी मुसलिम सांप्रदायिकता का झंडा उन्होंने अल्लामा मुहम्मद इकबाल और कायदे आजम मुहम्मद अली जिना के हाथों सौंप दिया। पूरे देश और हिंदू मुसलिम जनता को सांप्रदायिक संघर्ष और तत्संबंधी विनाश के विष में डुबा देने के उनके कुकर्म का साक्षी इतिहास है।

वर्तमान सांप्रदायिकता के दोषों के लिये गांधी और नेहरू कम उत्तरदायी नहीं हैं। उन्होंने जनता को सदा धार्मिक आधार पर देखा सुना। जिस मौलाना आजाद (अबुल कलाम) को मुसलमान चाहते भी नहीं थे, उन्हें गांधी और नेहरू ने सदा मुसलमानों का प्रतिनिधि माना। मुसलिम नेताओं को उन्होंने मुसलमानों का प्रतिनिधि नहीं माना। मुसलिम समाज में इसकी हानिकर प्रतिक्रिया हुई। अस्तु, मुसलमानों ने गांधी नेहरू को कभी स्वीकार नहीं किया। दूसरें 'हिंदू मुसलिम सिख ईसाई—आपस में सब भाई भाई' के धार्मिक नारे ने कभी अपने धर्म को भूलने का अवसर जनता को नहीं दिया। तब भी ये दोनों नेता 'तुष्टीकरण' की नीति पर चलते रहे। दंगे हुए, अलग राजनीतिक

दल बने, पाकिस्तान आंदोलन चला, देश बँटा, करोड़ों आदमी सांप्रदायिक हिंसा के शिकार बने, दो स्थायी शत्रुदेश पड़ोस में बन गए, तब भी 'पुष्टीकरण' की निरर्थक नीति चलती रही। भारतीय जनता को किसान, श्रमिक, मध्यम वर्ग के रूप में इन नेताओं ने संगठित नहीं किया। पुरानी सामाजिक संरचना को अस्वीकार कर नई संरचना बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। जनता को स्वराज्य की आवश्यकता थी, वह लड़ती रही, पर इन नेताओं ने समाज निर्माण का कोई आदर्शवादी समानांतर भावी कार्यक्रम हिंदू मुसलिम जनता के संमुख विकल्प रूप में नहीं रखा। अतः जनता हिंदू मुसलिम बनी की बनी रह गई। आज भी उसी तरह पानी पीटा जा रहा। पेशे की या सामाजिक आर्थिक स्तरीकरण की एकता स्थापित न करने का परिणाम यह हुआ कि केवल हिंदू मुसलमान ही नहीं लड़ रहे हैं, हिंदुओं की विभिन्न जातियाँ भी लड़ रही हैं और लखनऊ में शीया सुन्नी, इंदौर बंबई में सुन्नी बोहरा, गुजरात, राजस्थान, पाकिस्तान में सुन्नी-शीया- अहमदिया समय समय पर एक दूसरे का गला रेतते हैं। धर्म की राजनीति का दुष्परिणाम भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश की जनता आज तक भोग रही है और आगे बहुत वर्षों तक भोगेगी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर अरुण कमल और चंद्रकला त्रिपाठी तक की पीढ़ी के कवियों और रचनाकारों ने इस समस्या को झेला हैं और मानवीय धरातल पर सूफियों के शब्द और अर्थ को दोहराया है पर उन्हें न तो सफलता मिली है और न मिलेगी। इसका समाधान वैज्ञानिक समाजवाद के आलोक में वर्गविहीन समाज की रचना करने पर ही मिल सकेगा, जिसके लिये प्रेमचंद और निराला ने बहुत पहले से रास्ता दिखाया है। राष्ट्रकवि गुप्त जी का समस्त साहित्य इन समस्याओं के आलोक में लिखा गया है।



समकालीन संदर्भ

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

डा० श्यामसुंदरदास

बाबू मैथिलीशरण गुप्त (जन्म सं० १९४३ वि०) आधुनिक खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप खड़ा किया। द्विवेदी जी की भाँति उनकी भाषा में संस्कृत का पुट रहता है पर प्रियप्रवास की भाँति वह अतिशय संस्कृतगर्भित नहीं होती। उर्दू के बहुत ही थोड़े शब्दों को ग्रहण करने के कारण वे पंडित गयाप्रसाद सनेही जी की उर्दूमिश्रित कविताशैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। भाषा की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा। उनकी पहली रचना 'भारत भारती' अब भी अनेक देशप्रेमी नवयुवकों का कंठहार हो रही है और कितने नवसिखुए कवि अब भी उसका अनुकरण करते देखे जाते हैं।

मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।
भगवान् भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।।

कवि की इस अभिलाषा के अनुसार ही उनकी 'भारत भारती' देश भर में खूब गूंजी। पर काव्य की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है। काव्य की दृष्टि से उनका 'जयद्रथ वध' खंडकाव्य उत्कृष्ट हुआ है। उसमें वीररस का पूर्ण परिपाक और बीच बीच में करुणारस के सुंदर छींटे देखकर मन रसमग्न हो जाता है। अपनी 'हिंदू' शीर्षक कविता पुस्तक में गुप्त जी उपदेशक बनकर गीता का अनुकरण करते देखे जाते हैं, पर सामयिक प्रवाह में पड़कर ऐसी कविता की सृष्टि करने के लिये हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। आधुनिक रचनाओं में 'पंचवटी' सर्वश्रेष्ठ है। उसमें लक्ष्मण का चरित्र बड़ा उज्जवल चित्रित हुआ है और पूरी पुस्तक में सुंदर पद्यों की अनोखी छटा देख पड़ती है। मैथिलीशरण गुप्त जी ने साकेत, यशोधरा और द्वापर नामक काव्यों की भी रचना की है। साकेत महाकाव्य है। उसमें साकेत (अयोध्या) को केंद्र बनाकर रामकथा का वर्णन किया गया है। कवि राम, लक्ष्मण, सीता के साथ बन नहीं जाता; भरत, शत्रुघ्न, मांडवी, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला आदि के साथ अयोध्या ही का वर्णन करना अपना उद्देश्य बनाता है। विशेषतया उर्मिला के चरित्र से कवि अधिक अपनाव दिखलाता है। इस महाकाव्य में स्थल स्थल पर कवि की प्रतिभा खूब चमकी है। किंतु अधिकांश स्थल, विशेषकर आरंभ के, शिथिल और शुष्क हैं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ आधुनिक कवियों में उन्हें उच्च आसन प्रदान करता है।

लक्ष्मण के वन से लौट आने की उमंग में सखी उर्मिला का श्रृंगार करने चलती है। तब वह कहती हैं :—

> हाय सखी श्रृंगार मुझे अब भी सोहेंगे ?
> क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?
> मैंने जो वह दग्धवर्तिका चित्र लिखा है,
> तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है ?
> नहीं नहीं प्राणेश मुझ्से से छले न जावें :
> शूर्पणखा मैं नहीं-हाय तू रो रोती है।
> अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।

'यशोधरा' में वैराग्य के बाद यशोधरा का वर्णन है। यह करुण रस का सुंदर काव्य है, किंतु स्थल स्थल पर व्यर्थ के वाग्विस्तार ने काव्य के प्रभाव को क्षीण कर दिया है। द्वापर नए ढंग का काव्य है जिसमें कृष्ण कथा से संबंध रखनेवाले पात्र अपने अपने मुँह से एक प्रकार से अपनी अपनी जीवन कथा कहते है। ढंग सर्वथा मौलिक है और गुप्त जी की उपज को सिद्ध करता है। गुप्त जी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इस बात से सिद्ध होता है कि उनकी छायावाद के ढंग की रचनाएँ भी उस श्रेणी के कवियों की प्रशंसा पा चुकी हैं। गुप्त जी की कविता में कहीं कृत्रिमता नहीं देख पड़ती परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि उनका अधिकांश काव्य पद्यमय गद्य है। इन्होंने बंगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध', 'वीरांगना', विरहिणी व्रजांगना' तथा नवीनचंद्र सेन के 'प्लासीर युद्ध' का भी हिंदी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में गुप्त जी को अद्भुत सफलता मिली है। इनसे उनकी विलक्षण क्षमता का पता तो चलता है, खड़ी बोली की भी शब्दशक्ति प्रकट होती है। इनके अनुवादों में अनुवाद का नहीं मौलिक रचना का स्वाद मिलता है :—

> शिखिनि ! विरसवदना हो बैठी तरु-शाखा पर तू कैसे ?
> तेरे प्राण न देख श्याम को रोते हैं क्या मुझ जैसे ?
> तू भी है दुखिया क्या, आहा, उन पर कौन नहीं मरता ?
> किसे नहीं शशि शीतल करता, किसका हृदय नहीं हरता ?

(विरहिणी व्रजांगना)



बाबू मैथिलीशरण गुप्त

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

'सरस्वती' का संपादन द्विवेदी जी के हाथ में आने के प्रायः तीन वर्ष पीछे (सं० १९६३ से) बाबू मैथिलीशरण गुप्त की खड़ी बोली की कविताएँ उक्त पत्रिका में निकलने लगीं और उनके संपादनकाल तक बराबर निकलती रहीं। संवत् १९३६ में उनका 'रंग में भंग' नामक एक छोटा सा प्रबंधकाव्य प्रकाशित हुआ जिसकी रचना चित्तौड़ और बूँदी के राजघरानों से संबंध रखनेवाली राजपूती आन की कथा को लेकर हुई थी। तब से गुप्त जी का ध्यान प्रबंधकाव्यों की ओर बराबर रहा और वे बीच बीच में छोटे या बड़े प्रबंधकाव्य लिखते रहे। गुप्त जी की ओर पहले पहल हिंदी प्रेमियों का सबसे अधिक ध्यान खींचनेवाली उनकी 'भारत भारती' निकली। इसमें 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर भारतीयों की या हिंदुओं की भूत और वर्तमान दशाओं की विषमता दिखाई गई; भविष्यनिरूपण का प्रयत्न नहीं है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी सादी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिंदी कविता के लिये खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी। इसी ढंग पर बहुत दिनों पीछे इन्होंने 'हिंदू' लिखा। 'केशों की कथा' 'स्वर्गसहोदर' इत्यादि बहुत सी फुटकल रचनाएँ इनकी 'सरस्वती' में निकली हैं, जो मंगलघट में संगृहीत हैं।

प्रबंधकाव्यों की परंपरा इन्होंने बराबर जारी रखी। अब तक ये नौ दस छोटे बड़े प्रबंध काव्य लिख चुके हैं जिनके नाम हैं—रंग में भंग, जयद्रथ वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी सिद्धराज, साकेत, यशोधरा। अंतिम दो बड़े काव्य हैं। 'विकट भट' में जोधपुर के एक राजपूत सरदार की तीन पीढ़ियों तक चलनेवाली, बात की टेक की अद्भुत पराक्रमपूर्ण कथा है। गुरुकुल में सिख गुरुओं के महत्व का वर्णन है। छोटे काव्यों में 'जयद्रथ वध' और 'पंचवटी' का स्मरण अधिकतर लोगों को है। गुप्त जी के छोटे काव्यों की प्रसंग-योजना भी प्रभावशालिनी है और भाषा भी बहुत साफ सुथरी है।

वैतालिक की रचना उस समय हुई जब गुप्त जी की प्रवृत्ति खड़ी बोली में गीतिकाव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई।

यद्यपि गुप्त जी जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही महत्व और सौंदर्य

का दर्शन करनेवाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखनेवाले कवि हैं, पर तृतीय उत्थान में 'छायावाद' के नाम से रहस्यात्मक कविताओं का कलरव सुन इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में गाए जो 'झंकार' में संगृहीत हैं। पर असीम के प्रति उत्कंठा और लंबी चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्त जी की अंतःप्रेरित प्रवृत्ति के अंतर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पड़े।

साकेत और यशोधरा इनके दो बड़े प्रबंध हैं। दोनों में उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबंधत्व की कमी है। बात यह है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्त जी की प्रवृत्ति गीतिकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) की ओर हो चुकी थी। 'साकेत' रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उर्मिला 'काव्य की उपेक्षिता' न रह जाय। पूरे दो सर्ग (९ और १०) उसके वियोगवर्णन में खप गए हैं। इस वियोगवर्णन के भीतर कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक चमत्कारपूर्ण पद्य तथा आजकल की नई रंगत की वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्यवाले गीत दोनों रखे हैं। काव्य का नाम 'साकेत' रखा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसमें अयोध्या में होनेवाली घटनाओं और परिस्थितियों का ही वर्णन प्रधान है। राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में राम भरत मिलन तक की कथा आठ सर्गों तक चलती है। उसके उपरांत दो सर्गों तक उर्मिला की वियोगावस्था की नाना अंतर्वृत्तियों का विस्तार है जिसके बीच बीच में अत्यंत उच्च भावों की व्यंजना है। सूरदास की गोपियाँ वियोग में कहती हैं कि—

> मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
> विरहवियोग श्यामसुंदर के काहे न उकठि परे ?

पर उर्मिला कहती है—

> रह चिर दिन तू हरी भरी,
> बढ़, सुख से बढ़, सृष्टि, सुंदरी,

प्रेम के शुद्ध प्रभाव से उर्मिला के हृदय की उदारता का और भी प्रसार हो गया है। वियोग की दशा में प्रिय लक्ष्मण के गौरव की भावना उसे संभाले हुए है। उन्माद की अवस्था में जब लक्ष्मण उसे सामने खड़े जान पड़ते हैं तब उस भावना को गहरा आघात पहुँचता है और व्याकुल होकर कहने लगती है—

> प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ?
> हम गिरे, अहो तो गिरे, गिरे !

दंडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ शत्रुघ्न के मुँह से मांडवी और भरत के सामने पूरी रसात्मकता के साथ वर्णन कराइ गई है। रामायण के

भिन्न भिन्न पात्रों के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूपों को विकृत न करके उनके भीतर ही आधुनिक आंदोलनों की भावनाएँ—जैसे किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, युद्धप्रथा की मीमांसा, राजव्यवस्था में प्रजा का अधिकार और सत्याग्रह, विश्वबंधुत्व, मनुष्यत्व,—कौशल के साथ झलकाई गई है। किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।

यशोधरा की रचना नाटकीय ढंग पर है। उसमें भगवान् बुद्ध के चरित्र से संबंध रखनेवाले पात्रों के उच्च और सुंदर भावों की व्यंजना और परस्पर कथोपकथन हैं, जिनमें कहीं कहीं गद्य भी है। भावव्यंजना प्रायः गीतों में है।

द्वापर में यशोदा, राधा, नारद कंस, कुब्जा इत्यादि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का अलग अलग मार्मिक चित्रण है। नारद और कंस की मनोवृत्तियों के स्वरूप तो बहुत ही विशद और समन्वित रूप में सामने रखे गए हैं।

गुप्त जी ने अनघ, तिलोत्तमा, चंद्रहास, नामक तीन और छोटे छोटे पद्यबद्ध रूपक भी लिखे हैं। अनघ में कवि ने लोकव्यवस्था के संबंध में उठी हुई भावनाओं और विचारों का अवस्थान प्राचीनकाल के भीतर ले जाकर किया है। वर्तमान किसान आंदोलन का रंग प्रधान है।

गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्यप्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिंदी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निःसंदेह कहे जा सकते हैं। भारतेंदु के समय में स्वदेश प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास 'भारत भारती' में मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और संमान, सबकी झलक हम पाते हैं।

गुप्त जी की रचनाओं के भीतर तीन अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है जिसमें खड़ी बोली के पद्यों की मसृणबंध रचना हमारे सामने आती है। सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ तथा 'भारत भारती' इस अवस्था की रचना के उदाहरण हैं। ये रचनाएँ काव्यप्रेमियों को कुछ गद्यवत् रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं। इनमें सरस और कोमल पदावली की कमी भी खटकती थी। बात यह है कि यह खड़ी बोली का परिमार्जन काल था। इसके अनंतर गुप्त जी ने बंगभाषा की कविताओं का अनुशीलन तथा मधुसूदन दत्त रचित ब्रजांगना, मेघनादवध आदि का अनुवाद

भी किया। इसमें इसकी पदावली में बहुत कुछ सरसता और कोमलता आई, यद्यपि कुछ ऊबड़खाबड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दों की ठोकरें कहीं कहीं, विशेषतः छोटे छोटे छंदों के चरणांत में, अब भी लगती हैं। भारत भारती और वैतालिक के बीच की रचनाएँ इस दूसरी अवस्था के उदाहरण में ली जा सकती हैं। उसके उपरांत छायावाद कही जानेवाली कविताओं का चलन होता है और गुप्त जी का कुछ झुकाव प्रगीत मुक्तकों और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी हो जाता है। इस झुकाव का आभास 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी पाया जाता है। यह तीसरी अवस्था है।

गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं; प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने (या झीमने) वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमें हैं। इनकी रचना के कई प्रकार के नमूने नीचे दिए जाते हैं :—

क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।
वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?–(भारत भारती)

थे, हो और रहोगे जन तुम, थी, हूँ और सदैव रहूँगी।
कल निर्मल जल की धारा सी आज यहाँ, कल वहाँ बहूँगी।

दूती ! बैठी हूँ सजकर मैं।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से धाम धरा धन सब तजकर मैं।

अच्छी आँख मिचौनी खेली !
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली।

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले हैं, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी।

(झंकार)

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे ?
सखि, नील नभस्सर से उतरा, यह हंस अहा ! तरता तरता।
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम बिंदु बचे तब भी, चलता उनको धरता धरता।
गड़ जायें न कंटक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता।

आकाश जाल सब ओर तना, रवि तंतुवाय है आज बना;
करता है पद प्रहार वही, मक्खी सी भिन्ना रही मही।
घटना हो चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य।
आती है ऊपर, सखी ! छाकर चंद्रादित्य ॥
इंद्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय ?
नन्हीं दूबों का हृदय निकल पड़ा यह, हाय।
इस उत्पल से काय में, हाय ! उपल से प्राण।
रहने दे बक ध्यान यह, पावें ये दृग त्राण ॥
वेदने ! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोगसमाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को जगती को देखूँ खिंची तनी।
हा ! मेरे कुंजों का कूजन रोकर निराश होकर सोया।
यह चंद्रोदय उसको उड़ा रहा है धवल वसन सा धोया ॥
सखि, निरख नदी की धारा।
ढलमल ढलमल चंचल, अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अंतस्तल भरके, उछल उछल कर छल छल करके।
थल थल तर के, कल कल धर के बिखराती है पारा ॥
ओ मेरे मानस के हास ! खिल सहस्रदल, सरस सुवास।
सजनि, रोता है मेरा गान।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।
बस इसी प्रिय काननकुंज में—मिलन भाषण के स्मृतिपुंज में—
अभय छोड़ मुझे तुम दीजियो, हसन रोदन से न पसीजियो।
—(साकेत)

खड़ी बोली की कविताओं की उत्तरोत्तर गति की ओर दृष्टिपात करने से यह पता चल जाता है कि किस प्रकार ऊपर लिखी बातों की ओर लोगों का ध्यान क्रमशः गया है और जा रहा है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में चलती हुई खड़ीबोली का परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप गीतिका आदि हिंदी के प्रचलित छंदों में तथा नए गढ़े हुए छंदों में पूर्णतया देखने में आया। ठाकुर गोपालशरण सिंह जी कवित्तों और सवैयों में खड़ी बोली का बहुत ही मँजा हुआ रूप सामने ला रहे हैं। उनकी रचनाओं को देखकर खड़ी बोली के मँज जाने की पूरी आशा होती है।

खड़ीबोली का पूर्ण सौष्ठव के साथ मँजना तभी कहा जायगा जब कि पद्यों में उसकी अपनी गतिविधि का पूरा समावेश हो और कुछ दूर तक

चलनेवाले वाक्य सफाई के साथ बैठें। भाषा का इस रूप में परिमार्जन उन्हीं के द्वारा हो सकता है जिनका हिंदी पर पूरा अधिकार है. जिन्हें उसकी प्रकृति की पूरी परख है। पर जिस प्रकार बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरण सिंह जी ऐसे कवियों की लेखनी से खड़ीबोली को मँजते देख आशा का पूर्ण संचार होता है उसी प्रकार कुछ ऐसे लोगों को जिन्होंने अध्ययन या शिष्ट समागम द्वारा भाषा पर पूरा पूरा अधिकार नहीं प्राप्त किया है, संस्कृत की विकीर्ण पदावली के भरोसे पर या अंगरेजी पद्यों के वाक्य खंडों के शब्दानुवाद जोड़ जोड़ कर, हिंदी कविता के नए मैदान में उतरते देख आशंका भी होती है। ऐसे लोग हिंदी जानने या उसका अभ्यास करने को जरूरत नहीं समझते। पर हिंदी भी एक भाषा है, जो आते आते आती है। भाषा विना अच्छी तरह जाने वाक्यविन्यास, मुहावरे आदि कैसे ठीक हो सकते हैं ?

गुप्त जी की नक्षत्रनिपात (सन् १९१४), अनुरोध (सन् १९१५), पुष्पांजलि (१९१७), स्वयं आगत (१९१८) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य हैं। षुष्पांजलि और स्वयं आगत की कुछ पंक्तियाँ आगे देखिए—

(क) मेरे आँगन का एक फूल।

सौभाग्य भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वासन से हिला हुआ,
संसार—विटप से खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक भूल भूल।

(ख) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ है कैसे भीतर जाऊँ मैं ?

इसी प्रकार गुप्त जी की और भी बहुत सी गीतात्मक रचनाएँ हैं जैसे—
(ग) प्यारे ! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया।

दीप्ति बड़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस, कहा।
सो जाने के लिये जगत् का यह प्रकाश है जाग रहा।
किंतु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा।
निरुद्देश नख रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति, अहा।

गुप्त जी और मुकुटधर पांडेय आदि द्वारा स्वच्छंद नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो

अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यामिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने ईसाई संतों के छायाभास (फेंटासमाटा) तथा योरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीक (सिंबालिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगला में ऐसी कविताएँ छायावाद कहीं जाने लगी थीं। यह वाद क्या प्रकट हुआ, एक बने बनाए रास्ते का दरवाजा सा खुल पड़ा और हिंदी के कुल नए कवि उधर एक बारगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्यक्षेत्र में प्रकट होना, कई कवियों का इस पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अंगरेजी और बंगला की पदावली का जगह जगह ज्यों का त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्ग की स्वतंत्र उद्‌भावना नहीं सूचित करतीं।

इधर हमारे साहित्य क्षेत्र की प्रवृत्तियों का परिचालन बहुत कुछ पश्चिम से होता है। कला में व्यक्तित्व की चर्चा खूब फैलने से कुछ कवि लोक के साथ अपना मेल न मिलने की अनुभूति की बड़ी लंबी चौड़ी व्यंजना, कुछ मार्मिकता और कुछ फक्कड़पन के साथ करने लगे हैं। भाव-क्षेत्र में असामंजस्य की इस अनुभूति का भी एक स्थान अवश्य है, पर यह कोई व्यापक या स्थायी मनोवृत्ति नहीं। हमारा भारतीय काव्य उस भूमि की ओर प्रवृत्त रहा है जहाँ जाकर प्रायः सब हृदयों का मेल हो जाता है। वह सामंजस्य को लेकर अनेकता में एकता को लेकर चलता रहा, असामंजस्य को लेकर नहीं।

उपर्युक्त परिवर्तनवाद और छायावाद को लेकर चलनेवाली कविताओं के साथ साथ दूसरी धाराओं की कविताएँ भी विकसित होती हुई चल रही हैं। द्विवेदीकाल में प्रवर्तित विविध वस्तुभूमियों पर प्रसन्न प्रवाह के साथ चलनेवाली काव्यधारा सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरण सिंह, अनूप शर्मा, श्यामनारायण पांडेय, पुरोहित प्रतापनारायण, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश', इत्यादि अनेक कवियों की वाणी के प्रसाद से विविध प्रसंग, आख्यान और विषय लेकर निथरती तथा प्रौढ़ और प्रगल्भ होती चली चल रही है। उसकी अभिव्यंजना प्रणाली में अब अच्छी सरसता और सजीवता तथा अपेक्षित वक्रता का भी विकास होता चल रहा है।[1]



१—हिंदी साहित्य का इतिहास से उधृत।

मेरा मौन नमस्कार

सियारामशरण गुप्त

यह आयोजन मैं अपने लिये त्योहार मानता हूँ, छुट्टी का। बोलना नहीं चाहता, लिखना नहीं चाहता। अपने को ऐसा महत्व कैसे मैं इस अवसर पर दूँ? अभिनंदन मंच के नीचे इधर उधर रहने वाले उदार जनसमूह के ही बीच रहना ऐसे में मुझे रुचता है। वे स्नेह संपन्न जन, जिन्होंने अभिनंद्य और अभिवंद्य कवि की वाणी का पारायण किया है, जिन्होंने कवि की पंक्तियों में अपने सुख के क्षण और भी सुखमय किए हैं, दुःख के क्षणों के भारी भार अनेक अवसरों पर फूल मालाओं के रूप में बदले हैं, उनमें से बहुतों के अभिनंदन उनके मौन में ही फूटेंगे। उन्हीं बहुतों के बीच में अपने को मिलाना चाहता हूँ। इसमें मेरा लोभ है, ऐसा लोभ जो लाभ बन जाता है। कथित से मेरे अकथित का मोल न्यून न होगा।

अनुज हूँ। मेरा परम सौभाग्य। अनुजत्व के कारण अयाचित गौरव विपुल परिमाण में मैंने अनायास ही पाया है। लक्ष्मण की महत्ता भी उनके अनुरूप में निहित है। राम को वनवास दिया जा रहा था, तब दशरथ को उनका ध्यान तक न था। न दिए जाने पर भी वह उन्हें स्वतः मिल गया। और इस प्रकार उन्हें वह मिला, जिसकी आकांक्षा सब कोई करेंगे। यह सब कुछ हो, फिर भी एक बहुत बड़ा गौरव ऐसा है, जो उन्हें नहीं मिल सका। रामायण लिखने के, राम के चरित का गान कर सकने के अधिकारी वे नहीं हो सके। वे लिखते तो वह अग्रजायण भी अनुपम हो सकती थी, किंतु राम का व्यापक रूप लिखने का काम लक्ष्मण का न था। इसी से किसी ने यह कार्य करने का अनुरोध उनसे किया हो, इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

हनुमान से बढ़कर राम किंकर कौन होगा? उन्होंने भी वैसा प्रयत्न कभी नहीं किया।

राम के चरित का गान करने के लिये दूर दृष्टि अपेक्षित थी, ऐसी अनासक्ति अनिवार्य थी, जो लक्ष्मण तक का विसर्जन सहजभाव से कर सके। यह तपोबल महर्षि वाल्मीकि में ही था। लक्ष्मण और हनुमान का महत्व इससे घटता नहीं।

सो, मैं बड़ों का ही अनुसरण श्रद्धा के साथ करना चाहता हूँ। अनुज होने के कारण इस अवसर पर मुझे कुछ लिखना ही चाहिए, यह मुझे नहीं दीखता। यह समारोह ही इस बात का है कि कवि घर और गांव की सीमा का अतिक्रमण करके जन जन का अपना बन सका। घर घर उसके स्नेही, बंधु और अनुज फैले हैं। उनमें न जाने कितने ऐसे हैं, जिन्होंने दूर रहकर घर में निकट रहने वाले मुझसे अधिक पाया है। अधिक ग्रहण किया है। मैंने जो कुछ ग्रहण

किया है; उससे अधिक मेरी मुट्ठी में अमा ही न सकता था। उसी के कारण मेरी किंचित् साहित्य साधना भी मेरे लिये बहुत बन सकी। यह मैं अपने लिखे की अवमानना नहीं करता। वह मेरे जीवन का श्रेष्ठ लाभ है। उसमें जितना गुण आ सका है, वह न आ सकता यदि अग्रज का निदर्शन मुझे निरंतर न मिला होता। इतना होने पर भी अब तक अपनी कोई रचना उनके समक्ष यह कह कर भी उपस्थित नहीं कर सका हूँ कि पाई तुम्हीं से वस्तु जो, कैसे तुम्हें अर्पण करूँ। इसके लिये मुझे और कुछ निखरना होगा। मेरा अच्छा बुरा सब कुछ उन्हें अपने आप अर्पित हो रहा है। यही मेरा संतोष है।

और, इसी से इस अवसर पर छुट्टी मनाने का मेरा यह आग्रह है। पर्व के आयोजन समारोह में व्यस्त रहने का काम बड़ों का है। छोटों को छुट्टी मिलती है। छुट्टी न रहने से पर्व की महत्ता संकुचित होगी। अग्रज की गोद में, उनकी छाया में; भगवान् की कृपा से आज भी मैं अपने को इतना ही छोटा, और इसी कारण सुरक्षित भी, पाता हूँ। उनसे संबंधित अपने बचपन की सर्वप्रथम एक याद यह मेरे मन में है कि वे झाँसी से किसी छुट्टी में लौटे थे, जहाँ उन्हें पढ़ने के लिये भेजा गया था। उनकी थाली में उनके साथ मैंने कलेवा किया। नमकीन अथवा मीठा क्या कुछ था, यह भूल गया हूँ। संभवतः यह इस लिये कि इसका महत्व उतना नहीं, जितना इस बात का कि मुझे स्नेह का, शारीरिक के साथ साथ, मानसिक पुष्टिकर आहार मिला।

तभी की, एक दूसरी घटना भी है। एक दिन जल के स्थान पर मैंने तेल से नहा लिया। इसके लिये कम डाँट नहीं मिली थी। दोनों घटनाएँ मेरे लिये सांकेतिक हैं। मेरा सारा जीवन उसी परिपोषण और अनुशासन में ढला हुआ है। मेरी ये स्मृतियाँ नितांत अपनी हैं। व्यक्तिगत व्यक्तिगत ही रहे, क्यों वह सार्वजनिक हो?

और एक बात। पूज्य दद्दा उन दिनों मेरे 'झाँसी वाले भैया' थे। वह संबोधन मैंने अपनी बड़ी बहन लक्ष्मी जिज्जी से लिया होगा। जिजिया ने सोचा न होगा कि वे अपने भैया को घर से और गाँव से ठेलकर नगर का बना रही हैं। आज वे होतीं, तो कितनी प्रसन्न होतीं कि उनके भैया निरंतर प्रव्रजित होते हुए, देश भर के अपने बन गए हैं।

लिखूँ क्या उनके विषय में? भैया होकर वे मेरे दद्दा बन गए हैं। भगवान् ने मुझे जीवन के समग्र श्रेष्ठ दान उन्हीं के हाथों दिए। शब्दों में वह आभार भर कैसे सकूँगा?

मेरा मौन नमस्कार ही स्वीकृत हो।



अहिंदी भाषियों के सर्वाधिक प्रिय

प्रभाकर माचवे

श्री गुप्त जी की पहली झाँकी मुझे सन् १९३३ की याद है। उन दिनों मैं और श्री वीरेंद्रकुमार जैन इंदौर में पढ़ते थे। 'यशोधरा' की पहली प्रति आते ही वीरेंद्र और मैंने, पागल की तरह एक दिन और रात एक साथ बैठकर उसकी सरस काव्यधारा का आस्वाद किया; एक 'सिटिंग' में पूरा पढ़ चुके थे। मैंने उसके बाद कितनी बार उसका पारायण किया और गुप्त जी के अन्य कई ग्रंथों को अहिंदी भाषियों को भी पढ़ाया, यह याद नहीं। हम दोनों वीरेंद्र केशव-साहित्य परिषद् की ओर से जो वसंतोत्सव कवि संमेलन टीकमगढ़ में मेला होता था, उसमें शरीक होने गए थे। वहाँ पहली बार गुप्त जी को देखा। पीली पाग थी। छोटी छोटी मूँछें थीं, लंबा अँगरखा और गले में बकायदा राजकवि का सा उपरना था। तब गुप्त जी वैष्णवी तिलक भी लगाते थे। मेरे मन पर प्रभाव पड़ा, पूरे सामंती राजकवि का—वैसे ओरछा की भूमि कवि केशवदास की याद भुला न सकी थी। मुंशी अजमेरी और सियारामशरण जी को भी तब निकट से देखा। गुप्त जी में उत्साह खूब था, चलते थे तो दोनों कंधों पर का दुपट्टा फहराता चलता। एक ही चीज तब की याद है कि इस सारे साजबाज में वे तंबू के बाहर आकर बीड़ी पीते जाते, जो बड़ी अटपटी लगती। पर शायद यही उनके प्रजातंत्रवादी होने की प्रतीक घटना थी। उन्हें आस पास के साहित्यिक घेरे रहते। उनसे वे हँसी मजाक करते, बुंदेलखंडी बोली में बोलते जाते। वहीं मैंने गुप्त बंधुओं का, बनारसीदास जी का और मुंशी अजमेरी का पेंसिल स्केच खींचा, जिन पर उनके हस्ताक्षर लिए। ये रेखाचित्र बाद में 'आरती' में सन् ४०' में मेरे लेख 'कलम और कूँची' के साथ में पूरे दो पृष्ठ में छापे गए हैं। सो गुप्त जी के पहले दर्शन जो मैंने बाइस वर्ष पूर्व अपनी १६-१७ वर्ष की आयु में किए थे, वे अब भी याद हैं। वहाँ ओरछेश की प्रशस्ति में गुप्त जी ने कोई रचना पढ़ी थी, ऐसा मुझे स्मरण है। उसी वीरवसंतोत्सव में 'देव पुरस्कार' प्रतिवर्ष देने की घोषणा वीरेंद्रसिंह जू देव ने की थी।

वहाँ की एक दूसरी दिलचस्प घटना मुझे याद है। सियाराम जी अमरूद खा रहे थे, ऐसा वह स्केच' मैं खींच रहा था। तब एक कोई स्थानीय कवि अपना लंबा सा काव्य लेकर गुप्त जी के तंबू में उन्हें सुना रहे थे। गुप्त जी ने आँखें मूँद। लीं बड़ा उबालनेवाला वह काव्यश्रवण निश्चित रहा होगा। आधे घंटे चलता रहा। हम सब थक चुके थे, पर गुप्त जी के चेहरे पर शिकन नहीं

थी। बीच बीच में यांत्रिक ढंग से 'वाह' 'वाह' की दाद भी देते जाते थे। इसके बाद अनेक वार गुप्त जी के घर में, रेडियो में, साहित्कार संसद में और अन्यत्र मैंने गुप्त जी को अन्य कवियों की रचनओं को प्रोत्साहन देते, आर्शीवाद रूप में दाद देते देखा सुना है। पर पहले दर्शन की वह बात अभी भी मुझे याद है। जाड़े के कारण अपने तंबू में कनटोप पहने गुप्त जी बैठे थे। शायद हुक्का भी पास था। जब वे कवि जी अपना ऊबा देने वाला काव्यपाठ पूरा कर चुके, तब राय माँगने लगे। गुप्त जी ने कहा, 'भाई, हमारा तो मन ऐसा है कि आपकी पहली पंक्ति सुनते ही हम एक दूसरे ही उसी समान भाववाली काव्यपंक्ति के कल्पनालोक में पहुँच गए, उसी का विचार करने लगे और उसी में डूब गए। फिर ख्याल नहीं रहा आपने आगे क्या सुनाया।' अत्यंत मधुरतापूर्वक उन्होंने यह बात कही। इससे मुझे लगा कि गुप्त जी ने ऐसा दिव्य संतुलन अपने मन और इंद्रियों के बीच पाया है कि कान, आँखें, जिह्वा आदि अपना कार्य करती जाती हैं, बराबर चलती रहती हैं 'सह कर्म कौन्तेय' और उनका मन उससे निर्लिप्त, अनासक्त रहता है। यह निर्लिप्त, अनासक्त रहता है। यह निरी औपचारिकता या शिष्टाचार नहीं। मुझे लगता है कि गुप्त जी का मन कहीं किसी ऊँची, पहुँची हुई साधना में सदा संलग्न रहता है, जब कि उनका व्यवहारपक्ष विचारपक्ष से भिन्न, सहज कलकल नित्य बहता रहता है। समुद्र के अतल की आग का अंदाजा क्या उसके तटवर्ती तरंगायित या सतही स्वरूप से लगाया जा सकता है? गुप्त जी के महाकवित्व का स्रोत भी यही उनका अंतर्वर्ती अनासक्त एकांत सेवन है। उनकी बाह्य सुमधुर सामाजिकता मात्र नहीं।

गुप्त जी को दूसरी बार सन् '३६ में प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडेमी' के जलसे में देखा। मैं आगरे में विद्यार्थी था और माखनलाल जी के साथ वहाँ गया था। वहाँ उनके ठट्ठे मजाक, प्रेमचंद और उनके बीच उन्मुक्त हास्य विनिमय को भी देखा। एक शाम को कवि संमेलन हुआ। विजयानगरम् हाल में वह संमेलन हुआ था और गुप्त जी तब 'द्वापर' की रचना कर रहे थे, उसमें से कंस अंश सुना रहे थे। यह काव्यपाठ उनके मुख से सुनना और भी महत्वपूर्ण था, क्योंकि सार्वजनिक सभाओं में तब गुप्त जी बहुत कम अपनी रचनाएँ पढ़ते थे। लड़के तो लड़के ठहरे, और तिसपर इलाहाबाद युनिवर्सिटी के लड़के। उनके लिये तो बच्चन की 'मधुशाला' का नशा प्रधान था। वे बहुत शोर मचाने लगे। जैसे सन् ३५ के इंदौर साहित्य संमेलन के कवि संमेलन में महादेवी जी ने कविता पढ़ना छोड़ दिया, वैसे ही उस समय गुप्त जी भी क्रोधित होकर 'कंस' का पाठ अधूरा ही छोड़कर बैठ गए। भीड़ भड़क्के से गुप्त जी हमेशा बचते रहे हैं। साहित्य संमेलन का अध्यक्ष पद

उन्होंने तीन बार अस्वीकृत किया। उनके गुरु महावीरप्रसाद जी द्विवेदी भी संमेलन के अध्यक्ष न बने। न प्रेमचंद, न प्रसाद, न निराला को संमेलन ने अध्यक्ष बनाया! इसलिये जो कुछ उन्होंने अर्जित किया, वह चिरगाँव जैसे बुंदेलखंड के अंचल में, एक देहात में, जनता की कोलाहलमयी दृष्टि से दूर रहकर, केवल काव्यरचना के सहारे ही। हिंदी में गुप्त जी एकमात्र श्रेष्ठ कवि हैं, जिन्होंने केवल कविता लिखी है, गद्य नहीं के बराबर लिखा। अन्य सब कवियों ने बहुत सा गद्य लिखा है; किसी ने नाटक, किसी ने उपन्यास, किसी ने कहानियाँ, किसी ने आलोचना, किसी ने निबंध या संस्मरण। पर गुप्त जी के लिखे गद्य निबंध दो ही तीन मिलते हैं—एक बार द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ में कवि दृष्टि पर कुछ लिखा था कि वर्षों बाद कुछ अनुज सियारामशरण के संस्मरण रूप। इधर रेडियो से एक दो वार्ताएँ 'मेरी पहली रचना अन्योक्ति' 'मेरी काव्य दृष्टि' आदि, ये लिखवाई गई होंगीं वर्ना गद्य पथ उनका राह नहीं। इसीलिये वे न तो धुँआधार भाषण देना पसंद करते हैं, न पुस्तकों की भूमिकाएँ या लंबे लंबे प्रशस्ति पत्र लिख देना। बहुत अधिक भावमय हुए तो दो चार पंक्तियाँ पद्य की लिखकर वे अपनी बात पूरी कर देते हैं। जवाहरलाल नेहरू को सन् ५० में दिए गए हिंदी अभिनंदन ग्रंथ में प्रारंभ में ही उनकी चार पंक्तियाँ हैं।

इधर सन् '४० से ४६' तक कई बार लखनऊ रेडियो भी मुझे जाना हुआ और दो तीन बार चिरगाँव ठहरा। गुप्त जी के आग्रह पर उनके यहाँ आतिथ्य भी ग्रहण किया। उनको और निकट से जाना। इस बीच मैं बतला दूँ कि 'सन् ३८ में मैंने इंदौर से प्रकाशित होनेवाले मराठी मासिक 'मालव साहित्य' में एक लेखमाला हिंदी साहित्यिकों पर लिखी, जिसमें महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के बाद गुप्त बंधुओं पर लेख लिखा। लेख का छपना था कि एक अधिकारी सज्जन ने मेरे विरोध में उसी पत्र में लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—'माचव्यांची मराठी वर मोहीम' (माचवे की मराठी के खिलाफ मुहिम)। मैंने हिंदी का पक्ष लेकर पुनः उन्हें सप्रमाण उत्तर दिया।

चिरगाँव में उस जमाने में दाल की चक्की के पास छोटी सी सहन में 'दोउ भज्जा' बैठते थे। तब पता चला कि गुप्त जी अपनी रचनाएँ मूलतः स्लेट पटिया पर लिखते हैं—बाद में 'फेअर' करते हैं। उनके उस कमरे को भी देखा, जहाँ 'साकेत' पूरा लिखा गया था। सादा कमरा, अंदर गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के संपूर्ण ग्रंथ रखे हुए और बड़ी सी घड़ी। संस्कृत साहित्य का गुप्त जी ने बड़ा गहरा अध्ययन किया है उनके संस्कार उसी से बने हैं।

उनके धुले हुए चौके से दूर बैठकर उनके यहाँ का भोजन भी पाया। जितने अल्प समय मैं वहां रहा, उनकी जिज्ञासा वृत्ति से मैं बड़ा प्रभावित हुआ। सन्' ३९

के दिसंबर में बापू ने सेवाग्राम में मेरा संबंध पक्का किया था और सन् '४० में नवंबर में मेरा विवाह हुआ । तब गुप्त जी की शुभकामनाएँ मुझे विशेष रूप से मिलीं ।

चिरगाँव की पहली यात्रा में गुप्त जी ने अपने छापेखाने के पास के स्टोर में जमा अपनी सारी रचनाओं में से एक एक चुनकर उनका सेट दिया । वहीं मैंने उनसे पूछा था कि गुप्त जी, मैं जानना चाहता हूँ कि आपकी कौन सी काव्य पुस्तक सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है ? यानी, किस पुस्तक के संस्करण सबसे अधिक हुए हैं ? गुप्त जी सहज भाव से बोले — 'भज्जा, जो कोर्स हो जाते हैं, बाकी तो एडीसन हो जाते हैं, वर्ना वे 'काबा और कर्बला' जैसी ही पड़ी हैं ।'

गुप्त जी सन् '४१ में आगरा की सेंट्रल जेल में थे, तब जीवनसाहित्य में उन पर मैंने एक बहुत महत्वपूर्ण लेख लिखा था— खास तौर से पुलिस की ज्यादती के प्रति अपना क्षोभ तीव्रतर शब्दों में व्यक्त करते हुए । बंगाल के अकाल के दिनों की बात है । मैं लखनऊ रेडियो से दद्दा की पुस्तकें 'नकुल और अनघ' की रिव्यू करने जा रहा था, तो चिरगाँव ठहरा । मेरे पास मिनू मसानी की 'अन्न की कमी' के विषय में छपी कोई अंगरेजी पुस्तिका थी, जो पद्मापब्लिकेशन से छपी थी । गुप्त जी अंगरेजी से अनभिज्ञ हैं । पर पुस्तक का पूरा रसास्वाद लेना चाहते थे । मैंने उसका अनुवाद करके सुनाया । बहुत प्रसन्न हुए । तब ही मैंने जाना कि 'उमर खैयाम' की रूबाइयों का अनुवाद भी गुप्त जी ने फिज्जेराल्ड पढ़कर नहीं, बल्कि मूल फारसी अनुवाद सुनकर उसके सहारे किया था । अंगरेजी से अनभिज्ञ होना उनके हक में एक बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुआ—वे अपनी कविता की श्रेण्य (क्लासिक) वरेण्यता कायम रख सके । उन्होंने 'कार्ल और 'जयिनी, भी लिखी । नवीनतम काव्यगत और राजनैतिक सिद्धांतों से वे अनवगत नहीं रहे, परंतु नेटिविटी कायम रखी । यह रवींद्रनाथ से भी संभव नहीं हुआ, जिन्होंने पुनश्च में अपनी धारा बदल दी, नया मुहावरा पकड़ने की कोशिश की, पर न रवींद्र, न निराला उस नए 'सुररिआलिस्ट' काव्यशैली को पूरी तरह अपना सके उसमें से उनका मूल रूप बार बार उभर आता रहा है । गुप्त जी ने अपनी वेशभूषा की तरह कविता का चोला बदला, पर उसकी स्पिरिट वही कायम रही । भारत भारती से जयभारत तक वही सोद्देश्य आदर्शवाद, वही नैतिकता का आग्रह, वही सूत्रमय मूक्ति भरी शैली । मैंने इस बात की विस्तार से चर्चा (गुप्त जी तब ६० वर्ष के हुए थे, तब) ग्वालियर के जयाजीप्रताप में महाकवि मैथिलीशरण लेख में की थी, जिसका पुनर्मुद्रण मेरे ग्रंथ 'व्यक्ति और वाङ्मय' में हुआ है ।

सन् ४४ की चिरगाँव की भेंट में गुप्त जी क्लीनृशेव्ड हो चुके थे और एक लंबी सी खद्दर की टोपी पहनने लगे थे जेल से छूटने पर उनकी यह आकृति थी, जो अब तक बराबर है ।

मैं सन्' ४८ में उज्जैन की प्रोफेसरी से पिंड छुड़ाकर, आकाशवाणी के प्रयाग संगम में पहुँचा । वहाँ गुप्त जी के दर्शन रसूलाबाद में 'साहित्यकार संसद' के अधिवेशनों में हुए, प्रसाद जयंती के विशेष अवसर पर और अनेक बार उनसे साक्षात्कार हुआ । दिल्ली में सन्' ५१ में आ जाने के बाद, जब से गुप्त जी राष्ट्रपति द्वारा राज्य सभा के मनोनीत सदस्य बनकर आए, उनके निरंतर स्नेह और कृपाशीर्वाद का प्रसाद तो मैं पाता ही रहा हूँ ।

मैथिलीशरण गुप्त ही ऐसे लेखक हैं जिन्हें अहिंदी भाषी सबसे अधिक चाहते और आदर से देखते हैं । नागपुर में सन्' ४७ में एक कल्याणराव मिले, जिन्होंने भारत भारती का समवृत्त अनुवाद मराठी में किया है । सुदूर दक्षिण में त्रिवेंद्रम, कन्याकुमारी, मदुरा, बंगलोर, विजयवाड़ा सब जगह गुप्त जी और उनकी रचनाओं से साहित्य प्रेमी परिचित हैं । अक्टूबर' ५४ में दिल्ली में जो मराठी साहित्य संमेलन हुआ, मूसलाधार वर्षा में भी उद्घाटन प्रसंग पर जो थोड़े से अमराठी साहित्यक उपस्थित थे, उनमें गुप्त जी प्रमुख थे । उनका सब भाषाओं के प्रति स्नेह समान भाववाला है ।

हमारी छोटी बच्ची चार बरस की है । जब गुप्त जी हमारे घर पर आए, तब उन्हें बापू पर लिखी उनकी दो मार्मिक पंक्तियाँ तुतलाकर सुनाने लगी –'हे लाम हम कैसे लोके अपनी लज्जा, उनका छोक । अपने ही हाथों से अपने भेजा लाल पिता पतलोक ।' तब गुप्त जी की भावविभोर सजल बड़ी आँखों का जो भाव हुआ, वह सदा मेरे सामने होता है और लगता है कि हिंदी साहित्य में गांधी युग का उद्गाता यदि कोई एक श्रेष्ठ कवि इतिहास में अमर रहेगा, तो वह है—श्री मैथिलीशरण गुप्त ।



गुप्त साहित्य

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने पद्य और गद्य की भाषा को एक करने का सफल प्रयत्न किया। इसके पहले पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के अनेक साहित्यक महानुभाव विश्वास ही नहीं कर सकते थे कि खड़ी बोली में भी कविता लिखी जा सकती है। बहुत दिनों तक यह विवाद चलता रहा कि खड़ी बोली में कविता लिखी जा सकती है या नहीं। द्विवेदी जी ने दृढ़ता के साथ खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन किया। उनकी प्रेरणा बहुत बलवती सिद्ध हुई। मैथिलीशरण गुप्त, नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, सत्यशरण रतूड़ी, रामचरित उपाध्याय आदि कवियों ने खड़ी बोली में केवल रचना ही नहीं की, यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली कविता की वाहन हो सकती है।

इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त थे। उन्होंने काव्य में खड़ी बोली का बड़ा सफल प्रयोग किया। खड़ी बोली की प्रकृति को वे शुरू में ही पहचान गए थे। कुछ न कुछ संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी वे कविता अवश्य लिखते रहते थे। परंतु उनके सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य 'भारत भारती और 'जयद्रथ वध' हरिगीतिका छंदों में रखे गए थे। इस छंद पर उन्होंने अपनी छाप लगा दी। 'भारत भारती' में प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति कवि की आस्था व्यक्त हुई है। उसमें आर्यसमाज के तत्कालीन आंदोलन का प्रभाव है। फिर भी कवि ने भविष्य के लिये आशा का संदेश दिया है। 'भारत भारती' ने तत्कालीन शिक्षित-जनचित की आशा-आकांक्षा को बुभुक्षित रहने से बचाया। उसने किसी बड़े आदर्श को प्रतिष्ठित तो नहीं किया लेकिन जनचित को उसके प्राचीन गौरव की कहानी सुनाकर सजग और साकांक्षित बनाया; 'भारत भारती' ने उन दिनों विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिंदीभाषी प्रदेश को उद्बुद्ध और प्रेरित करने में इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया। तब से गुप्त जी को लोकचित्त में राष्ट्रप्रीति की भावना जगाने वाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिंदी जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि हैं। 'भारत भारती' सही अर्थों में 'भारत भारती' हो सकी है। परंतु गुप्त जी का कवित्व जयद्रथवध, पंचवटी आदि काव्यों में अधिक व्यक्त हुआ। बाद में उनका यश उनके 'साकेत' नामक महाकाव्य और यशोधरा और द्वापर नामक गीतिकाव्यात्मक प्रबंध काव्यों में अधिक निखरा। इन सब ग्रंथों

में गुप्त जी मर्यादाप्रेमी भारतीय कवि के रूप में ही आए हैं। उनके ग्रंथों के सुपात्र पारिवारिक व्यक्ति हैं। भारतवर्ष के सभी मर्यादाप्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं। गुप्त जी में वह परंपरा पूरी मात्रा में उतरी है। उनके चित्त में परिवार के विच्छिन्न प्रेम की एकांतिक संवेदना जागृत करने वाले भावावेग का बहुत अधिक मूल्य नहीं है। इसलिये वे आधुनिक काल के अत्यधिक लोकप्रिय गीतिकाव्यों की शैली को प्रयत्न करके भी नहीं अपना सके। मानवतावादी दृष्टि उनमें भी है। यही कारण है कि वे तुलसीदास की जाति के होकर भी उसी श्रेणी का भक्तिकाव्य नहीं लिख सके। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं, इस लोक में निबद्ध है। फिर स्वभाव से ही उनको साधकावस्था के चित्रण में रस मिलता है। उनके सभी श्रेष्ठ पात्र उर्मिला, यशोधरा, राधिका, लक्ष्मण साधक हैं। तुलसीदास जी सिद्धावस्था के प्रेमी थे। सब मिलाकर मैथिलीशरण गुप्त ने संपूर्ण भारतीय पारिवारिक वातावरण में उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। उनके काव्य शुरू से अंत तक प्रेरणा देने वाले काव्य हैं। उनमें व्यक्तित्व का स्वतः समुच्छ्रित उच्छ्वास नहीं है, पारिवारिक व्यक्तित्व का और संयत जीवन का विलास है। मैथिलीशरण गुप्त ने लगभग आधी शताब्दी तक हिंदीभाषी जनता को निरंतर प्रेरणा दी है। महाभारत की कथा पर आधारित उनका अंतिम काव्य हाल ही में प्रकाशित हुआ है। वह भी शक्ति और स्फूर्ति देने वाला काव्य है। गुप्त जी ने एक विशाल साहित्य का निर्माण किया है और लगभग आधी शताब्दी तक हिंदी पाठक के चित्त को रसासक्त बनाकर प्रेरणा दी है।

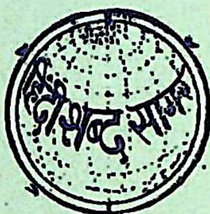




नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

राष्ट्रभाषा के गौरवग्रंथ

११ खंडों में प्रकाशित शब्दसंख्या—२,५०,०००



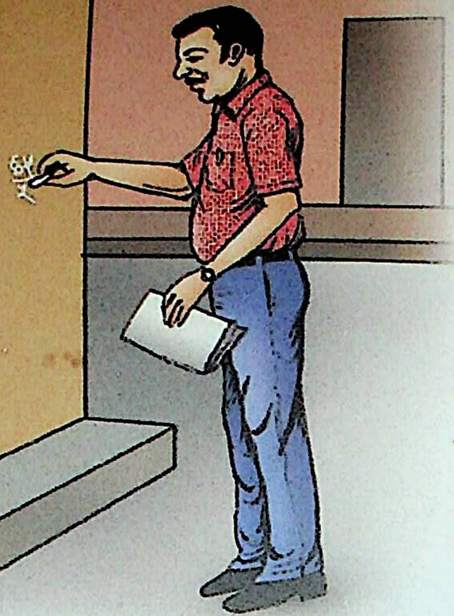
साहित्य के माध्यम से आए शब्दों की विशाल राशि का अद्यतन प्रामाणिक संकलन। व्याकरणनिर्देश, प्रामाणिक व्युत्पत्ति, अर्थसंग्रह, अर्थच्छाया, ग्रंथ की पृष्ठसंख्या के निर्देश के साथ सोदाहरण प्रयोगों से संवलित। पूर्ण शब्दसंख्या अनुमानतः २,५०,००० कें लगभग। मूल्य संपूर्ण खंड ६७८-७५। संपूर्ण खंड प्रकाशित।

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर:—संपा०—श्री रामचंद्र वर्मा मूल्य—१२५-००

इस सर्वाधिक लोकोपयोगी कोश का संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण, जिसमें शब्दसंख्या तथा आकार आदि में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अर्थनिरूपण की प्रामाणिकता एवं विशदता के साथ यथास्थान उदाहरण दिया जाना इस कोश की विशेषता है। हिंदी के अध्येताओं के लिये यह अत्यंत उपयोगी है। शब्दसंख्या साठ हजार।

लघु हिंदी शब्दसागर—संपा०—श्री करुणापति त्रिपाठी

मूल्य—५५-००



प्रगणक को निम्न जानकारी दें

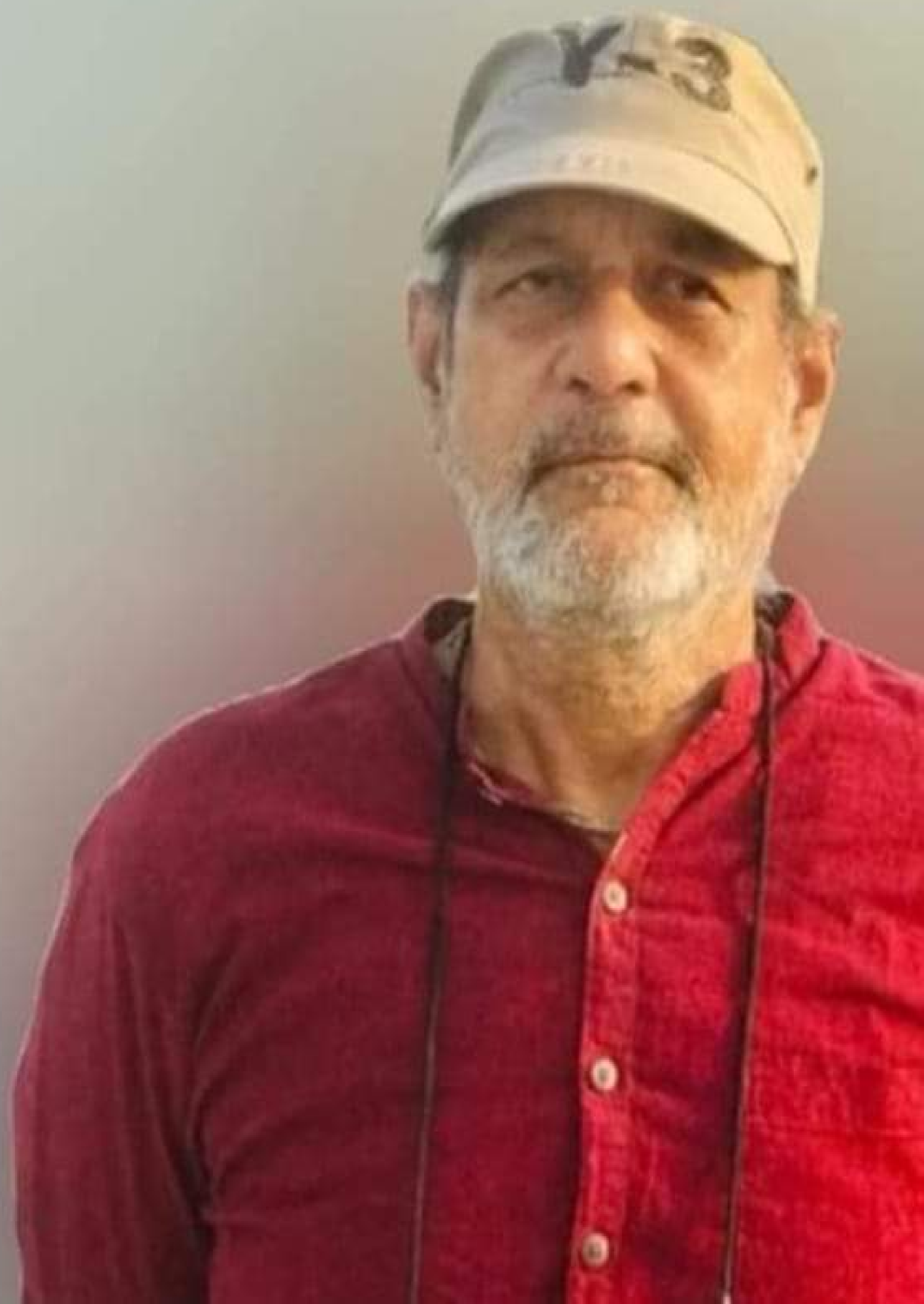
- परिवार के मुखिया का नाम व लिंग
- परिवार में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या
- मकान निर्माण में प्रयोग की गई सामग्री
- मकान के स्वामित्व की स्थिति व कमरों की संख्या
- विवाहित दम्पतियों की संख्या
- रसोई, स्नानगृह व शौचालय की सुविधा
- पेयजल, प्रकाश, ईंधन, गंदे पानी की निकासी की सुविधा
- रेडियो, टेलीविजन, कम्प्यूटर ,टेलीफोन, साइकिल, स्कूटर, मोटर साइकिल, कार, जीप, वैन व बैंकिग सेवा की सुविधा।

जनगणना का है यह संदेश,
होगा सपनो का उत्तर प्रदेश

मकान सूची...
आपके द्वारा दी ग...

राष्ट्रीय जनसंख्या रजि...

S.H.KELLOGG RAMAYANA


Y-3